भारतीय संस्कृति का मुसलमानों पर प्रभाव

मुहम्मद उमर

भारतीय संस्कृति का मुसलमानों पर प्रभाव

मुहम्मद उमर

अपने पी. एच. डी. के लिए शोध प्रबंध के लिए सामग्री एकत्र करने के दौरान हिन्दू, मुस्लिम संस्कृति के बहुत से ऐसे पहलू सामने आए जिनपर अब तक यथेष्ठ कार्य नहीं हुआ था। हिन्दुओं के रीति-रिवाज, सामाजिक स्थिति, रहन-सहन, आचरण पद्धति और विश्वासों का तुलनात्मक अध्ययन किया तो उनके जीवन के बहुत से रूपों में समानता और एकरूपता नजर आई। अतएव हिन्दुस्तानी तहजीब पर मुसलमानों पर असर को अपना शोध विषय बनाकर काम करना शुरू कर दिया। इस सिलसिले में जो सामग्री एकत्र हुई उसे मैंने निबंधों का रूप दे दिया और 'बुरहान' पत्रिका में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई।

मेरा सौभाग्य था कि यह निबंध श्रद्धेय डा. ताराचंद जी की नजर से गुजरे और उन्होंने न सिर्फ इन निबंधों को पसंद किया बल्कि उन्होंने मेरा उत्साहवर्धन किया और इस बात पर जोर दिया कि मैं इस काम को पूर्णता तक पहुंचाऊं और भविष्य में इस विषय पर एक पुस्तक तैयार करूं। वे इस विषय में इतनी रुचि रखते थे कि वे स्वयं इस विषय पर एक पुस्तक लिखना चाहते थे। उन्होंने पुस्तक की भूमिका लिखना भी स्वीकार कर लिया था। जब किताब पूरी हो गई तो मैंने इसे डा. ताराचंद जी की सेवा में प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने इसके प्रकाशन के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को एक पत्र लिखा और उनसे निवेदन किया कि वे इस पुस्तक को केंद्रीय सूचना और प्रसारण मंत्रालय की ओर से प्रकाशित कराने की कृपा करें। उनकी सिफारिश पर यह पुस्तक सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग की ओर से प्रकाशित हो रही है।

-लेखक

(अंतिम आवरण पर जारी)
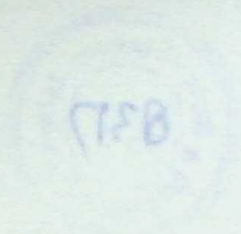
भारतीय संस्कृति का मुसलमानों पर प्रभाव

लेखक
डॉ० मुहम्मद उमर

अनुवाद
डॉ० जानकीप्रसाद शर्मा

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

अग्रहायण 1918 (नवम्बर 1996)

ISBN: 81-230-0316-1

मूल्य : 200 रुपये

निदेशक प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार पटियाला हाउस नई दिल्ली 110001 द्वारा प्रकाशित।

विक्रय केन्द्र • प्रकाशन विभाग

- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001
- कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, मुंबई-400038
- 8 एस्प्लेनेट ईस्ट, कलकत्ता-700069
- राजाजी भवन, बेसेंट नगर, मद्रास-600090
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004
- निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम-695001
- 27/6, राममोहन राय मार्ग, लखनऊ-226001
- राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन्स, हैदराबाद-500001

वीरेन्द्रा प्रिंटर्स, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।

भारतीय संस्कृति का मुसलमानों पर प्रभाव

अर्थात्

मध्यकाल में मुसलमानों और हिंदुओं के रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचरण-पद्धति, विश्वास और आस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन का इतिहास, जिसमें विशेष रूप से भारतीय संस्कृति के उन तत्वों की चर्चा की गई है, जिनसे भारतीय मुसलमान प्रभावित हुए थे और इसी आधार पर हिंदुओं और मुसलमानों में सांस्कृतिक और भावनात्मक एकता पाई जाती है।

डॉ० मुहम्मद उमर
रीडर, इतिहास विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
अलीगढ़ (उ०प्र०)

समर्पण

अपने उस्ताद

प्रोफेसर ख़लीक़ अहमद निज़ामी

के नाम

हासिल-ए-उम्र-ए-निसार-ए-रह-ए-यारे कर्दम
शादम अज़ ज़िंदगी-ए-ख़्वेश कि कारे कर्दम

(मैं अपने जीवन की तमाम उपलब्धियां अपने दोस्त के क़दमों में न्यौछावर करता हूं। मैं इस पर खुश हूं कि मैंने अपने जीवन में कुछ काम तो किया।)

भूमिका

अपने पी.एच.डी के शोध-प्रबंध के लिए सामग्री एकत्र करने के दौरान हिंदू-मुस्लिम संस्कृति के बहुत से ऐसे पहलू सामने आए जिन पर अब तक यथेष्ट कार्य नहीं हुआ था। हिंदुओं के रीति-रिवाज, सामाजिक स्थिति, रहन-सहन, आचरण-पद्धति और विश्वासों का तुलनात्मक अध्ययन किया तो उनके जीवन के बहुत से रूपों में समानता और एकरूपता नज़र आई। अतएव 'हिन्दुस्तानी तहज़ीब का मुसलमानों पर असर' को अपना शोध-विषय बनाकर काम करना शुरू कर दिया। इस सिलसिले में जो सामग्री एकत्र हुई उसे मैंने निबंधों का रूप दे दिया और 'बुरहान' पत्रिका में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ। मेरा सौभाग्य था कि ये निबंध श्रद्धेय डॉ० ताराचंद जी की नज़र से गुज़रे और उन्होंने न सिर्फ इन निबंधों को पसंद किया बल्कि उन्होंने मेरा बड़ा उत्साहवर्धन किया और इस बात पर ज़ोर दिया कि मैं इस काम को पूर्णता तक पहुंचाऊं और भविष्य में इस विषय पर एक पुस्तक तैयार करूं। वे इस विषय में इतनी रूचि रखते थे कि वे स्वयं इस विषय पर लिखना चाहते थे। उन्होंने पुस्तक की भूमिका लिखना भी स्वीकार कर लिया था। जब किताब पूरी हो गई तो मैंने इसे डा. ताराचंद जी की सेवा में प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने इसके प्रकाशन के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को एक पत्र लिखा और उनसे निवेदन किया कि वे इस पुस्तक को केंद्रीय सूचना और प्रसारण मंत्रालय की ओर से प्रकाशित कराने की कृपा करें। उनकी सिफारिश पर यह पुस्तक सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग की ओर से प्रकाशित हो रही है।

मुझे इस बात की खुशी थी कि आदरणीय डॉ० ताराचंद जी इसकी भूमिका लिखेंगे लेकिन किताबत आदि के कामों में विलंब होता रहा और इस दौरान में आदरणीय ताराचंद जी का स्वर्गवास हो गया और उनसे भूमिका लिखवाने की हसरत दिल में ही रह गई। अब मेरे सामने इसके अलावा कोई चारा नहीं है कि मैं उनके द्वारा

लिखी गई उन चंद सतरों को, जो उन्होंने इस पुस्तक के बारे में प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को लिखी थीं भूमिका के रूप में देने का सुख प्राप्त करूं।

''डॉ० मुहम्मद उमर, प्राध्यापक इतिहास विभाग, जामिया कॉलेज, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली का आपसे परिचय कराते हुए मुझे बड़ी खुशी है। मुस्लिम तहज़ीब, धार्मिक विश्वास और सामाजिक रीति-रिवाजों को प्रभावित करने वाले इतिहास के विभिन्न पहलुओं का उन्होंने गहराई से अध्ययन किया है। उन्होंने उन तथ्यों को भी उजागर कर दिया है जिनसे मुसलमानों के जीवन के लगभग हर पहलू में सांस्कृतिक दृष्टि से परिवर्तन उपस्थित हुआ है।

मेरी दृष्टि में डॉ० उमर का यह कार्य मध्यकालीन इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ने की हैसियत रखता है। साथ ही आधुनिक युग के हमारे जीवन के नए रूपों को परखने की दिशा में यह पुस्तक हमारा मार्ग-दर्शन करती है। यदि इस पुस्तक को प्रकाशित कर दिया जाए तो इसके अध्ययन से भारत के अतीत का गौरव और ज़्यादा उजागर हो जाएगा और राष्ट्रीय एकता के काम में इससे बड़ी मदद मिलेगी।

ऐसी बहुत सी भ्रांतियां और उलझनें, जो हमारे मन और मस्तिष्क को परेशान करती हैं और जो हमारे पारस्परिक सौहार्द और भाईचारे के विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती हैं, इस पुस्तक के अध्ययन से दूर हो जाएंगी।

मेरा विचार है कि पारस्परिक सौहार्द, मेल-जोल और राष्ट्र-हित के मार्ग को प्रशस्त करने वाली पुस्तकों के प्रकाशन का काम हमारे सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग के कार्य क्षेत्र में आता है।

डॉ० उमर की यह पुस्तक निस्संदेह एक धैर्यपूर्ण शोध-कार्य का उदाहरण है और इसका मूल्य व महत्व निर्विवाद है। मुझे उम्मीद है कि आप सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग की ओर से इस पुस्तक को प्रकाशित करने की सिफ़ारिश करेंगी।''

-ताराचंद

अनुवादक की ओर से

डा. मुहम्मद उमर की उर्दू पुस्तक 'हिन्दुस्तानी तहजीब का मुसलमानों पर असर' प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित की गई थी। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। इस में संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के शब्द और उद्धरण अनेकशः दिए गए हैं, जिनके हिन्दी समानार्थक शब्दों को खोजने में विशेष कठिनाई आई। जहां कोशों से भी स्पष्ट नहीं हुआ है, वहाँ इन भाषा के विद्वानों से मागदर्शन लिया गया है। 'तसव्वुफ पर भारतीय प्रभाव' अध्याय में वेदांत और पुराण-साहित्य के अनेक संदर्भ दिए है। पाणिनीय अध्येता और संस्कृत कवि डॉ. विशनलाल गौड़ 'व्योमशेखर' (प्राचार्य, अतर्रा कालेज, अतर्रा बांदा) ने इस अध्याय में विशेष सुझाव दिये है। फ़ारसी शेरों का मतलब मैंने डा. तन्वीर अल्वी (प्रोफेसर उर्दू दिल्ली विश्वविद्यालय) से समझा है। पुस्तक में तीन-चार जगह कुरान की आयतों के अंश भी दिए है। मैंने अरबी से हिंदी लिप्यांतरण मुफ्ती मुहम्मद मुकर्रम अहमद साहब (शाही इमाम फतेहपुरी मस्जिद, दिल्ली) के बताए अनुसार दिया है। इन विद्वानों के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

अपने भाषा-ज्ञान और अनुवाद कार्य के अनुभव की सीमाओं में रहते हुए मैंने इस पुस्तक के साथ न्याय करने की पूरी कोशिश की है। उम्मीद है कि यह पुस्तक हिन्दी पाठकों की आशाओं के अनुरूप होगी।

जानकी प्रसाद शर्मा

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

पृष्ठभूमि

हिंदू-मुस्लिम संबंध

इस विषय पर लिखने से पहले यह बात ज़रूरी मालूम होती है कि हम मुस्लिम शासन काल में हिंदू-मुस्लिम संबंधों का विस्तार से जायज़ा लें ताकि मूल विषय पर बातचीत करना आसान हो जाए।

मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारत में अनेक धर्म, जैसे बौद्ध, जैन और वैदिक धर्म प्रचलित थे। इन धर्मों के प्रतिपादनों की शिक्षा में बड़ा विरोध पाया जाता था लेकिन क्योंकि वे जन्म से भारतीय थे इसलिए उनमें प्रकट असामंजस्य की स्थिति पैदा नहीं हुई। हर व्यक्ति को आज़ादी थी कि वह जिस धार्मिक विश्वास को चाहे अपना ले। यही कारण है कि भारत के धार्मिक इतिहास में यूरोप की तुलना में यहां के विभिन्न धर्मों के बीच सांप्रदायिक असामंजस्य, धर्म-प्रचार और आस्थाओं में हिंसा और बल प्रयोग की मिसालें बहुत कम मिलती हैं।

मुसलमानों के भारत में विजेता की हैसियत से आने और आकर यहीं बस जाने से एक नई समस्या खड़ी हो गई, जिसके दो नाजुक पहलू थे। एक तो यह कि मुसलमान दूसरे देशों से आए थे और भारत पर शासन करने के उद्देश्य और निश्चय से आए थे। दूसरा पहलू यह था कि वे अपने साथ एक ऐसा मज़हब भी लाए थे जो पराजित जाति के धर्म से बिल्कुल मेल नहीं रखता था।

शुरू के जमाने में ये दोनों जातियां धार्मिक असंगतियों की बिना पर एक दूसरे को घृणा और संदेह की दृष्टि से देखती थीं। अजनबियों के प्रति हिंदुओं के विद्वेष और इसके कारणों का ज़िक्र करते हुए अलबरूनी ने लिखा है कि पहला कारण तो भाषा का भेद है और दूसरा धर्म के बिल्कुल अलग होने का। धर्म के बारे में वह लिखता है–''हिंदू धर्म हमसे पूरे तौर पर अलग है। न हम किसी ऐसी चीज़ को स्वीकार करते हैं जो उनके यहां मानी जाती है और न वे हमारे यहां की किसी चीज़ को स्वीकार करते हैं। हालांकि ये लोग आपस में एक-दूसरे के साथ धार्मिक टकराव

कम रखते हैं, मतों के खंडन-मंडन तक ही अपने आप को सीमित रखते हैं, एक दूसरे के जान-माल को नुकसान नहीं पहुंचाते लेकिन दूसरों के साथ उनका यह व्यवहार नहीं रहता है।''[1]

विरोध का पांचवां कारण उसने हिंदुओं के अहम्, अभिमान और श्रेष्ठता बोध को ठहराया है। इसके बारे में अलबरूनी का कहना है-''उनका विश्वास है कि मुल्क है तो उनका मुल्क, इंसान हैं तो उनकी क़ौम के लोग, बादशाह हैं तो उनके बादशाह, दीन है तो वहीं जो उनका मज़हब है और इल्म है तो वह जो उनके पास है।''[2]

लेकिन यह स्थिति बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सकती थी। न तो एक ही धर्म के अनुयायी इस देश में रह सकते थे और न यह संभव था कि एक क़ौम दूसरी क़ौम को मौत के घाट उतार देती। एक ही कौम के आदमियों को जान से मार डालना तो कोई मुश्किल काम नहीं है लेकिन धार्मिक अंतरों की बिना पर किसी क़ौम को समूल विनष्ट कर देना, न आज संभव है और न तब ही संभव था। साथ-साथ मुस्लिम अवाम और ख़ास तौर पर दिल्ली के सुल्तान इस सच्चाई को पहचानते थे। वे लोग यह बात ब-खूबी जानते थे कि जनता के सहयोग के बिना हुकूमत नहीं की जा सकती। लिहाज़ा उन्होंने हिंदुओं के प्रति एक विनम्र और धार्मिक उदारतापूर्ण रवैया अपनाया और इस्लाम के प्रचार-प्रसार को अपने आचरण की धुरी नहीं बनाया। इन लोगों में धार्मिक प्रचार-प्रसार का वह उत्साह और आवेश भी ठंडा हो चुका था जो खुल्फ़ा-ए-राशिदीन के ज़माने में मुसलमानों में पाया जाता था।

आरंभिक दौर के धर्म-वेत्ताओं ने इस्लाम के प्रचार को अपना मूल कर्त्तव्य समझा और इस सिलसिले में उन्होंने सुल्तानों और हुकमरानों के तबके से मदद चाही लेकिन सुल्तान अल्ततमश[3] जैसे धार्मिक वृत्ति के मुसलमान ने भी इस मामले में उनका साथ नहीं दिया। उसके एक समझदार मंत्री निज़ामुल मुल्क जुनैदी की बुद्धिमानी से वह समस्या हल हो गई और भारत के इतिहास में फिर यह सवाल कभी सामने नहीं आया। अगर सुल्तान और वज़ीर धार्मिक भावनाओं में बहकर उल्माओं की बातों पर अमल करने लगते तो भारत से मुसलमानों की हुकूमत अगर खत्म न होती तो इसमें कुछ शक नहीं कि इसकी बुनियादें ज़रूर खोखली हो जातीं और इतने लंबे समय तक मुसलमान भारत पर हुकूमत नहीं कर सकते थे। इसके अलावा हिंदुओं के मन में उनके प्रति घृणा, विद्वेष और हेय भावनाएं हमेशा के लिए घर कर जातीं और मुस्लिम शासक उनके सहयोग से वंचित हो जाते।

समय के साथ-साथ हिंदुओं और मुसलमानों में मेल-जोल, एकता और भाई-चारे के संबंध बढ़ने लगे। डॉ० ताराचंद ने लिखा है कि-

''जब जीत का पहला तूफ़ान थम गया और हिंदू व मुसलमान एक पड़ोसी की

तरह रहने लगे तो बहुत दिनों तक साथ-साथ रहने की वजह से एक दूसरे के विचार, व्यवहार और रीति-रिवाजों को समझने की कोशिश की और बहुत जल्द इन दोनों जातियों में एकता पैदा हो गई।''[4]

इन दोनों जातियों में एकता स्थापित करने और इनके बीच की खाई को पाटने में दो बातों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका रही। पहली बात तो यह कि इस्लाम के इस बुनियादी सिद्धांत से प्रभावित होकर कि सृष्टि के सभी मनुष्य आपस में भाई-भाई हैं और ईश्वर की दृष्टि में सब बराबर हैं, हिंदुओं की बड़ी संख्या इस्लाम की ओर आकर्षित हुई। दूसरा कारण यह था कि वैदिक युग से हिंदू समाज वर्ण व्यवस्था को मानता चला आ रहा था यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें से शूद्रों को हर प्रकार के सामाजिक अधिकारों से वंचित रखा गया था। इनका जीवन इन पर बोझ बन चुका था और सदियों से लगाए गए विधि-निषेधों से वे इतने दुखी हो चुके थे कि अब वे उनसे मुक्त होने के लिए बेचैन थे।

दक्षिण भारत में लोक-जागरण शुरू हो चुका था। बल्लभाचार्य,[5] रामानुज[6] और शंकराचार्य[7] ने वैदिक धर्म की न्यूनताओं को बड़ी गहराई के साथ महसूस किया और हिंदू धर्म में सुधार के प्रयत्न शुरू कर दिए। उनका उद्देश्य यह था कि जात-पात के भेद-भाव के बिना हर व्यक्ति को अपने मोक्ष का मार्ग ढूंढने की स्वतंत्रता होनी चाहिए और किसी भी व्यक्ति को सांप्रदायिक भेद-भाव के आधार पर सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित न रखा जाए।

सौभाग्य से जब भारत में वैचारिक आंदोलन उभर रहे थे, उसी समय उत्तर-भारत में विजेता मुस्लिम क़ौम के साथ इस्लाम भी इस धरती पर पहुंचा। भारत के निवासियों ने जब इस्लाम के समतावादी सिद्धांत को व्यवहार के रूप में देखा और 'मेहमूद और अयाज़' दोनों को एक ही पंक्ति में कंधे से कंधा मिलाकर खड़ा पाया तो वे अत्यंत प्रभावित हुए और उन्होंने मुसलमानों के आगमन को सुखद जानकर उनका स्वागत किया। उन्होंने इस्लाम स्वीकार करने को अनुचित सामाजिक बेड़ियों से मुक्ति का पर्याय समझा। संक्षेप में यह है कि बिना किसी हिंसा और अत्याचार, बल प्रयोग और उत्पीड़न के हिंदुओं के गांव के गांव इस्लाम के अनुयायी हो गए और उन्होंने मुसलमानों को भारत में पांव जमाने में बहुत मदद की। भारत में मुसलमानों की सफलता के कारणों पर विचार करते हुए प्रोफेसर मुहम्मद हबीब (स्वर्गीय) ने लिखा है-''रायों (हिंदू राजाओं) ने अपने शासन में भारतीय दस्तकारों और पेशावरों को नगर की सीमाओं के बाहर छोड़ रखा था। जब तुर्कों ने नगरों में प्रवेश किया तो ये निचले वर्ग के पेशावर भी उनके साथ नगरों में आ गए और वे वहां से फिर बाहर नहीं आना चाहते थे।''[8]

उन लोगों के पूर्ण सहयोग के कारण तुर्कों ने मंगोली आक्रमणकारियों का डटकर मुकाबला किया और उनके छक्के छुड़ा दिए क्योंकि नव-मुस्लिमों को इस बात का डर था कि अगर तुर्क भारत से वापस चले गए तो उन्हें फिर उन मुसीबतों में घिर जाना पड़ेगा जिनमें सदियों से वे जकड़े हुए थे और जिनसे कुछ ही दिन पहले उन्होंने मुक्ति पाई थी। इसके विपरीत मुसलमानों को भी एक मुसीबत का सामना करना पड़ता था। अगर शासित जाति और नव-मुस्लिम उनके शत्रु होते तो वे एक ही समय में भीतरी और बाहरी शत्रुओं से मुकाबला करने में अपने आपको बेबस पाते। अगर वे अपना ध्यान बाहरी शत्रुओं की ओर लगाते तो भीतरी तत्व देश में अशांति फैला सकते थे और इस सैलाब में तुर्क एक टूटी हुई कश्ती की तरह बह जाते।

दूसरी बात यह थी कि भारत का धर्म एक ऐसा धर्म था जिसमें अनेक देवताओं की पूजा होती थी। सामान्य जनता को धार्मिक सिद्धांतों का ज्ञान नहीं था और उन्हें केवल धर्म के बाह्य रूपों पर आचरण करने तथा संस्कारों का पालन करने की शिक्षा दी जाती थी। उनके मन और मस्तिष्क में यह बात कूट-कूट कर भर दी गई थी कि यदि धार्मिक संस्कार ब्राह्मण की अनुपस्थिति में संपन्न किए जाएंगे तो उनसे उन्हें कोई पुण्य प्राप्त नहीं होगा और उनको मोक्ष दिलाने वाला ब्राह्मण ही है। उसका पद मनुष्य और भगवान के बीच का है। यही कारण था कि गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी ने वैदिक धर्म का विरोध किया और स्वतंत्र रूप से अपने नए मत का प्रतिपादन किया, जिसमें वैदिक धर्म की न्यूनताएं नहीं थीं और जिसमें हर व्यक्ति को मुक्ति प्राप्त करने के लिए अपने साधनों का प्रयोग करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी।

इस्लाम में सिर्फ एक खुदा की इबादत का विधान था। बाह्य कर्म-कांडों को बिल्कुल स्थान नहीं था। हर एक मुसलमान कुर्आन और सुन्नत के बताए रास्ते पर अमल करता हुआ निजात हासिल कर सकता था। बीच में किसी इंसान की इजरिदारी न थी। इस्लाम के इस सिद्धांत में इतना आकर्षण और प्रभाव था कि बिना किसी हिंसा और अत्याचार के हज़ारों हिंदुओं ने खुद-ब-खुद इस्लाम स्वीकार कर लिया। इसका दूरगामी परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे दोनों क़ौमों की आरंभिक कटुता दूर हो गई और घृणा व भेद-भाव, प्रेम और एकता में बदल गए।

मुस्लिम सूफी और हिंदू साधु-संत

हिंदुओं और मुसलमानों में आत्मीयता और एकता पैदा करने में मुस्लिम सूफियों और हिंदू साधु-संतों ने बहुत महत्वपूर्ण काम किया। भारत में विजेता जाति की हैसियत से मुसलमानों के आगमन से पूर्व मुस्लिम सूफी-संत इस देश में आ चुके थे। इनमें शेख अली-हजवेरी[7] का नाम उल्लेखनीय है। वे लाहौर में आकर रहे और अपने

सद्व्यवहार से इस क्षेत्र के गैर-मुस्लिमों को बहुत प्रभावित किया।[10] गुलाम वंश के शासन काल में समूचे उत्तर भारत में चिश्ती परंपरा के सूफी-संतों की ख़ानकाहें बन चुकीं थीं।[11]

ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती[12] ने अजमेर में जाकर अपना ठिकाना बना लिया और उनके असर से लाखों हिंदुओं ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। प्रोफेसर ख़लीक अहमद निज़ामी ने लिखा है कि ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का भारत आगमन एक भारी आध्यात्मिक और सामाजिक क्रांति का सूचक बना। हज़रत ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने छुआ-छूत के इस भयानक वातावरण में इस्लाम का एकेश्वरवादी दृष्टिकोण तर्क सम्मत रूप से पेश किया और बताया कि यह सिर्फ एक काल्पनिक चीज़ नहीं है बल्कि जीवन का एक ऐसा सिद्धांत है जिसको अपना लेने के बाद जात-पात का सब भेदभाव बेमानी हो जाता है। यह एक व्यापक धार्मिक और सामाजिक क्रांति की घोषणा थी।[13] इस घोषणा से भारत में बसने वाले हज़ारों पीड़ित लोग पुनः जीवन के आनंद की अनुभूति करने लगे और बड़ी संख्या में धर्मांतरण कर मुसलमान बन गए।

ख़्वाजा कुतबुद्दीन बख़्तियार काकी ने दिल्ली को अपना केंद्र बना कर यहां इस्लाम के प्रचार-प्रसार का काम शुरू किया। बाबा फरीदुद्दीन गंजेशकर ने अजोधन में आकर निवास किया। उनकी ख़ानकाह में हिंदू लोग और विशेषकर हिंदू जोगी बड़ी श्रद्धा से उपस्थित होते थे। शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया से ज़िक्र मिलता है कि शेख़ अस्सलाम फरीदुद्दीन गंजेशकर की ख़ानकाह में हिंदू लोग हाज़िर होते थे। हिंदू जोगी बार-बार उनकी दरगाह में आया करते थे और वे लोग उनसे आध्यात्मिक विषयों पर विचार-विमर्श किया करते थे। बाबा फरीद की ख़ानकाह में शेख निज़ामुद्दीन औलिया की दो अवसरों पर हिंदू जोगियों से भेंट हुई थी। बाबा फरीद हिंदुओं से हिंदी भाषा में बातचीत किया करते थे। शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया की ख़ानकाह में हिंदू और मुस्लिम दोनों हाज़िरी दिया करते थे। राजकुमार हरदेव के रोज़नामचे 'निज़ाम बंसरी' में ऐसी बहुत सी मिसालें मिलती हैं। शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया की धार्मिक उदारता की बहुत सी मिसालें इतिहास की पुस्तकों और आलेखों में मिल जाती हैं। कहा जाता है कि एक शाम शेख़ अपनी ख़ानकाह की छत पर चहलकदमी कर रहे थे, उसी समय कुछ हिंदू यमुना के किनारे पूजा करनें में व्यस्त थे। उनके एक मुरीद ने उनका ध्यान उधर आकृष्ट किया। शेख़ की जबान से अनायास यह मिसरा निकला:

'हर क़ौम रास्त राहे दीने व क़िब्ला गाहे'

प्रोफेसर ख़लीक अहमद निज़ामी लिखते हैं: "इस मिसरे में धार्मिक उदारता का एक विलक्षण भाव समाहित है। एक ऐसे दौर में मुसलमानों का राजनीतिक प्रभुत्व अपनी पराकाष्ठा तक पहुंच चुका था, एक धार्मिक मार्गदर्शक का यह स्वाभाविक

कथन धार्मिक उदारता का ही नहीं बल्कि एक ऐसी सोच का आईना भी है जिसने भारतीय संस्कृति के 'जलवा-ए-सदरंग' (सैकड़ों रंग-रूपों) को समझ लिया हो और जो यहां के सांस्कृतिक परिवेश में हर धर्म और हर पूजा स्थल को देखने के लिए तैयार हो।''[14]

यह शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया का प्रभाव ही था कि अमीर ख़ुसरों अपनी धार्मिक सहिष्णुता के कारण इतने लोकप्रिय हुए थे। मसनबी सिहर में अमीर ख़ुसरो ने हिंदू संस्कृति और उसके आचारों के बारे में जो राय व्यक्त की है उससे उस दौर की धार्मिक सहिष्णुता का बखूबी अंदाज़ा होता है।

अमीर खुसरो ने मूर्ति-पूजा में छुपे हुए भाव को समझने की कोशिश की है और कहा है:

ऐ कि ज़ेब ताना ब हिंदो-बरी
हम न रुए आमोज़ परस्तिश गरी

इस्लामी तसव्वुफ (अध्यात्म) के प्रभाव से भारत में एक आध्यात्मिक आंदोलन अस्तित्व में आया और इस देश के कोने-कोने में हिंदू समाज सुधारक और धार्मिक पथ-प्रदर्शक पैदा हुए तथा वैदिक धर्म की न्यूनताओं और विसंगतियों को दूर करने का नारा बुलंद किया। डा. ताराचंद ने लिखा है:

''इस्लाम के प्रभाव से हिंदू जाति में धर्मोपदेशकों का एक समुदाय सामने आया और उन्होंने भी उसी कार्य को अपना मूल लक्ष्य बनाया जो कि मुस्लिम सूफी कर रहे थे। महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, हिंदी क्षेत्र और बंगाल में समाज सुधारकों ने चौदहवीं सदी से ही भारत के प्राचीन धर्म के कुछ नियमों पर आचरण करना छोड़ दिया और कुछ नियमों पर आचरण करने पर बल दिया। इस प्रकार हिंदुओं और मुसलमानों के विश्वासों में एकरूपता पैदा करने की कोशिश की।''

इन समाज सुधारकों में कबीर, गुरु नानक और चैतन्य महाप्रभु के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन भक्तों ने हिंदू एवं मुस्लिम धर्मों की कठोर शब्दों में आलोचना की और सांप्रदायिक विद्वेष की निंदा करते हुए जात-पात के भेद को बुरा बताया और यह घोषणा की कि जो व्यक्ति अपने मन में ईश्वर का ध्यान कर लेगा उसे मोक्ष मिल सकता है। उसके लिए दिखावे के पूजा-पाठ और संस्कारों तथा बाह्मणों की सहायता की कदापि आवश्यकता नहीं है। उन्होंने पवित्र हृदय से ईश्वर की उपासना करने और समस्त मानव जाति के भाई-भाई होने की शिक्षा तथा और इस प्रकार हिंदू व मुसलमानों के बीच धार्मिक एकरूपता पैदा करने में बड़ी हद तक सफलता प्राप्त की। एक ओर मुस्लिम सूफी-संत और शेख़ तथा दूसरी ओर हिंदू भक्तों, समाज सुधारकों और धर्मोपदेशकों के अथक प्रयासों का ही परिणाम था कि अकबर बादशाह

के मन में 'दीन-ए-इलाही' का विचार उत्पन्न हुआ। डा. ताराचंद ने अकबर-युग से पहले के धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों के दूरगामी परिणामों का जायज़ा लेते हुए उनकी पृष्ठभूमि में यह निष्कर्ष निकाला है: ''अकबर का दीन-ए-इलाही एक निरंकुश बादशाह की कोई निजी अवधारणा नहीं थी। वह, जिसके पास असाधारण शक्ति थी, जैसे इतना भी नहीं जानता था कि इसका उपयोग किस रूप में किया जाए। बल्कि दीन-ए-इलाही उन वैचारिक आंदोलनों का अनिवार्य परिणाम था जो भारतीय जनमानस में उथल-पुथल मचाये हुए थे। और कबीर जैसे संतों की वाणी के रूप में जिन्हें अभिव्यक्ति मिल रही थी। इन प्रयासों के मार्ग में परिस्थितियां बाधा उत्पन्न कर रही थीं। लेकिन आज भी यह एक अटल सच्चाई है और नियति इसी मंज़िल की तरफ इशारा कर रही है।''

अकबर बादशाह न खुद को मुसलमानों का नुमायंदा समझता था और न इस्लाम के प्रचार-प्रसार को अपने जीवन का मूल ध्येय स्वीकार करता था। पहले वह एक बादशाह और उसके बाद एक मुसलमान था। वह देशवासियों के बीच व्याप्त धार्मिक भेदभाव को बिल्कुल खत्म करना चाहता था और उन्हें एक ऐसे धर्म का अनुयायी बनाना चाहता था जिसमें सभी धर्मों की अच्छी-अच्छी बातें समाविष्ट हों और बुरी-बातें, जो धार्मिक विद्वेष का कारण बनती हैं, दूर कर दी जाएं। उसने अपने इन विचारों को अमली जामा पहनाने के उद्देश्य से एक घोषणा की: ''एक ऐसा मुल्क जिसका एक बादशाह और हुक्मरां हो, यह बुरी बात मालूम होती है कि उसकी रियाया आपस में बंटी हो और एक दूसरे से विरोध-भाव रखती हो।'' कहने का अभिप्राय यह है कि उसने मुग़ल इलाकों में प्रचलित किस्म-किस्म के कानून और रीति-रिवाजों के अंतर्विरोध की ओर संकेत किया। उनमें से कुछ न सिर्फ एक-दूसरे के ठीक विपरीत थे बल्कि एक-दूसरे के साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार करते थे और आखिर में मालूम हुआ कि जितने धर्म हैं उतने ही विभिन्न संप्रदाय।

घोषणा में स्पष्ट शब्दों में कहा गया था: ''इसलिए हमें चाहिए कि इन सबको एक ही धागे में पिरो दें लेकिन इस अंदाज़ से कि फिर इसमें 'वहदत' और 'कसरत' की प्रवृत्तियां भी बरकरार रहें ताकि उन्हें अपने धर्म की अच्छी बातें पकड़े रहने का लाभ प्राप्त होता रहे और दूसरों में जो अच्छी बातें हों उनको भी अपना लें। इस तरह अल्लाह-ताला की हम्द-ओ-सना (स्तुति एवं प्रशंसा) होगी। लोगों को सुख शांति मिलेगी और देश भी खुशहाल व सुरक्षित रहेगा।''

आईन-ए-रहनमूनी में अबुल फज़ल ने अकबर के दृष्टिकोण को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है: ''किसी दीन-धर्म में कोई विशिष्टता नहीं होती। एक ही रमणीय सौंदर्य है जो विभिन्न रूपों में प्रकट हो रहा है।...हर समुदाय अपनी आस्थाओं को

प्रचारित करता और अपने स्वप्न एवं विचारों में प्रसन्न भाव से लीन दिखाई देता है।...लेकिन इंसान जब अपनी इन प्रवृत्तियों को त्याग देता है और जब उसकी चेतना पर एक ही रंग की सुखद किरणें पड़ती हैं तो उसकी आंखें खुल जाती हैं और उसके मन से दूसरे धर्म के खंडन की भावना जाती रहती है। अगर कोई वेदना से भरा हुआ हृदय इन भावनाओं को विवश होकर अभिव्यक्ति देता है तो अज्ञानी लोग उसे दीवाना कह कर उसके कथन पर विश्वास नहीं करते और दुष्ट लोग उन्हें काफिर और नास्तिक कह कर उनके जीवन का अंत कर देते हैं। लेकिन जब मानव-जाति के भाग्य जागने का समय आता है और ईश्वर की प्रेरणा यह होती है कि समूची सृष्टि सत्य के प्रकाश से आलोकित हो, तब अपने समय के युग-पुरुषों के मन में एकता का भाव जागृत होता है और बादशाह सिर्फ बाहरी हुक्म नहीं चलाता बल्कि भीतरी रहनुमाई भी करता है।

हज़रत के पवित्र हृदय में मार्गदर्शन की भावना जागृत हुई और सत्य के जिज्ञासु बादशाह ने विवश होकर पेशवाई की मंसब को स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही अपने धर्मोपदेशकों का द्वार हर खास व आम व्यक्ति के लिए खोल कर जिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा को शांत करने लगे।[1]

अकबर बादशाह उम्मी था। लेकिन उसकी दूरदर्शिता, राजनीतिक सूझ-बूझ और जागृत विवेक ने वक्त के तकाज़े को अच्छी तरह समझ लिया था और मुग़ल सल्तनत की जड़ों को भारत में मज़बूत करने की उसकी हार्दिक इच्छा ने उसे विवश कर दिया कि वह उन तमाम बातों को दूर करे जो इस लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा बन सकती थीं। और वह इस बात को अच्छी तरह से जानता था कि यदि धार्मिक भेद-भाव बाकी रहा तो उसकी हुकूमत का शीराज़ा एक न एक दिन बिखर जाएगा। इसलिए उसने धार्मिक भेद-भाव को दूर करने की दिशा में विशेष ध्यान दिया। इसके अलावा अकबर को अपने दादा बाबर बादशाह की वसीयत भी याद थी, जो उसने हुमायूं को दी थी: 1. तुम्हें अपने दिमाग़ को मज़हबी तास्सुब से मुतास्सर नहीं होने देना चाहिए। बिना भेद-भाव के इंसाफ़ करना चाहिए और साथ-ही-साथ हरेक तबक़े के लोगों के रीति-रिवाजों का पूरा-पूरा ख़्याल रखना चाहिए। 2. ख़ास तौर पर गो-वध से परहेज़ करना। जो तुम्हें हिंदुस्तान के लोगों पर कब्जा करने में फ़ायदेमंद और मददगार होगी और इस तरह तुम इस सरजमीन के लोगों को शुक्रगुज़ारी के रिश्ते में बांध लोगे। 3. तुम्हें किसी फिरके की इबादतशाहों को मिस्मार और बर्बाद नहीं करना चाहिए और हमेशा इंसाफ पसंद रहना चाहिए ताकि बादशाह और उसकी रियाया के बीच खुशगवार ताल्लुकात

1. देखिए आईन-ए-अकबरी, आईन-74, पृ. 305-307

रहें और जिससे मुल्क में इत्मीनान और अमन का बोल-बाला हो। 4. इस्लाम के प्रचार का काम जुल्म और सख्ती के बजाय मुहब्बत और सुलह से बखूबी चलेगा। 5. अपनी प्रजा की विभिन्न विशेषताओं का इस तरह ध्यान रखो जिस तरह कि एक साल के अलग-अलग मौसमों का ताकि सियासी जिस्म मर्ज़ से बरी हो।

ऐ मेरे बेटे। हिंदुस्तान में अलग-अलग मज़हबों के लोग रहते हैं और खुदा का शुक्र अदा करो कि बादशाहों के बादशाह ने इस मुल्क की हुकूमत तुम्हारे सुपुर्द की है।[15]

यह इन वसीयतों का नतीजा था कि हुमायूं बादशाह ने रानी करुणावती की भेजी हुई राखी स्वीकार की थी। यह संबंध धीरे-धीरे गहरा होता गया। दिल्ली के सुल्तानों की तरह मुग़लों ने भी भारत को अपना वतन और दिल्ली को अपना घर बना लिया था।

अकबर बादशाह ने इस भाई-चारे के संबंध को मज़बूत करने और अपनी हुकूमत को भविष्य की बुनियादों पर क़ायम करने की बाक़ायदा कोशिश शुरू कर दी। अपनी प्रजा की धार्मिक और सामाजिक भिन्नताओं को नज़र अंदाज़ करके उसने सभी देशवासियों के लिए सरकारी नौकरी का दरवाजा खोल दिया और विभिन्न धर्मावलंबियों को एकता और सौहार्द के सूत्र में बांध कर भारत के धार्मिक और राजनीतिक आंदोलन में एक नया अध्याय जोड़ा। अभी तक इस आंदोलन का नेतृत्व मुस्लिम सूफी व शेखों और हिंदू साधु-संतों के हाथों में था। लेकिन अकबर बादशाह के शासनकाल से युगीन बादशाह ने भी इसे अपना मूल ध्येय बना लिया। यह आंदोलन बहुत तेज़ी के साथ आगे बढ़ा और इसमें नए उत्साह का संचार हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि बहादुर शाह ज़फ़र के युग तक पहुंचते-पहुंचते हिंदुस्तान के मुग़लों और दूसरे मुसलमानों की रगों में ईरान और तूरान से ज्यादा हिंदुस्तानी खून जोश मार रहा था और वे यहां की स्थानीय संस्कृति के रंग में पूरी तरह रंगे जा चुके थे।

अकबर बादशाह ने उन तमाम पाबंदियों को खत्म कर दिया जो धार्मिक भिन्नताओं की बिना पर हिंदुओं को कुछ नागरिक अधिकारों से वंचित कर सकती थीं। मसलन जज़िया माफ़ कर दिया गया। नए मंदिरों का निर्माण कराने और बिना किसी रोक-टोक के अपने धार्मिक अनुष्ठान संपन्न करने की अनुमति दे दी गई। इस प्रकार भारतीय प्रजा को एक नागरिक के सभी अधिकार प्रदान कर दिए। हिंदू घरानों से वैवाहिक संबंध स्थापित करके दोनों धार्मिक समुदायों में एक-दूसरे के धर्म और संस्कृति के आचार-विचारों का सम्मान करने की भावना पैदा की। इसके साथ ही उस दीवार को, जिसने शासक और शासित जाति के बीच अलगाव पैदा कर दिया था, ढहा

दिया। महल की हिंदू रानियों और उनकी दासियों को अपने धार्मिक कर्मकांड संपन्न करने की पूरी स्वतंत्रता दी गई। अब महल में अज़ान और शंख की आवाजें साथ-साथ बुलंद होने लगीं। अब न तो शंख की आवाज़ बुरी मालूम होती थी और न ही अज़ान की आवाज़ नागवार।

अकबर बादशाह ने इसी मंसूबे के तहत हिंदुओं के त्यौहारों में दिलचस्पी लेनी शुरू की और इन त्यौहारों को राष्ट्रीय त्यौहार की हैसियत देने के उद्देश्य से दरबार में बड़ी धूम-धाम से इनको मनाया जाने लगा। इसी भावना से प्रभावित होकर हिंदुओं ने अकबर बादशाह को एक सम्माननीय व्यक्तित्व का रूप दे दिया और उनमें एक ऐसा समुदाय पैदा हो गया जो अकबर के दर्शन के बिना न तो खाना खाता था और न ही अपना कोई काम शुरू करता था। उसकी मृत्यु के बाद भी प्रजा ने उसके उत्तराधिकारियों के साथ ऐसे ही संबंध रखे। 'झरोखा दर्शन' की रस्म इसकी गवाह है।

अकबर के उत्तराधिकारियों ने उसकी धार्मिक सहिष्णुता की पॉलिसी पर अमल करने की पूरी कोशिश की। बर्नियर का कथन है: "यह उनकी पॉलिसी का मुख्य अंग है कि अपने देश की मूर्तिपूजक प्रजा को अपनी धार्मिक आस्थाओं पर आचरण करने की पूरी स्वतंत्रता दी जाए।"[16]

अकबर बादशाह ने मुसलमानों को हिंदुओं के धर्म-ग्रंथ पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया और संस्कृत के महत्वपूर्ण ग्रंथों, जैसे अथर्ववेद, महाभारत, रामायण आदि के फ़ारसी अनुवाद करने का आदेश दिया। इससे मुसलमानों को हिंदू धर्म की मूल आत्मा को समझने में बड़ी मदद मिली। यह सिलसिला मुग़ल काल में बराबर जारी रहा।

औरंगजेब पर आम तौर पर धार्मिक कट्टरवादी होने का आरोप लगाया जाता है। हालांकि उसने अपनी ग़ैर मुस्लिम प्रजा के साथ हमेशा धार्मिक सहिष्णुता का बरताव किया था। उसके युग में हिंदू बदस्तूर उच्च पदों पर आसीन थे। उन पर उसे पूरा-पूरा विश्वास था। उसने सवाई राजा जयसिंह के हाथ शिवाजी को संधि का प्रस्ताव भेजा था। पुराने मंदिरों की मरम्मत कराने की आम इजाज़त थी। औरंगज़ेब ने बनारस के गवर्नर के नाम एक फर्मान जारी किया था जिससे उसकी धार्मिक उदारता का अंदाज़ा बख़ूबी हो सकता है:

"कई लोग गुमराही के रास्ते पर चलकर क़स्बा बनारस और उसके आस-पड़ोस के कुछ मकानों में रहने वाले हिंदुओं के साथ अत्याचारपूर्ण व्यवहार करते हैं और उस क्षेत्र के मंदिरों के सेवक और पुजारी ब्राह्मणों की गतिविधियों में रोड़े अटकाते हैं। जबकि इन सेवकों और पुजारियों का इन देवालयों से बहुत पुराना संबंध चला आ रहा है। वे लोग चाहते हैं कि इन्हें देवालयों की सेवा के कार्य से वंचित कर दें, जो सेवा यह पुरोहित वर्ग एक लंबे समय से करता चला आ रहा है। इस कटुतापूर्ण व्यवहार

के कारण यह वर्ग काफी परेशान हो गया है। लिहाज़ा यह हुक्म दिया जाता है कि इस नेक फ़र्मान के पहुंचने के बाद यह बात सुनिश्चित कर दी जाए कि कोई भी आदमी इस क्षेत्र के बसने वाले ब्राह्मणों और हिन्दुओं की दुख-तकलीफ़ का कारण नहीं बनेगा ताकि वे लोग प्राचीन विधि-विधान के अनुसार अपनी जगहों और ओहदों पर रहकर माबदौलत की मज़हबी ज़िदंगी के लिए दुआएं करें और हम्द-ए-इलाही[17] में मशगूल रहें। इस बारे में पूरी ताकीद की जाती है। ब-तारीख़ शहर जमा दी-उल-सानिया, 1059 हिजरी में यह फ़र्मान लिखा गया।''

इस फ़र्मान से मालूम होता है कि औरंगज़ेब अपनी हिंदू प्रजा के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करता था। लेकिन धार्मिक पक्षपात करने वाले संकीर्ण इतिहासकारों ने औरंगज़ेब को एक कट्र बादशाह के रूप में पेश किया है। हालांकि धार्मिक पक्षपात की ऐनक उतार कर देखा जाए तो सच्चाई कुछ और ही मिलेगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसने इस्लामी समाज की ख़राबियों को दूर करने की कोशिश की, जो एक बादशाह की हैसियत से उसका फर्ज़ भी था। वक़्त के बादशाह का फर्ज सिर्फ हुकूमत करना, युद्ध करना, लगान वसूल करना ही नहीं था बल्कि वह समाज के नैतिक सुधार और धार्मिक मतों के हित की रक्षा की गारंटी भी करता है। जब हज़रत उमर के ज़माने में अरबों ने अज्म को जीत लिया और मुसलमान वहां की सासानी तहज़ीब से प्रभावित होने लगे तो हज़रत उमर ने उन्हें कठोर निर्देश दिया कि वे अरबी तहज़ीब को न छोड़ें और उसी पर कायम रहें।

''हजरत उमर फारूक के जमाने में जब अरब लोग ज़िहाद करने के उद्देश्य से अज्म में फैल गए तो हजरत उमर फारूक को इस बात की आशंका हुई कि कहीं ऐसा न हो कि मुसलमान अरबों की वेशभूषा त्याग दें और अज्मों का लिबास पहन लें और इसी तरह अरबों की रस्में छोड़ बैठें..लिहाजा उन्होंने लिखा कि तुम लोग तहबंद बांधा करो। चादर ओढ़ा करो, जूते पहना करो, मोजे छोड़ दो और सलवारें न पहना करो। अपने दादा इस्माईल का लिबास पहनो, अज्मों के नाज-नखरों से बचते रहो, धूप में बैठा करो क्योंकि सूरज अरब का हमाम है और मांद क़ौम (आन हजरत के पूर्वज) पर कायम रहो, मोटा कपड़ा पहनो, संघर्ष की जिंदगी गुजारो। पुराने कपड़े पहनो, ऊंटों को खाया करो। घोड़ों पर उछल कर सवार हुआ करो और तीरंदाजी करो।''

दारा शिकोह ने हिंदुओं के बारे में अकबर की नीतियों को जारी रखा और हिंदू-मुसलमानों में दृष्टिकोण संबंधी एकता पैदा करने के सक्रिय प्रयास किए।

मुल्लाशाह बदख्शी (निधन 1658 ई) की मुरीदी स्वीकार करने के बाद दारा शिकोह के आध्यात्मिक सोच में एक नया परिवर्तन आया। अब तक उसकी मति और रुचि सूफियों तक सीमित थी। मुल्लाशाह और तौहीद (ईश्वर को एक मानना)

अनुयायी दूसरे शेखों का तरीका दारा शिकोह ने अख्तियार किया था। उनके सिद्धांतों और हिंदू वेदांत दर्शन में कोई आधारभूत अंतर नहीं था। ईश्वर की एक सत्ता से धर्म की एक सत्ता तक पहुंचने का मार्ग कोई कठिन नहीं था। अतएव दारा शिकोह ने दूसरे धर्मों, विशेष रूप से हिंदू वेदांत में छानबीन शुरू कर दी, जिसका परिणाम उसकी 'मज्जाउलबहरीन' कृति है।

यह पुस्तक मुसलमान सूफियों और हिंदू योगियों की आस्थाओं का संग्रह है और दारा शिकोह ने इस पुस्तक में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि तसव्वुफ और योग के विचारों में बहुत अनुकूलता है। इस पुस्तक की रचना पर दारा शिकोह को काफ़िर और मृत्युदंड का पात्र घोषित किया गया था।

अब दारा शिकोह ने वेदांतियों और हिंदू धर्मवेत्ताओं के विचारों को फारसी भाषा में अनुदित करने के प्रयास शुरू कर दिए। इस सिलसिले में दारा शिकोह के मुंखी चंद्रभान बिरहमन ने 'मकालमा-ए-दारा शिकोह बाबा लाल' शीर्षक से एक छोटी पुस्तक लिखी जिसमें दारा शिकोह के प्रश्न और बाबा लाल के उत्तर सम्मिलित हैं। इसके साथ-साथ दारा शिकोह के आग्रह पर 'योगवासिष्ट' का सरल फारसी भाषा में अनुवाद हुआ। इन दोनों पुस्तकों से भी महत्वपूर्ण पुस्तक 'सिर्रे-अकबर' है। इसकी भूमिका में दारा शिकोह ने बनारस के पंडितों की सहायता से उपनिषदों के लगभग पचास अध्यायों का फारसी में अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त कहा जाता है कि दारा शिकोह ने 'भागवत् गीता' का भी फारसी में अनुवाद किया था।

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में हिंदू-मुस्लिम संबंध

मौजूदा दौर के कुछ इतिहासकारों ने तनाव पैदा करने के उद्देश्य से यह साबित करने का प्रयास किया है कि औरंगजेब ने अकबर बादशाह की हिंदुओं के बारे में उदारता की नीति को अनदेखा करके अपनी हिंदू प्रजा के साथ धार्मिक पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया था और हिंदुओं को धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता से वंचित करके उनके आपसी संबंधों में तनाव के बीज बो दिए थे। यह विचार स्पष्ट रूप से ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत है, जैसा कि हम आगे चलकर विस्तार से बताएंगे।

प्रोफेसर खलीक अहमद निजामी का यह मत तर्कसम्मत प्रतीत होता है कि: "हिंदू मुस्लिम संबंधों के बीच तनाव ब्रिटिश युग से शुरू होते हैं। फूट डालो और राज करो कि नीति पर अंग्रेजी साम्राज्य अमल कर रहा था और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हिंदुओं और मुसलमानों में तरह-तरह के भेद-भाव पैदा किए गए थे। सर हेनरी इलियट ने भारत के इतिहास की रगों में इस जहर को पहुंचाया। हमारी इतिहास दृष्टि

को उसने प्रदूषित कर दिया है। यदि आज इसके खिलाफ कोई बात कही जाती है तो इसे लोग संदेह और आश्चर्य के साथ सुनते हैं।''

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने से भी यह सच्चाई सामने आ जाती है कि भारत में अंग्रेजी राज के कायम होने से पहले मुसलमानों और हिंदुओं के मधुर संबंध थे और भावनात्मक एकता अपने चरम बिंदु पर पहुंच चुकी थी। उनके जीवन के हर क्षेत्र में आत्मीयता, एकता, समता और भाईचारे की भावना दिखाई देती है। दोनों के सामाजिक आदर्शों में समझौते का भाव पाया जाता है और दो विभिन्न धार्मिक आस्थाओं में एक ऐसा मेल-जोल नजर आता है जो विगत शताब्दियों की स्वस्थ और पवित्र परंपराओं का एक मिलाजुला नतीजा था।

हिंदुओं और मुसलमानों में एकता और समता पैदा करने के प्रयासों का परिणाम एक समन्वित संस्कृति के रूप में दिखाई दिया जो न तो विशुद्ध मुस्लिम संस्कृति थी और न उसे विशुद्ध हिंदू संस्कृति ही कहा जा सकता है बल्कि यह मिली-जुली हिंदू-मुस्लिम संस्कृति थी। दोनों जातियों के जीवन के हर क्षेत्र में यह संस्कृति बहुत गहरे में प्रवेश कर गई थी। हिंदू और मुसलमान कवियों और लेखकों के लिखने और कहने का ढंग एक जैसा ही था। हिंदू रचनाकार अपनी कृतियों को उसी ढंग से शुरू करते थे जिस तरह मुसलमान।

साहित्यिक अभिरुचि

हिंदू और मुसलमान दोनों की साहित्यिक अभिरुचियां एक जैसी थीं। संस्कृत और फारसी का अध्ययन हिंदू और मुस्लिम दोनों करते थे। उर्दू शायरों के वृत्तांतों में ऐसे मुसलमानों का जिक्र मिलता है जो संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार रखते थे। मिर्जा अमानी के साथ 'मुसहफी' ने लिखा है, ''दरइल्म हिंद यान यानि संस्कृत खौज बिस्यारे कुर्दा''। 'गुलशन-ए-बेखारे' में मिर्जा मुहम्मद इस्माइल तपिश के बारे में लिखा है कि उन्हें कुल मिलाकर संस्कृत में अच्छी खासी महारत हासिल थी।

जब फारसी का ज्ञान सरकारी नौकरी पाने के लिए अनिवार्य कर दिया गया तो हिंदुओं ने थोड़े ही अर्से में इस भाषा पर अधिकार प्राप्त कर लिया। मुगल काल में फारसी जानने वाले हिंदू विद्वानों की कमी नहीं थी। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में विशेष रूप से हिंदू रचनाकारों ने फारसी की हर विधा में सृजन किया है। इस युग के हिंदू इतिहासकारों में हरचरनदास, जगजीवनदास, शिव प्रसाद, शिवदास लखनवी, लाला रामराय, चतरमन कायस्त, आनंदराम मुखलिस और कुंवर प्रेमकिशोर फराकी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आनंदराम मुखलिस (निधन 1751 ई.) और टेकचंद बहार को फारसी भाषा पर इतनी *कुदरत* हासिल थी कि इन दोनों ने क्रमशः 'मरात-

उल-इस्तिलाह' और 'बहार-ए-अज्म' के नाम से फारसी में कोशों का निर्माण किया।

दोनों के यहां एक जैसी साहित्यिक गोष्ठियां आयोजित होती थीं। हिंदू, फारसी और उर्दू, जिस भाषा के निर्माण में उनका बराबर का हिस्सा था, दोनों जबानों में शेर कहते थे। वे लोग मुशायरों का आयोजन करते और मुस्लिम शायरों को शिरकत के लिए आमंत्रित करते थे। इसी तरह मुसलमान शायर भी अपने यहां मुशायरे आयोजित करते और हिंदू शायरों को बुलाते, उनका कलाम सुनते और दिल खोलकर दाद देते थे। सोच और अभिव्यक्ति के ढंग में इस हद तक एकरूपता पाई जाती थी कि अगर हिंदू और मुसलमान शायरों के कलाम में से उनके तखल्लुस निकाल दिए जाते तो यह अंतर करना मुश्किल था कि कौन-सा शेर हिंदू की कलम और सोच से निकला था और कौन मुसलगान की कलम का था।

नवाब अमीनुदौला मुईन-उल-मुल्क नासिर जंग बहादुर उर्फ मीरजा 'मेंदू' के दरबार में उन शायरों ने पनाह ली थी जिन्होंने दरिद्रता से तंग आकर दिल्ली को छोड़ दिया था। चर्चित नवाब अपने यहां अक्सर मुशायरे करते और दरबारी शायरों के अलावा गैर दरबारी नामवर हिंदू व मुस्लिम शायरों को भी आमंत्रित करते तथा इन लोगों की पूरी आवभगत करते थे। रमजान के महीने में अगर कभी मुशायरा होता तो हिंदू शायरों का शीरीनी और स्वादिष्ट मिठाइयों से सत्कार किया जाता था।

इस अवसर पर यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तर भारत के तमाम हिंदू शायर मुस्लिम शायरों के शागिर्द थे। मिर्जा फ़ाख़िर मर्की के अनुसार मुसहफी ने लिखा है:

'शागिर्दान बिस्यार अज हनोद दाश्त'

अतएव लाला बाल मुकंद 'हुजूर', ख्वाजा मीर दर्द के व पंडित अयोध्या प्रसाद 'हैरत', कलंदर बख्श 'जुरअत' के शर्गिद थे। शायरों के वृत्तांतों में ऐसी सैकड़ों मिसालें मिलती हैं। इसी तरह बहुत से मुसलमानों ने हिंदू उस्तादों की खिदमत में रहकर शायरी का अभ्यास किया। मीर हसन देहलवी ने राय सरबसुख 'दीवाना' के बारे में लिखा है कि-उस्ताद रेख्ता गोयान लखनऊ अर्थात् वे रेख्ता (उर्दू) में शेर कहने वालों के उस्ताद थे।

लखनऊ के शेख मुगल फ़नी नामक एक अदीब फारसी गद्य लेखन के मुकाबले का एक जलसा आयोजित किया करते थे। शुरू के दौर में सिर्फ हिंदू-फारसी गद्य लेखक इसमें शरीक होते थे।

शैक्षिक संस्थाएं

हिंदू और मुसलमान बच्चों की शिक्षा के लिए अलग-अलग संस्थाएं नहीं थीं

बल्कि दोनों सम्प्रदायों के बच्चे एक ही पंक्ति में बैठ कर ज्ञानार्जन करते थे। इनके बीच धर्म, जाति या सामाजिक दृष्टि से कोई विभेद नहीं था। आनंद राम 'मुखलिस' ने अपनी आरंभिक अरबी-फारसी शिक्षा एक इस्लामिया मदरसे में प्राप्त की थी और उसने अपने एक सहपाठी मियां महमूद माह का बार-बार जिक्र किया है। मक्तबों के अलावा हिंदू अपनी ज्ञान संबंधी जिज्ञासा शांत करने के लिए मुसलमान अदीबों, मुअल्लिमों और उल्मा की सेवा में उनके निवास पर उपस्थित हुआ करते थे। मुसहफी ने लिखा है कि लाला चिरंजी लाल ने उनकी खिदमत में रह कर छह साल तक विद्या अध्ययन किया था। संपन्न और संभ्रांत हिंदू घराने अपने बच्चों को अरबी-फारसी की शिक्षा दिलाने के लिए मुसलमान मौलवियों को मुलाजिम रखते थे।

हिंदू धर्म के बारे में मुसलमानों की राय

लंबे समय तक साथ-साथ रहने का नतीजा यह हुआ कि मुसलमानों ने हिंदू धर्म को ज्ञान-शारी का गहन अवलोकन किया और इसके बारे में अपनी राय को बड़े सम्मान के साथ व्यक्त किया। जैसा कि लिखा जा चुका है कि दारा शिकोह ने '*मज्मा-उल-बहरीन*' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हिंदू धर्म और इस्लाम परस्पर दो विरोधी धर्म नहीं हैं बल्कि उनका मूल स्रोत एक ही है। दो भिन्न धाराएं अलग-अलग प्रवाहित होती दिखाई देती हैं। लेकिन अंततोगत्वा ये दोनों धाराएं एक बिंदु पर पहुंच कर एक दूसरे में लीन हो जाती हैं। दारा शिकोह ने लिखा है: ''बड़ी वेदना के साथ फकीर, मुहम्मद दारा शिकोह कहता है कि हकीकतों की हकीकत को जानने के बाद और सूफियों के धार्मिक आदर्शों की बारीकियों को समझने के बाद तथा इस अंतिम सत्य को प्राप्त कर लेने के बाद मुझे भारत के धार्मिक विचारकों के सिद्धांतों को जानने-समझने की जिज्ञासा हुई। भारत के विद्वानों के साथ निरंतर विचार-विमर्श और उनके सतसंग के बाद जिन्होंने धार्मिक विषयों में पूर्णता प्राप्त कर ली थी, धर्म की आत्मा तक जिनकी पहुंच हो गई थी और ईश्वर की सत्ता का रहस्य जान लिया था, मुझे (दारा शिकोह) शाब्दिक अंतर के अलावा सत्य से साक्षात्कार के उनके मार्ग में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई दिया। इसलिए दोनों वादियों के विचारों को संगृहीत करके और दोनों के नुक्तों को एकत्र करके, एक सत्य के जिज्ञासु के लिए जिनकी जानकारी बहुत जरूरी और उपयोगी है, मैंने एक पुस्तक की रचना की और इसका नाम 'मज्मा-उल-बहरीन' रखा, क्योंकि ये दोनों सम्प्रदायों के ब्रह्म ज्ञानियों के विचारों का सार-संग्रह है।''

संक्षेप में यह है कि फारसी में 'महाभारत', 'भागवत्‌गीता' और दूसरे संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद होने और मुसलमानों को हिंदू विद्वानों और पंडितों के विचारों से

अवगत होने का जो अवसर मिला, शेख मुहम्मद इकराम के शब्दों में इसका मिला-जुला परिणाम यह हुआ कि: ''हिंदू वेदांती यह देखने लगे कि मौलाना रूम की मसनबी और इस्लामी तसव्वुफ की पुस्तकों में कई ऐसी बातें हैं जिन्हें वे अपना कह सकते हैं और कई मुसलमान भी समझने लगे हैं कि हिंदुओं में केवल मूर्ति पूजक और अवतारवाद को मानने वाले लोग ही नहीं बल्कि पवित्र विचारों वाले निस्पृह और सांसारिक विषयों से उदासीन लोग भी हैं।''

जहांगीर की भांति शाहजहां हिंदू योगियों और संन्यासियों के प्रति आदर भाव नहीं रखता था लेकिन उसके शासन काल में वे परंपराएं एकदम समाप्त नहीं हुई थीं और उसके शासनकाल के अंतिम दिनों में दारा शिकोह की भागीदारी से इन परंपराओं को बड़ा बल मिला था। मुसलमानों में दारा शिकोह, मुल्ला शाह बदख्शी, सरमद शहीद और मुहसिन फानी के अलावा दूसरे कई उन्मुक्त विचारों वाले आध्यात्मिक संतों की संगति करता था और वे दारा शिकोह की सभा के सम्मानित सदस्य थे। उनके अलावा दूसरे कई ऐसे मुसलमान थे जो हिंदू साधुओं और योगियों की आध्यात्मिकता से बहुत प्रभावित थे और उनसे मिलकर सुख की अनुभूति करते थे। 'दबिस्तान-ए-मजाहिब' के लेखक ने एक ज्ञानी योगी के बारे में मुल्ला शैदा की राय को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है-''मुल्ला शैदा-ए-हिंदी, जो कि मशहूर शायरों में और उस दौर के विद्वानों में से था, एक दिन इन पंक्तियों के लेखक के साथ ज्ञानी 'जीना' के मकान पर गया और उसके साथ सतसंग किया। उसके शिष्यों और उसके घर में रहने वालों की आत्मीयता से बेहद खुश हुआ और कहा-मेरी तमाम उम्र ज्ञानी लोगों की सेवा में बीती है लेकिन मेरी आंखों ने इस स्तर का आजाद इंसान न देखा और न ही मेरे कानों ने इस कोटि के किसी उन्मुक्त व्यक्ति के बारे में सुना।''

उन्मुक्त विचारशीलता और दारा शिकोह द्वारा बनाए गए माहौल का यह नतीजा हुआ कि मुसलमानों पर वैरागियों और योगियों के विश्वासों का बहुत गहरा असर पड़ा और उन्होंने उनकी शिष्यता ग्रहण कर ली। अब्दुल गनी बेग 'कुबूल' कश्मीरी मुहम्मदशाह के दौर में हुआ है। उसके बारे में वृत्तांतकारों ने लिखा है कि वह स्वयं को किसी हिंदू का मुरीद कहता था। 'दबिस्तान-ए-मजाहिब' में लिखा है कि: ''हिंदुओं और मुसलमानों में से जो कोई भी उनके मजहब में आना चाहता है, वह उसे कुबूल कर लेते हैं और इन्कार नहीं करते। उनका कहना है कि मुसलमान भी बिशन (विष्णु) की उपासना करते हैं क्योंकि बिस्मिल्लाह के यही मानी है, यानी बिशन को बिस्मिल्लाह भी कहा जाता है।''

जो मुसलमान वैरागियों में शामिल हुए थे, वे सिर्फ अशिक्षित वर्ग से नहीं थे बल्कि उनमें कई शिक्षित और संभ्रांत वर्ग के लोग भी थे। 'दबिस्तान-ए-मजाहिब' में

लिखा है: "बहुत से मुसलमान इनके मजहब में दाखिल हो गए हैं। मसलन मीरजा सालेह और मीरजा हैदर, जो मुसलमान शरीफजादे हैं, वैरागी हो गए हैं।"

हिंदू योगियों की सेवा में औरंगजेब जैसा कठोर आस्थावान मुसलमान भी श्रद्धा के साथ उपस्थित होता था। 'रिक्आत-ए-आलमगिरी' में एक योगी के साथ भेंट का उल्लेख मिलता है।

'दबिस्तान-ए-मजाहिब' में यह लिखा है कि आरिफ सुबहानी नामक दरवेश मस्जिद और मंदिर दोनों में बराबर श्रद्धा रखते थे और मंदिर में हिंदुओं के विधि-विधान के अनुसार पूजा-अर्चना करते थे और मस्जिद में मुसलमानों की तरह नमाज भी पढ़ते थे। आगे लिखा है-"वे न किसी दीन और रीति-रिवाज की बुराई करते हैं और न एक मजहब को दूसरे पर तरजीह देते हैं। उनकी तबीयत में धार्मिक भेद-भाव भी नहीं है। वे ईश्वर की एक सत्ता के मार्ग के अनुयायी हैं–

दहर चे बनजर ओ दर आयद ओ रा
वजूद मुत्लख शिमर दो गरामी मी दारद

आज के भारत में भी मुसलमानों में मदारिया और जलालिया दो ऐसे फिरके पाए जाते हैं जिनके आचरण और विश्वासों पर संन्यासियों और योगियों का गहरा प्रभाव लक्षित होता है।

दूसरी ओर हिंदुओं में भी इस अध्यात्म चेतना और समन्वय के भाव को समुन्नत करने वाले कई चिन्तक थे। चंद्रभान बिरहमन उनमें से एक था जो दारा शिकोह का मुंशी था और फारसी में पहला साहिबे-दीवान हिंदू शायर था। दारा शिकोह की मृत्यु के बाद उसके कर्मचारीगण औरंगजेब के दरबार से जुड़ गए। बिरहमन ने भी यही रास्ता अपनाया और अंतिम समय तक उसका मुलाजिम रहा। उसने औरंगजेब की प्रशंसा में बड़े पुरजोर शेर कहे। बिरहमन की एक सूफियाना मसनबी 'मजमूआ-ए-रिसायल' में लखनऊ से 1877 ई. में प्रकाशित हो चुकी है। 'नाजुक खयालात' नाम से उसकी दूसरी पुस्तक है जो कि शंकराचार्य की कृति 'आत्मा विलास' का अनुवाद है। यह पुस्तक 1901 ई. में लाहौर से छप चुकी है।

उस जमाने में भूपत राय नाम का एक शायर था। 'बेगम' तखल्लुस और बैरागी लकब था। शायरी में मुहम्मद अफजल 'सरखुश' का शगिर्द था और बाद में उन्होंने बिंदराबन दास 'खुशगो' की शिष्यता ग्रहण कर ली। साधना मार्ग की दृष्टि से शेखों के शेख मुहम्मद सादिक और नारायन दास 'बैरागी' का अनुयायी था। उसका संबंध खत्री जाति से था। उसके पूर्वज सरकार जौन (जो पंजाब में थी) के कानूनगो थे। जब उसके मन में भक्तिभाव उत्पन्न हुआ तो उसने मिथ्या संसार को छोड़ दिया।

'खुशगो' का कथन है कि 'बेगम' अनेक पुस्तकों का रचयिता था। उसने एक

मसनबी की सूरत में भारत के फकीरों की कथाएं लिखी थीं। उसके फारसी कुल्लियात में पांच हजार शेर थे। उनमें एक गजल का दीवान और रूबाइयों के अतिरिक्त शेष मसनबियां हैं।[18] उसका निधन 1132 हिजरी तदनुसार 1719-20 ईसवी में हुआ था।[19]''

'बेगम' के व्यक्तित्व के बारे में शेख मुहम्मद इकराम ने लिखा है कि, ''नारायन बैरागी और मुहम्मद सादिक के दो प्रकार के उपदेशों से उसका हृदय मज्मा-उल-बहरीन (समुद्र-संगम) बन गया था। अतएव इसकी मसनबी में साफ तौर पर दो धाराएं मिलती हैं, जिनको यदि ध्यान से देखा जाए तो इनमें इस्लामी और हिंदू अध्यात्म का रंग अलग-अलग नजर आएगा।[20]

'बेगम' की इस रूबाई में वहदत-उल-वजूद (ईश्वर को एक मानने का भाव) का दर्शन विद्यमान है:

> दरिया दर मौज ओ मौज अंदर दरियास्त
> दरजात ओ सफात हक तफावत ज कुजाअस्त
> ई महवे हकीकत नजत अफगन बा मजाज
> बेरंग बा सदरंग जहां जलवा नुमास्त।[21]

हिंदू और मुसलमानों के आध्यात्मिक समन्वय का यह प्रयास सिर्फ फारसी भाषा तक ही सीमित नहीं था बल्कि दारा शिकोह के हिंदू मित्रों ने इसे संस्कृत की रचनाओं में भी अभिव्यक्ति दी। अतएव इसी जमाने में 'मज्मा उल बहरीन' का 'समुद्र संगम' नाम से संस्कृत अनुवाद हुआ और तसव्वुफ की कई अन्य पुस्तकों का भी संस्कृत भाषा में अनुवाद किया गया।[22]

दारा शिकोह की हत्या के बाद हिंदू-मुस्लिम एकता और सांस्कृतिक समन्वय का यह आंदोलन खत्म नहीं हुआ। अलबत्ता उसकी गति धीमी पड़ गई क्योंकि अपने जीवन में ही उसे अपने उन्मुक्त चिंतन और सर्वधर्म समभाव के कारण विरोधियों का मुकाबला करना पड़ा था। उल्माओं और विद्वानों की एक बड़ी जमात इस आंदोलन को असफल बनाने की भरपूर कोशिश कर रही थी। वह जमात तसव्वुफ में गैर-इस्लामी तत्वों को देखना पसंद न करती थी। दारा शिकोह ने कई उल्मा (धर्म गुरुओं) के साथ अपने मतभेद का स्वयं उल्लेख किया है। वह 'सिर्रे-अकबर' की भूमिका में लिखता है:

''उस हिंदुस्तान में तौहीद के बारे में बहुत बातचीत होती है और भौतिक व अध्यात्मिक उल्मा (धर्म गुरु) तथा भारत के ये समुदाय ईश्वर की सत्ता को एक मानने से इनकार नहीं करते बल्कि उसमें विश्वास रखते हैं। इसके विपरीत इस समय के मूढ़ मती लोगों ने तौहीद के बारे में हर प्रकार की बातचीत से विमुख होने का आचरण किया है। और वे लोग खुदा के रास्ते के रहजन की हैसियत रखते हैं हालांकि कुर्आन शरीफ और हवीसें बातचीत की अनुमति देती हैं। ये वे लोग हैं जो अपने आप को

उल्मा कहते हैं और खुदा को जानने वालों और धर्म के रक्षकों से बहस मुबाहिसा करने और उनका उत्पीड़न करने, उन पर कुफ्र आयत करने पर उतारु हैं।''

इस बात से असहमति व्यक्त नहीं की जा सकती कि दारा शिकोह की हत्या और औरंगजेब की तख़्तनशीनी से इस आंदोलन को बड़ा धक्का पहुंचा। किंतु यह भी एक सच्चाई है कि यह आंदोलन बेजान नहीं हुआ। और इसकी आत्मा बराबर सक्रिय रही। योगियों और बैरागियों का बराबर असर बना रहा। मुहम्मद शाह (निधन 1748ई) सूफियों और बैरागियों का सतसंग करता था और उनकी शिक्षाओं में पूरी रुचि लेता था। अंत में वह शिवनारायण की परम्परा के एक योगी स्वामी नारायण सिंह का मुरीद हो गया था। स्वामी नारायण सिंह एक ब्रह्म की सत्ता के उपासक थे और हर संप्रदाय के लोगों को शिष्य बना लेते थे। अठारहवीं शताब्दी में कई दरवेशों के धर्मोपदेशों में योगियों का प्रभाव लक्षित होता है। सैयद अब्दुल अली 'उजलत' ने दाढ़ी और भौंहें मुंडवा कर योगियों का वेश धारण कर लिया था। भगवानदास मेहंदी ने मिर्जा गरामी के बारे में लिखा है: ''उन्होंने व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण अपना लिया था। उनकी बाहरी वेशभूषा सूफियों और शेखों की भांति थी लेकिन भारत के संन्यासियों की भांति जीवन बिताते थे। दाढी और भौंहों को तिलांजलि दे दी और हर धर्म व सम्प्रदाय के लोगों से बड़े उत्साह के साथ मिलते-जुलते थे।''

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य में इस आध्यात्मिक समता और एकरूपता के प्रबल भाव दृष्टिगत होते हैं और हिंदू व मुसलमान इस एकता और समन्वय के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। इन गतिविधियों ने अब एक जन-आंदोलन का रूप ले लिया था। इस सिलसिले में मिर्जा मजहर जान जानां की कृति 'मक्तूब चहक दह्म' को ध्यान से पढ़ने की जरूरत है। इस कृति में मुसलमानों की धार्मिक सहिष्णुता और धार्मिक निष्पक्षता का जिस रूप में जिक्र किया गया है, इसे देखकर कहा जा सकता है कि यह दारा शिकोह की विचारधारा का ही विकास है।

मिर्जा मजहर से प्रश्न किया गया कि क्या हिंदुस्तान के काफिर अरब के मुश्रिकों की तरह अपना बेअसल दीन रखते हैं या इस दीन की कोई असत्ता थी और अब खारिज हो गई है? दीगर इन लोगों के बुजुर्गों के हक में कैसा बर्ताव रखना चाहिए। मिर्जा मजहर ने उत्तर में कहा, ''यह ध्यान में रहे कि भारत की प्राचीन पुस्तकों से जो कुछ मालूम होता है वह यह है कि धरती पर मानव के जन्म के आरंभ में उसे आचार-व्यवहार सिखाने के लिए ईश्वर ने एक फरिश्ता (देवता) ब्रह्मा के माध्यम से 'वेद' को उतारा, जिसके चार अंग हैं। ब्रह्मा को सृष्टि का रचयिता भी कहा जाता है। इन चार वेदों में भूत, वर्तमान और भविष्य की घटनाओं का वर्णन मिलता है। उस युग में ऋषियों ने इस वेद से छह आचार-संहिताएं बनाईं। इन्हें धर्म शास्त्र कहते हैं। इसी

प्रकार ऋषियों ने चार वर्गों की व्यवस्था की। हर वर्ग की आचरण पद्धति निर्धारित की। कार्य के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का निर्माण किया गया। इसे कर्मशास्त्र कहा गया अर्थात फन-ए-अम्लियात जिसे इल्म-ए-फिक्हा कहते हैं। ये लोग वेदोक्त आदेश के अलावा और कुछ नहीं मानते लेकिन समय के साथ-साथ परिवर्तन की प्रक्रिया भी चलती रहती है। इसलिए इन लोगों ने काल को चार युगों में बांटा और हर युग की विशेषताएं उन्होंने चार वर्णों से ग्रहण की हैं। इसके बाद परवर्ती चिंतकों ने जो अवधारणाएं प्रस्तुत की हैं, वे विश्वसनीय नहीं हैं। इनके सभी संप्रदाय ईश्वर की एकसत्ता के विषय को लेकर सहमत हैं। जगत को ब्रह्म स्वीकार करते हैं। संसार की नाशवानता, पाप-पुण्य और कर्म फल में विश्वास रखते हैं। इनके पास सद् असद् का विवेक और दिव्य-दृष्टि है तथा ब्रह्म ज्ञान तक अपनी पहुंच रखते हैं। इनकी मूर्ति पूजा का कारण शिर्क[23] नहीं, बल्कि इसके कारण दूसरे हैं।

''इनके धर्मशास्त्रियों ने मनुष्य की आयु को चार भागों में बांटकर देखा है। इसे आश्रम कहा जाता है। ब्रह्मचर्य विद्यार्जन के लिए, गृहस्थ सांसारिकता के लिए, तीसरा वानप्रस्थ धर्म और संस्कृति के चिंतन के लिए और चौथा संन्यास एकांत में उपासना के लिए है। यह आश्रम मनुष्य का सर्वोच्च पद है। मोक्ष का संबंध इसी से है। उनके धर्म के आचार-विचारों में एक उच्च कोटि की व्यवस्था है। जिससे मालूम होता है कि यह धर्म एक नियम और अनुशासन के तहत विकसित हुआ था लेकिन फिर अपने मूल से कट गया। हमारी शरअ[24] में यहूद और नसारी के दीन को खारिज करने के सिवा किसी और दीन को खारिज करने का जिक्र नहीं है। हालांकि इनके अतिरिक्त बहुत से दीन खारिज कर दिए गए और कई दीनों का संसार से अस्तित्व मिट गया। निम्नलिखित आयतों में स्पष्ट रूप से कहा है कि:

व इम् मिन उम्मतिन इल्ला खला फी हा नजीर
अर्थात् हर एक समुदाय का नबी गुजरा है।
व लि कुल्लि उम्मतिन रसूलुन
अर्थात् हर एक उम्मत का रसूल होता है।

''भारत की धरती पर भी रसूल भेजे गए। पुस्तकों में इसका वर्णन मिलता है। उनके क्रियाकलापों से जाहिर होता है कि उन्होंने चमत्कारी पुरुष के लिए किसी तरह की कमी नहीं बरती, उसे सब कुछ दिया। समय के अंतिम पैगम्बर सललल्लाह अलेह वसल्लम के आगमन से पहले हर एक जाति में अपने युग का पैगम्बर होता रहा है, जिसके द्वारा बताए मार्ग पर चलना उस जाति के लोगों के लिए अनिवार्य होता था और दूसरी कौम के नबी से उन्हें कोई सरोकार नहीं था। लेकिन जब से हमारे खातिम उल मरसलीन सललल्लाह अलेह वसल्लम भेजे गए हैं तब से लेकर जब तक दुनिया

बाकी है कोई और नबी न होगा। "कससना अलैक व मिन हुअ मल्लम नक्सुस अलैक" (अर्थात इनमें से बाज का हाल तुम्हारे रू-ब-रू बयान किया और बाज का नहीं।)

"जब हमारी शरियत बहुत से अंबिया के विषय में मौन है तो हमको भी हिंदुस्तान के अंबियाओं (अवतारों) के विषय में मौन ही रहना चाहिए। बेहतर है न हमें उनके धर्म के प्रतिपादकों के बताए मार्ग पर ईमान लाना वाजिब है और न उनके मोक्ष संबंधी सिद्धांत में विश्वास रखना जरूरी है लेकिन यदि धार्मिक पक्षपात न हो तो नेक गुमान जरूर करना चाहिए। अहल-ए-फारस बल्कि अतीत की सभी उम्मतों, जो अंतिम पैगम्बर के आगमन से पहले गुजर चुकी हैं और जिनके विषय में शरअ में कुछ बयान नहीं किया गया तथा जिनके आचार-विचार समान और मिलते जुलते हैं, उन पर इस किस्म का विश्वास रखना बेहतर है। किसी को बिना किसी उचित तर्क के काफिर नहीं कह देना चाहिए। इनकी (भारतीयों की) मूर्ति पूजा की सच्चाई यह है कि कई फरिश्ते (अवतार) जो ईश्वर के आदेश से लोक में प्रतिष्ठा पा लेते हैं, कई तत्व चिंतकों की आत्मा जो शरीर से मुक्त होकर उच्च पद प्राप्त कर लेती है या कुछ जीवित व्यक्ति जो अपने 'अहं' में हजरत खिज्र अलेह अस्सलाम की भांति अनंत काल तक अपना अस्तित्व बनाए रखेंगे-ये भारतीय लोग उन फरिश्तों की मूर्तियां या चित्र बनाकर उनकी पूजा करते हैं और ध्यान करते हैं। इस ध्यान के जरिए एक समय के बाद वे ईश्वर से निकटता बना लेते हैं और इस प्रकार अपने जीवन की आध्यात्मिक जरूरत को पूरा करते हैं। उनका यह आचरण इस्लामी सूफियों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, जिसे 'राब्ता' कहा जाता है और जिसमें शेख की सूरत की कल्पना की जाती है, जिससे आत्मिक सुख की प्राप्ति होती है। अंतर केवल इतना है कि सूफी लोग शेख की बाह्य आकृति की कल्पना नहीं करते। लेकिन यह बात अरब के काफिरों के विश्वास से समानता नहीं रखती क्योंकि वे मूर्ति को चमत्कारी और सर्वसत्तावान मानते हैं। उसे ईश्वर के चमत्कार का निमित्त नहीं मानते बल्कि जमीन का खुदा मानते थे और अल्लाह ताला को आसमान का खुदा। मगर यह शिरक है। इन (भारतीय) लोगों को सजदा-ए-अबूदियत[25] नहीं बल्कि सजदा-ए-तहियत[26] है। जोकि उनके तरीके में मां-बाप, पीर और उस्ताद के सलाम के लिए भी आम है, जिसे दंडवत् कहते हैं। तनासुख[27] पर यकीन रखने से कुफ्र लाजिम नहीं आता, वस्सलाम।[28]"

मिर्जा मजहर जान जानां के इस पत्र के अनुसार ऐसा महसूस होता है कि यद्यपि दारा शिकोह का इस दुनिया से अस्तित्व मिट चुका था लेकिन उसकी आत्मा अब भी सक्रिय थी और मिर्जा मजहर के विचारों में दारा शिकोह के विचारों की अनुगूंज सुनाई

देती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मिर्जा मज़हर ने दारा शिकोह की रचना 'सिर्रे-अकबर' का अध्ययन किया होगा क्योंकि उनकी सोच और अभिव्यक्ति का ढंग वही है जिसकी ओर दारा शिकोह ने 'सिर्रे अकबर' की भूमिका में संकेत किया है। यदि मिर्जा मजहर के इस पत्र को दारा शिकोह के नाम से जोड़ दिया जाए तो किसी को इस बात का गुमान भी नहीं हो सकता कि यह पत्र किसी अन्य लेखक का भी हो सकता है। मिर्जा मजहर ने कुछ बुनियादी प्रश्नों का बड़ी गम्भीरता और स्पष्टता के साथ अधिकारपूर्वक विवेचन किया है। उन्होंने तसब्बुर-ए-शेख के फलसफे और मूर्तिपूजा में समानता महसूस की है और मूर्ति के सामने सजदे को सजदा-ए-अबूदियत के बजाए सजदा-ए-तहियत साबित किया है।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि मिर्जा मजहर के मतानुसार पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास रखने वालों को काफिर नहीं कहा जा सकता।

मिर्जा मजहर के अलावा दूसरे बहुत से प्रबुद्ध मुसलमानों की दृष्टि में मूर्ति पूजा को उपेक्षणीय नहीं समझा जाता था। उस दौर के साहित्य में हम मूर्तिपूजा की निंदा का भाव नहीं पाते क्योंकि वे लोग बाह्य कर्मकांडों और संस्कारों को ज्यादा अहमियत नहीं देते थे बल्कि इन कर्मकांडों के मूल में निहित भावनाओं का आदर करते थे।

'जोशश' ने बुत परस्ती को हक परस्ती का मर्तबा दिया है:

चश्म-ए-वहदत से गर कोई देखे
बुत परस्ती भी हक परस्ती है

वाकिफ लाहौरी ने हर जाति व धर्म के लोगों के साथ बिना किसी धार्मिक भेद-भाव के मिलने-जुलने और उनके सत्संग से लाभान्वित होने का आग्रह किया है:

नैक सुहबत हर कौम चशीदन दारद
जौक पैदा कुन ओ गबरू मुसलमान बनशीं

कुफ्र और इस्लाम से मुताल्लिफ चंद शेर और देखिए:

कोई तस्बीह और जुन्नार[29] के झगड़े में मत बोलो
ये दोनों एक हैं आपस में इनके बीच रिश्ता है

-तज्किरा-ए-गुलशन-ए-हिंद, पृष्ठ 55

देर-ओ-काबा पर ही क्या मौकूफ शेख और बरहमन
कौन सी जां है जहां जलवा नहीं अल्लाह का

-तज्किरा-ए-गुलशन-ए-हिंद, पृष्ठ-237

कुफ्र-ओ-इस्लाम की न कर तकरार
दोनों यकसां हैं चश्म-ए-बीना में

-जोशश

वफादारी बशर्ते उस्तवारी असल ईमा है
मरे बुतखाने में तो काबे में गाड़ो बरहमन को

-गालिब

धार्मिक भिन्नताओं के विषय में मिर्जा सदरउद्दीन इरफहानी ने लाला मुक्ता प्रसाद से कहा:

''जनाब वाला को यह बात मालूम है कि मेरा मजहब सूफियाना है। मुझे यह नहीं मालूम कि हिंदू में क्या बुराई है और मुसलमान में क्या अच्छाई। दोनों खुदा के बंदे और आरिफ के नूर-ए-चश्म हैं। दुनिया से गुजरना पानी पर बुलबुले के समान है। आखिरकार सबको उसी खुदाताला के पास वापस जाना है। लिहाजा उम्र जैद से बेहतर है या जैद उम्र से,[30] यह झगड़ा भाइयों के दरम्यान नहीं उठाना चाहिए।''

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के सूफी संत और मुसलमान हिंदुओं के देवताओं का बड़ा आदर करते थे और विशेष रूप से राम और कृष्ण को अंबिया का दर्जा देते थे। मिर्जा अब्दुल कादिर 'बेदिल' ने अपनी एक नज्म में रामचंद्रजी को श्रद्धांजलि अर्पित की है। नजीर अकबराबादी ने अपनी नज्मों में कृष्ण भगवान और शिवजी की भक्ति के गीत गाए हैं। कन्हैया जी की रास, बलदेव जी का मेला, जन्म कन्हैया जी का, बालपन बांसुरी बजैया का बांसुरी लहो व लाब कन्हैया, कन्हैया जी की शादी, महादेव जी का ब्याह, बयान श्री कृष्ण व नरसी अवतार, दुर्गा जी के दर्शन, भैरों की तारीफ और दशम कथा आदि नज्में इसके उदाहरण हैं। नजीर अकबरावादी ने सिखों के पथ-प्रदर्शक गुरु नानक की भी स्तुति की है। उनकी शिक्षाओं और उपदेशों की एक कामिल फकीर की हैसियत से बड़ी तारीफ की है

किसी मुसलमान ने शाह अब्दुल अजीज से हिंदुओं के स्रष्टा का नाम पता किया तो उन्होंने उत्तर में कहा, ''अलख और परमेश्वर। और दूसरा कोई नाम इसकी विशेषताओं के अनुरूप हो सकता है।'' इसके बाद उस व्यक्ति ने पूछा, ''क्या हम उपर्युक्त नामों से अल्लाह को मुखातिब कर सकते हैं? शाह साहब ने कहा, ''इसमें कोई नुकसान नहीं है।''

राजा छत्रसाल इस्लाम और उसके प्रवर्तक आन हजरत सल्लल्लाहे-अलेह वसल्लम के प्रति गहन श्रद्धा रखता था। वह कुर्आन शरीफ का उतना ही सम्मान करता था जितना कि वेद और पुराणों का। उसके दरबार में एक तरफ ऊंची चौकी पर पुराण और दूसरी तरफ कुर्आन रखी रहती थी। जिस तरफ कुर्आन रखा जाता था उस तरफ उल्मा तथा दूसरी तरफ ब्राह्मण बैठते थे और उसकी मौजूदगी में धार्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ हुआ करता था। इस प्रकार वह दोनों धर्मों की शिक्षाओं से लाभान्वित होता

था। विशेषत: तौहीद के विषय पर विचार-विमर्श होता था। अपनी रचनाओं में छत्रसाल ने हजरत मुहम्मद साहब की बड़ी प्रशंसा की है। उसके मुसलमान दरबारी राजा की मौजूदगी में "या मुहम्मद रसूल अल्लाह" की पुकार लगाते थे और कभी-कभी राजा भी उनके साथ चर्चा में शरीक हो जाया करता था और बुलंद आवाज के साथ इन शब्दों को दोहराता था।

शीतल दास 'मुख्तार' के मन में हजरत अली और उनकी संतान के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। उसने शाह-ए-नजफ (हजरत अली) को खिराजे-अकीदत पेश की है।

भगवान दास 'हिंदी' भी हजरत मुहम्मद में आस्था रखता था। उसने सैयद खैरात अली की फर्मायश पर 'सवानह-उल-नबूत' लिखी थी जिसमें हजरत मुहम्मद और बारह इमामों के जीवन-वृत्त का वर्णन किया गया है। 'कसीदा मुश्किल-ए-आसान' में भगवान दास ने आन हजरत कठिनाइयां दूर करने की प्रार्थना की है।

उसने बारह इमामों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। 'कसीदा शोल बार दर मन्कबत हैदर कर्रार साहब जुल्फिकार अलेह अस्सलाम' में उसने हजरत अली की तेग की प्रशंसा की है। बाल मुकंद 'शुहूद' इस्लाम के एकेश्वरवादी दर्शन में आस्था रखता था और उस पर आचरण भी करता था। इसीलिए उसने अपना 'शुहूद' (साक्षीगण) तखल्लुस रखा था। शायरी में सिराजुद्दीन खां 'आरजू' का शागिर्द था और उनसे अपनी रचनाओं का संशोधन कराता था।

धार्मिक विभेद के बारे में दुर्गा दास का यह मत उल्लेखनीय है:

"सभी धर्मों और मार्गों का मंतव्य एक ही परम सत्ता है जो सारी सृष्टि का निर्माण करने वाली है और वर्ग एवं समुदाय की पालनहार है। यह उस सत्ता का कौशल है कि उसने हर धर्म के लिए उसके अनुरूप एक विधि-विधान निश्चित कर दिया है और हरेक के लिए विशेष प्रकार के नियम बनाए हैं। जिस तरह दुनिया के बागों में तरह-तरह के वृक्षों और रंग-बिरंगे फूलों की शोभा होती है उसी तरह उसने विभिन्न धर्मों और मार्गों के माध्यम से मनुष्य के हृदय में अपनी विद्यमानता प्रदर्शित की है। अगर मस्जिद है तो उसकी याद में अजान दी जाती है, अगर देवालय है तो उसकी याद में शंख बजाया जाता है।

"मेरी समझ में नहीं आता कि यह कुफ्र और दीन का झगड़ा क्या है? सच्चाई तो यह है कि एक ही चिराग से काबा व बुतखाना दोनों रोशन हैं। इस हालत में मनुष्य को चाहिए कि वह अपने हृदय की कालिमा दूर कर दे और हर धर्म और संप्रदाय के लोगों के साथ भाइयों का-सा बर्ताव करे। भेद-भाव के कांटों भरे स्थान से अपने-आपको दूर करके एकता के स्वर्गोद्यान में निवास करे। जैसा कि कहा गया है: "आ सायश-ए-दो गेती तफ्सीर ई दो हर्फ अस्त बादोस्तान तलत्तुफ बाद समनान मदारा" अर्थात् दोनों

लोकों का सुख इन दो हर्फों पर निर्भर करता है कि दोस्तों के साथ मेहरबानी और दुश्मनों के साथ अपनापन। और जब किसी धार्मिक पूजा-स्थल पर पहुंचे तो उसका आदर करे और जब किसी धर्म के वयोवृद्ध व्यक्ति की सेवा में जाए तो उसके आदर-सम्मान में कोई कमी न रखे, धार्मिक मामलों में किसी से अनावश्यक जिरह न करे और इन व्यर्थ के झगड़ों से संबंध जोड़कर परायेपन को पैदा न करें।''

उस जमाने के हिंदू शायरों के कलाम में एक व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण मिलता है और धार्मिक भेद-भाव से उदासीनता की प्रवृत्ति दिखाई देती है। उदाहरण के लिए:

वही इक रेस्मा है जिसको हम तुम तार कहते हैं
कहीं तस्बीह का रिश्ता कहीं जुन्नार कहते हैं
अगर जलवा नहीं है कुफ्र का इस्लाम में जाहिर
सुलेमानी के खत को देख क्यूं जुन्नार कहते हैं
नहीं मालूम क्या हिकमत है शेख इस आफरीनिश[31]
हमें ऐसा खराबाती किया, तुजको मुनाजाती[32]

सूफी संत और हिंदू

सूफी संत बिना किसी धार्मिक पक्षपात और भेद-भाव के हिंदुओं को अध्यात्म की शिक्षा प्रदान करते थे और उन्हें मुरीद भी कर लिया करते थे। उन सूफियों के सद्गुणों, सदाश्यता और सदव्यवहार से प्रभावित होकर बहुत से हिंदुओं ने इस्लाम कुबूल कर लिया था। लेकिन उनमें से कुछ ऐसे लोग थे जो अपने सगे-संबंधियों के भय के कारण इस बात का ऐलान नहीं करते थे। बल्कि दिल से मुसलमान हो चुके थे। जैसा कि कुंवर प्रेम किशोर 'फराकी' के पिता के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने कुदरत उल्लाह कासिम को इस बात की सूचना दी थी कि वे दिल से मुसलमान हो चुके हैं। सूफी संत किसी गैर मुस्लिम को इस बात के लिए विवश नहीं करते थे कि वह मुरीद बनने से पहले इस्लाम धर्म को स्वीकार करे।

शाह कलीम उल्लाह देहलवी ने एक पत्र में अपने खलीफा निजामुद्दीन औरंगाबादी को लिखा था:

''भैया दया राम और दूसरे बहुत-से हिंदू इस्लाम के दायरे में आ गए हैं लेकिन इस बात को वे अपने कुटुंब के लोगों के सामने जाहिर नहीं करते। मेरे भाई, इस बात की सावधानी बरतो कि धीरे-धीरे यह सशक्त भाव अंतरात्मा से ही प्रस्फुटित हो।''

एक दूसरे पत्र से मालूम होता है कि दया राम का इस्लामी नाम फैज उल्लाह रखा गया था। यह नाम शाह कलीम उल्लाह ने रखा था।

आम तौर पर बहुत-से हिंदू शाह अब्दुल रज्जाक 'बांसवी' के श्रद्धालु थे लेकिन

परसराम के अलावा एक महिला ने उनसे विधिवत दीक्षा ली थी। शाह साहब ने बड़े स्नेह के साथ उसे आध्यात्मिक शिक्षा दी थी। इसका असर यह हुआ कि रमजान के महीने में वह महिला अपने माता-पिता के घर से शाह साहब की खानकाह में चली जाती थी और पूरा महीना रोजा रखती और इबादत करती थी। वह एतिकाफ[33] में भी बैठा करती थी।

हजरत शाह अल मुहम्मद बिन शाह बरकत उल्लाह के कई हिंदू मुरीद थे। उनमें से जैन वैरागी किशनदास और शामी 'सामी' के नाम उल्लेखनीय हैं। शाह साहब के समाज सुधार के प्रयासों का परिणाम यह हुआ कि न सिर्फ बहुत-से हिंदू इस्लाम के अनुयायी हो गए बल्कि मजहबी कामों में भी आगे-आगे रहने लगे। मीर हम्जा का यह कथन द्रष्टव्य है-"हरेक शहर, हर घर और हर कूचे में खुदा का नाम लेने और इस बात की जुस्तजू करने के अलावा औरतों और मर्दों को कोई काम न था। हिंदू और साहूकार लोग अपने मकानों पर उर्स के जलसे आयोजित करते थे और मेल-जोल से आनंद की अनुभूति करते थे।"

कहा जाता है कि एक नवाब आसिफुद्दौला का नायब हैदरबेग जानलेवा बीमारी का शिकार हो गया था। ऐसी नाजुक हालत में राजा टेकचंद ने, जो हैदर बेग से आत्मीयता अनुभव करता था और उसे मौत के मुंह से बचाना चाहता था, शाह नूर उल्लाह की सेवा में एक मेहता नामक व्यक्ति भेज कर उसके जीवन के लिए दुआ करने की प्रार्थना की थी। राजा नूर उल्लाह के प्रति बड़ी आस्था रखता था। देशनाथ सिंह ख्वाजा मीर 'दर्द' के श्रद्धालुओं में से थे। मियां हिदायत उल्लाह मीर 'दर्द' के शागिर्द थे और उनसे धार्मिक शिक्षा प्राप्त किए हुए थे। उदासीन जीवन व्यतीत करते थे। किसी का भेजा हुआ उपहार स्वीकार नहीं करते थे किंतु लाला सबदाराय "पेशकार खालिसा" आपकी सेवा में जो भी नजराना भेजा करता था, मियां हिदायतुल्ला कृपापूर्वक उसे स्वीकार कर लेते थे। इसी प्रकार एक हिंदू, शाह वली उल्लाह के पिता शाह अब्दुर्रहीम की उपदेश की सभाओं में हाजिर हुआ करता था।

सूफी संतों के मजारों पर हिंदू भी बड़ी श्रद्धा के साथ जाया करते थे और यह परंपरा अब तक चल रही है। वे लोग शिष्टाचार को निभाने में मुसलमानों से भी बाजी ले जाने की कोशिश करते थे। दरगाह कुली खान का बयान है:

"मुसलमान और हिंदू दोनों शिष्टचार को निभाने में एक जैसे हैं।"

उनकी श्रद्धा का रूप यह था कि सूफी संतों के मजारों पर सेवा-कर्म करने को वे मोक्ष प्राप्ति के समान महसूस करते थे। शाह शमशुद्दीन दीवालपुरी के मजार पर एक हिंदू परिवार बरसों से सेवा कार्य करता चला आ रहा था।

आनंद राम 'मुखलिस' की श्रद्धा का रूप यह था कि वह न सिर्फ उर्सों में शरीक होता था बल्कि जब कभी वह भारी विपत्ति में पड़ जाता था तो वह सहायता की याचना के लिए शेख निजामउद्दीन औलिया और कुतबुद्धीन बख्तियार 'काकी' की मजारों पर हाजिरी दिया करता था और उसकी मनोकामना पूर्ण हो जाती थी। खान और जू मोहम्मद कुली खान के साथ वह शाहमदार के उर्स में शरीक हुआ करता था। बिंदराबन कायस्थ अपनी अगाध श्रद्धा के कारण प्राय: शाह मदार की मजार पर जाया करता था। सूबा सिंध के खैरपुर निवासी हिंदुओं की मजारों में आस्था का जिक्र करते हुए लेखक ने लिखा है कि, "वे लोग मुसलमान सूफियों की मजारों पर जाते हैं और नजर-ओ-नियाज[34] चढ़ाते है।"[35]

खैरपुर में लाल शाहबाज का मजार था। वहां हिंदू-मुस्लिम दोनों हाजिर होकर नजर चढ़ाते थे और मन्नतें मांगते थे।[36]

सामाजिक संबंध

लंबे समय तक साथ-साथ रहने का परिणाम यह हुआ कि हिंदू और मुसलमानों के बाह्य जीवन में अंतर की कोई रेखा शेष न रही और वे एक दूसरे के सामाजिक जीवन में बराबर के भागीदार हो गए। वे एक दूसरे के त्यौहारों और शादी-ब्याह के आयोजनों में बड़े हर्षोल्लास से सम्मिलित होते थे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि बहुत बड़ी तादाद में हिंदुओं ने इस्लाम कुबूल कर लिया था। कदाचित ऐसा कभी नहीं हुआ कि एक परिवार के सब के सब सदस्यों ने एक साथ धर्मांतरण किया हो। ऐसा नहीं है कि किसी परिवार के एक व्यक्ति ने यदि इस्लाम कुबूल कर लिया हो तो उसने अपने शेष परिवारजनों से एकदम संबंध विच्छेद कर लिया हो। वह अपने परिवारजनों से अपना मेल-जोल और संबंध जरूर बनाए रखता होगा और पारिवारिक रीति-रिवाजों के संपन्न करने में किसी प्रकार की उपेक्षा का भाव नहीं दिखाता होगा क्योंकि इस्लाम के अनुयायी होने का अर्थ यह था कि वह अल्लाह और रसूल पर ईमान ले आए। रोजा, नमाज, हज और जकात को अदा करे। ऐसा न था कि उसे इस बात पर भी मजबूर किया जाता हो कि वह अपनी पुरानी रीतियों का परित्याग कर दे और अपने कुटुंब के दूसरे लोगों से संबंध-विच्छेद कर ले। आजकल भी ऐसी मिसालें मिलती हैं। मसलन कोई मुस्लिम लड़की अगर किसी हिंदू से या कोई हिंदू लड़की किसी मुस्लिम से शादी कर लेती है तो दोनों को इस बात की आज़ादी होती है कि वे अपने धर्म की रीतियों का पालन करते रहें। इसके साथ ही लड़का और लड़की अपने परिवारजनों से मेल-जोल भी बरकरार रखते हैं और धार्मिक व सामाजिक उत्सवों में सम्मिलित भी होते रहते हैं।

लखनऊ में अष्टमी का मेला लगता था। इस मेले में मुसलमान स्त्री-पुरुष सम्मिलित होते थे। मिसेज मीर हसन अली ने लिखा है:

''एक दिन तीसरे पहर लखनऊ मेला लगा हुआ था। इस मेले में मुल्क के हर तबके और हर कौम के लोग शरीक थे, हालांकि यह मेला विशेष रूप से हिंदुओं का था।''

एक बड़ी तादाद में दिल्ली के मुसलमान गढ़-मुक्तेश्वर के मेले में शिरकत के लिए जाया करते थे। वहां वे गंगा तट के मैदानों में तंबू लगा लेते थे। स्त्री-पुरुष नौका-विहार का आनंद उठाते थे। इस मेले के दिनों में आनंद राम मुखलिस के साथ अक्सर शर्फुद्दीन 'पयाम' भी जाया करते थे। दिल्ली में कालकाजी का मेला होता था और अब भी होता है। इस मेले में मुसलमानों की शिरकत के बारे में गुलाम अली नकवी ने लिखा है, ''हालांकि यह जमाव हिंदुओं का होता है लेकिन मुसलमान लोग भी मनोरंजन के लिए यहां आया करते हैं।''

दिल्ली में कैलाश के मेले में मुसलमानों की भागीदारी का उल्लेख अनेक पुस्तकों में मिलता है। शाह अब्दुल रज्जाक बांसवी जन्माष्टमी के मेले में शामिल हुआ करते थे।

ऊपर के हवालों से यह बात जाहिर होती है कि मनोरंजन के उद्देश्य से आम लोग हिंदुओं के मेले-ठेलों में शिरकत करते होंगे और उनके त्यौहारों को बाद में खुद भी मनाने लगे होंगे। विस्तार के साथ इसकी चर्चा बाद में की जाएगी।

इसी प्रकार हिंदू भी मुसलमानों के त्यौहारों में शिरकत करते थे और अपने घरों में उनकी रस्में भी अदा करते थे। मिर्जा ने राजा रामनाथ 'जर्रा' के बारे में लिखा है कि वह मुहर्रम मनाया करता था। आशूरा[37] के दिनों में वह हरा लिबास पहनता था। प्याऊ लगवाता, गरीबों और अनाथों को भोजन वितरित करता था। किला-ए-मुअल्ला (दिल्ली का लालकिला) तक मेंहदी का जुलूस ले जाया करता। मुहर्रम के अलावा मिर्जा राजारामनाथ 'जर्रा' याजदहम (ग्यारहवीं शरीफ) की मजलिस भी करता और इससे संबंधित रस्में भी अदा करता था। लाला बालमुकंद अपनी आस्था की दृष्टि से कादरी परंपरा का मुरीद था। ग्यारहवीं शरीफ की मजलिस बड़ी ही धूम-धाम से की जाती थी। जीवन के अंतिम समय में अपनी आर्थिक विपन्नता के कारण एक साल वह इस नियम का पालन नहीं कर सका। कहा जाता है कि इस विवशता के कारण वह जार-जार रोता था और उसकी जबान से यही शब्द निकलते थे-''अब मेरी जिंदगी का पैमाना लबरेज हो चुका है।'' और सचमुच हुआ भी ऐसा ही, इसी साल उसका निधन हो गया।

जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी हिंदू व मुसलमानों के संबंध बड़े आत्मीयतापूर्ण थे। दिल्ली पर आए दिन मराठों, जाटों, सिखों, रूहेलों और अब्दालियों के हमलों के बादल मंडराते रहते। दिल्ली के निवासी अपना सिर छुपाने के लिए दर-दर और शहर-शहर की ठोकरें खाते फिरते थे। इस दरिद्रता और विपत्ति की स्थिति में 'मुसहफी' जब लखनऊ पहुंचे तो वे कई महीनों तक लाला कांजीमल के यहां अतिथि बन कर रहे और आतिथेय ने उनके सत्कार में कोई कमी नहीं रखी। राजा जुगल किशोर ने कई मौकों पर 'मीर' की सहायता की थी।

आनंद राम मुखलिस के स्वभाव और गुणों के बारे में अपनी राय व्यक्त करते हुए मौलवी इम्तियाज अली खां 'अर्शी' ने लिखा है, "पहले तो पीढ़ियों से मुसलमान उमराव की मुलाजिमत, फिर उस पर हजरत बेदिल की सोहबत और दरवेशी का रंग उस पर ऐसा छाया कि हर तहीर में साफ-साफ इसकी झलक देख लो। हालांकि मुखलिस अपने नियम-धर्म का पाबंद था। गंगा में स्नान करने के बाद उसने कभी मांसाहार नहीं किया और यात्रा के दौरान इसका पालन करता रहा। लेकिन धार्मिक सहिष्णुता, उदारता और अपने मित्रों के प्रति आत्मीयता उसके स्वभाव में कूट-कूट कर भरी हुई थी। वह जिस सम्मान के साथ अपने मुस्लिम साथियों का जिक्र करता है, वह अपने आप में एक मिसाल है।

मीर निजामुद्दीन खां को 'बिरादर अजीजुल कदर' के उपनाम से याद करता है। मोहम्मद जान दीवाना से उसके तीस वर्ष पुराने संबंध थे और वह इस बात पर गर्व करता था। मोहम्मद जान दीवाना की मृत्यु पर मुखलिस ने खून के आंसू बहाए थे और बार-बार उसकी जबान से यही शब्द निकलते थे-"अब मुझे ऐसा दोस्त जिंदगी में दोबारा कहां से मिल सकेगा।"

खान आरजू मुखलिस के उस्ताद थे और तीस साल तक उनके बीच बड़े गहरे और मधुर संबंध रहे। मुखलिस ने जो पत्र खान आरजू को लिखे हैं, उनसे मुखलिस के खुलूस और मोहब्बत का पता चलता है। हमेशा उसे खान आरजू के पत्रों की प्रतीक्षा रहती थी।

हालांकि भारत में सांप्रदायिकता के कीटाणु समय-समय पर उभरते दिखाई देते हैं लेकिन आज भी मुखलिस जैसे चरित्र के हिंदू लोग मिल जाते हैं। यहां सिर्फ एक उदाहरण पर्याप्त होगा-अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रोफेसर डा. गोवर्धन नाथ शुक्ल एक ऐसे व्यक्ति हैं जो धार्मिक सहिष्णुता और उदार भावनाओं की दृष्टि से किसी भी तरह मुखलिस से कम नहीं हैं। उनके निजी पुस्तकालय में गीता के साथ कुर्आन मजीद का हिंदी अनुवाद रखा हुआ है। वे अक्सर कुर्आन का अध्ययन करते हैं। भारतीय अध्यात्म के साथ-साथ उन्हें इस्लामी तसव्वुफ में विशेष रुचि है। वे

सूफियों का नाम बड़े सम्मान के साथ लेते हैं। अपने मुस्लिम विद्यार्थियों और साथियों के साथ बड़े प्रसन्न भाव से मिला करते हैं। पिछले दस-बारह वर्षों से मुझे उनके सान्निध्य में रहने का सुअवसर मिलता रहा है लेकिन मुझे कभी ऐसा एहसास नहीं हुआ कि उनके व्यवहार में धार्मिक भेद-भाव का कोई चिन्ह भी है। वे सांप्रदायिक दंगों की भर्त्सना करते हैं और उनका विचार है कि यदि भारतीय अध्यात्म और इस्लामी तसव्वुफ को विश्वविद्यालय और कालेजों के पाठ्यक्रम में अनिवार्य विषय के रूप में सम्मिलित कर दिया जाए तो भविष्य में धीरे-धीरे यह दुर्भावना अपने आप दूर हो जाएगी।

मुसलमानों ने भी उनके सद्‌गुणों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने में कभी संकीर्णता और धार्मिक पक्षपात का परिचय नहीं दिया। उनकी उदार हृदयता और धार्मिक निष्पक्षता का इससे बड़ा उदाहरण नहीं मिल सकता कि वे हिंदुओं की दीर्घायु के लिए दुआ करते थे। लाला टीकाराम 'तसल्ली' के बारे में मुसहफी का यह कथन बड़ा महत्व रखता है:

''एक सुसंस्कृत युवक है, खासतौर पर हर फन वालों के साथ बड़े आदर भाव के साथ मिलता है। हालांकि अल्लाह के फजल से उसकी उम्र पच्चीस साल से कहीं ज्यादा हो चुकी थी। गर्ज के उसमें हर तरह की खूबियां पाई जाती हैं और छोटे तथा बड़ों की जुबान पर उसके अख्लाक का जिक्र आता रहता है। चुनांचे यह फकीर भी उस बुलंद इकबाल से लगाव महसूस करता है। खुदा उसे हमेशा तरक्की के रास्ते पर आगे बढ़ाता रहे और अपनी मेहरबानियों के साए में उसे महफूज रखे।''

राजा जसवंत सिंह 'परवाना' के बारे में मुसहफी ने लिखा है-

जवान खलीक और जीशौर है[38]

कायम चांद पुरी ने लाल खुशबट्ब्त राय 'शादाब' के विषय में लिखा है-''बहुत ज्यादा बाअदब और मुहज्जब है।''

लाला ब्रिज लाल, मीरजा मजहर जानजानां के पुराने दोस्तों में से थे। मुसीबत के मारे हुए वे आगरा से मीरजा के पास दिल्ली आए। लाला को मुलाजिम रखने के लिए उन्होंने एक मुसलमान अमीर को सिफारिशी पत्र लिखा। पत्र का समापन इन शब्दों के साथ किया:

''मैंने इस एहतिमाम के साथ किसी दूसरे शख्स का तुमसे जिक्र नहीं किया है और मेरी मुबालगा से काम लेने की आदत नहीं है।''

इसके अलावा मीरजा साहब के मित्रों और आत्मीय जनों में राय केवल राम और उनके पुत्र लाला हर प्रसाद के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इनके बीच हुए पत्र-व्यवहार से इन दोनों के प्रगाढ़ संबंधों का पता चलता है। मीरजा साहब को उनकी निष्ठा और

विनम्रता पर पूरा भरोसा है। राय साहब को वे 'राय मुजास्सिमा'[39] कहते हैं। यही कारण है कि वे उनसे अपने घरेलू मामलों में भी परामर्श करते हैं और उस परामर्श पर आचरण करना भी उचित समझते हैं। अंतिम दिनों में मीरजा साहब, राय साहब की हवेली में ही रहने लगे थे।

नौकरियां

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मुगल काल में हिंदू और मुसलमान बादशाहों और सामंतों के यहां मुसलमानों को नौकरियां मिली हुई थीं। जब उन पर कोई विपत्ति आ जाती या उन्हें आर्थिक विपन्नता का सामना करना पड़ता तो वे एक दूसरे की बड़ी खुशी के साथ सहायता करते थे। अतएव खान आरज़ू, मुखलिस के आश्रित थे। मुखलिस के प्रयासों से ही उन्हें दरबार से मंसब और जागीर मिली थी। राजा जुगल किशोर और दूसरे हिंदुओं ने 'मीर' को अनेक बार आर्थिक सहायता प्रदान की थी। जब अशरफ अली खान 'फुंगा' आर्थिक कष्ट में पड़ गया तो वह अजीमाबाद जाकर राजा शिताबराय की सेवा में हाजिर हुआ। राजा ने पुरानी मित्रता का ध्यान रखते हुए उसे एक सम्मानित पद पर आसीन कर दिया। शाह कमालउद्दीन हुसैनी 'कमाल' सूफियाना जिंदगी बसर करते थे और राजा हुलास राय के दरबार से जुड़े हुए थे। इतिहास की पुस्तकों में ऐसे सैंकड़ों उदाहरण मिलते हैं।

जहां तक हिंदुओं का सवाल है वे भी बड़ी निष्ठा और रुचि के साथ मुसलमानों के यहां नौकरी करते थे। मालियात (संपत्ति) के विभाग में प्रायः हिंदू ही मुलाजिम होते थे। इसके अलावा दूसरे विभागों में भी उनका वर्चस्व था। अठारहवीं शताब्दी में कई हिंदू उच्च पदों पर नियुक्त थे। मिसाल के तौर पर रतनचंद, कुतबुलमुल्क अब्दुल्लाह खां का दीवान था और कुतबुलमुल्क को उस पर इतना भरोसा था कि उसने हुकूमत की बागडोर उसके हाथ में सौंप दी थी। आनंद राम मुखलिस, एतमादउद्दौला कमरूद्दीन खां के यहां वकील के पद पर सेवारत था। गुलाबराय, अमीर उलउमरी नजीबुद्दौला का दीवान था।

'असम' ने लिखा है कि सूबा बंगाल के तमाम अहम और गैर अहम ओहदों पर हिंदू काबिज थे। और मुल्की सियासत की बागडोर उनके हाथ में पहुंच चुकी थी। बंगाल के हाकिम उनकी सहायता के बिना वहां हुकूमत नहीं कर सकते थे। कई मौकों पर उन्हें जगत सेठ जैसे मालदार हिंदुओं से आर्थिक सहायता लेनी पड़ी थी।

शाह आलम द्वितीय (निधन 1806 ई.) के युग में मुगल दरबार के तमाम महत्वपूर्ण पदों पर हिंदुओं का अधिकार था और शाह आलम ने माधव राव सिंधिया उर्फ 'पटेल' को मुख्तार-उल-सल्तनत के अति महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया था

और उसे 'फरजंद अरजमंद' कहकर संबोधित करता था। इस प्रकार उसने समूचे भारत की हुकूमत की बागडोर उसके हाथ सौंप दी थी। एक अवसर पर शाह आलम ने 'पटेल' से कहा-''माबदौलत को मुहालों से कोई सरोकार नहीं है कि तीन सालों की खुश्की 40 और हंगामा परवाजों[1] की वजह से अच्छी वसूलयावी नहीं हुई। मुल्क जाने और तुम जानो, मुझे तो नकद की जर चाहिए।''

इस विवशता की मन:स्थिति में शाह आलम ने पटेल को संबोधित करके यह शेर पढ़ा था-

मुल्क माल सब खोय कर पड़े तुम्हारे बस
माधौ ऐसी की जियो आवे तुमको जस

शादी-ब्याह

जैसा कि हमें मालूम है अकबर बादशाह ने राजपूत घरानों में परस्पर आदान-प्रदान की परंपरा डाली। मुगल खानदान के शहजादों की शादियां हिंदू परिवारों में होती रही हैं। अठारहवीं शताब्दी में फर्रूखसियर बादशाह ने राजा अजीत सिंह की लड़की से हिंदू रीति के अनुसार विवाह किया था। इस बात का हमें विस्तृत ब्यौरा नहीं मिलता कि आम-मुसलमान और हिंदुओं का इस बारे में क्या रूझान था लेकिन कुछ ऐसी मिसालें भी मिल जाती हैं कि हिंदू लड़की और मुसलमान लड़के में शादी होती रही थी। सिराजुद्दीन खां 'सिराज' एक हिंदू लड़की पर मोहित हो गया था। जब उस लड़की के माता-पिता को इस बात की जानकारी हुई तो उन्होंने सहर्ष उससे अपनी लड़की का विवाह कर दिया। आज के दौर में तो मुसलमान लड़कियों और हिंदू लड़कों में भी शादियां होने लगी हैं।

इन तमाम बातों का दूरगामी परिणाम यह हुआ कि हिंदू और मुसलमानों में बड़ी सीमा तक धार्मिक भेदभाव दूर हो गया और दोनों जातियां एक-दूसरे के साथ भाई-भाई, एक परिवार के सदस्यों की भांति मिलकर रहने लगीं। पटना के बाजार का वर्णन करते हुए 'ट्यूनिंग' ने लिखा है-''शाम के सात और नौ बजे के बीच बहुत भीड़ थी और इसमें वे लोग शामिल थे जिनका धर्म एक-दूसरे से मेल नहीं खाता था। लेकिन जरा सी भी अव्यवस्था देखने में नहीं आई और यही बात समूचे भारत पर लागू होती है, चाहे उस शहर में एक धर्म और संप्रदाय के लोग बहुसंख्यक ही क्यों न हों।''

हिंदू और मुसलमान एक बर्तन में साथ-साथ खाने में भी परहेज नहीं करते थे। अजफरी ने अपने निजी अनुभवों के आधार पर इस बात की पुष्टि की है।

उपसंहार

आरंभिक युग में बाहर से मुसलमानों के सतत आगमन ने भारत के शेष दुनिया से संबंध कायम रखने में बहुत सहायता की है। इसके परिणामस्वरूप दूसरे देशों की धार्मिक गतिविधियों ने भारत के शिक्षित वर्ग को बहुत प्रभावित किया। मजहबी अदब का एक बड़ा हिस्सा अरबी और फारसी भाषाओं में लिखा गया है। ये दोनों भाषाएं भारतीयों के लिए विदेशी थीं और इन भाषाओं के अध्ययन के माध्यम से यहां के धर्मवेत्ता और विद्वान भारत से बाहर की रचनाओं से परिचित हुए। इन विदेशी प्रभावों ने इस प्रकार भारत में इस्लाम को एक प्रांतीय चरित्र अख्तियार नहीं करने दिया। लेकिन आम मुसलमानों और नासमझ नव-मुस्लिमों और उनकी संतानों में और विशेष रूप से उन लोगों में, जो इस्लाम के सांस्कृतिक केंद्रों से दूर भीतरी इलाकों में रहते थे, पुराने रीति-रिवाज और आचार-व्यवहार का असर बाकी रहा। इन इलाकों में एक मुसलमान और उसके हिंदू साथी में सिर्फ इतना अंतर पाया जाता था कि एक का नाम हिंदवाना और दूसरे-का इस्लामी। नव-मुस्लिम अपने पूर्वजों के आराध्य की उपासना करता रहा और विशेष रूप से अपने गांवों से जुड़े देवी-देवताओं की पूजा करता रहा, जिनका संबंध खेती-बाड़ी और बीमारियों से था। वह चेचक की देवी शीतला की पूजा करता था। इसी प्रकार वे शादी-ब्याह और त्यौहारों की दूसरी रस्मों को भी अदा करते रहे, जिस तरह वे मुसलमान होने से पहले किया करते थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदू रीति-रिवाज और आचार विचारों ने इस्लामी रस्मों-रिवाज को पृष्ठभूमि में डाल दिया और अठारहवीं व उन्नीसवीं सदी ईसवी में हम देखते हैं कि हिंदुओं और मुसलमानों के रीति-रिवाज और सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में सिर्फ नाममात्र का अंतर रह गया।

जैसा कि लिखा जा चुका है, अठारहवीं शताब्दी ई. में राजनीतिक प्रभुत्व की बागडोर हिंदुओं के हाथों में चली गई थी और वे हुकूमत के महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त थे। यह भी एक कारण था कि मुसलमानों ने उनका सहयोग और संरक्षण प्राप्त करने के लिए उनकी आस्थाओं और रीति-रिवाजों को अपना लिया था और दूसरे मुसलमानों को भी उन पर आचरण करने के लिए तैयार किया। याहिया खां का कथन है:-

''इस जमाने में हिंदुओं को हर तरह की सुविधाएं दी जाती हैं। क्योंकि उनमें हर एक ओहदेदार है...मुसलमान उनके प्रभाव के कारण उनका अनुसरण करते हैं और उनके रीति-रिवाजों का पालन करने की बादशाह को सलाह देते हैं।''

इस पृष्ठभूमि में हमें मुसलमानों पर हिंदू संस्कृति के प्रभावों का सविस्तार अध्ययन करना है ताकि यह बात स्पष्ट हो सके कि सांस्कृतिक और समाजाक दृष्टि से

हिंदू और मुसलमान इस जमाने में भी एक जैसे हैं। हिंदू-मुस्लिम विभेद के इतिहास की शुरूआत अंग्रेजी राज की स्थापना से हुई। इसके साथ ही मौजूदा दौर में भारत के राजनीतिक दलों ने अंग्रेजों की नीतियों को जारी रखकर अपने निहित स्वार्थों को पूरा करने का एक प्रभावशाली तरीका बना लिया। यही कारण है कि देहातों में सांप्रदायिक विद्वेष की भावना देखने में नहीं आती। वहां का जीवन ऐसा है कि हिंदू और मुसलमान दोनों आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे पर आश्रित हैं और रूढ़िवादी सोच इस मार्ग में बाधक प्रतीत होती है। अब यह महामारी धीरे-धीरे इन इलाकों में भी अपने विषैले कीटाणु फैलाने लगी है।

1. अलबरूनी का निधन 1048 ई. में हुआ था।
2. किताबुल हिंद, सैयद असगर अली द्वारा अनूदित, पृष्ठ 239-249
3. अल्ततमश 1210ई. में दिल्ली के तख़्त पर बैठा। सन् 1236 में उसका निधन हुआ। कुतुबमीनार के पास मस्जिद कुव्वतुल इस्लाम में अशोक स्तंभ के समीप उसका मज़ार ख़स्ता हालत में आज भी मौजूद है। अल्ततमश सुल्तान तो था ही लेकिन अपनी धार्मिक रुचियों के कारण अपने दौर के सूफ़ियों में गिना जाता था। देखिए-तब़्क़ात-ए-नासिरी, पृष्ठ. 177.
4. इन्फ्लूएंस ऑफ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर, पृष्ठ-137
5. बल्लभाचार्य का जन्म 1479 ई. में बताया जाता है। मृत्यु तिथि ज्ञात नहीं है।
6. मद्रास के तिरूपति में 1016 ईसवी में जन्म हुआ और 1137 ईसवी में शरीरगाम में निधन हुआ।
7. शंकराचार्य की जन्मतिथि 737 ईसवी है और मृत्यु तिथि 769 ईसवी.
8. इलियट एंड डावसन: खंड-II(अलीगढ़, 1952) पृष्ठ-54-55.
9. आप सुल्तान महमूद गज़नवी के साथ भारत आए और लाहौर में बस़ गए थे और इस शहर को अपनी आध्यात्मिक शिक्षा का प्रचार केन्द्र बनाया। इनका जन्म 1009 ई. में तथा मृत्यु 1072 ई. में हुई थी। मज़ार लाहौर में है। देखिए-आब्र-ए-कौसर, कराची, 1952 ई. पृष्ठ 86-91, सफीनतुल औलिया, 209-210, ख़ज़ीनतुल असफ़िया, 2 पृष्ठ 232-234.
10. कई लोग आपके साथ इस्लाम लाए जिनमें से मदूज, जो सुल्तान मादविदा बिन मसूद ग़जनवी की तरफ से लाहौर का नायक था, आपने इसका उपनाम शेख हिंदी रखा और उसके वंश के लोग आपके मज़ार के ख़िदमती हैं। आबे कौसर, 86
11. अजमेर के अलावा बदायूं, कन्नौज, नागौर और बिहार के कुछ शहरों व कस्बों में मुसलमानों की अच्छी ख़ासी तादाद थी। देखिए-तारीख मशायख़ चिश्त, 143
12. ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का जन्म 1149 ई. में सजस्तान में हुआ। आपकी शिक्षा दीक्षा खुरासान में हुई। पिता का नाम ख़्वाजा ग़यासुद्दीन हसन था। शेख उस्मान हारूनी का मुरीद थे। भारत में चिश्ती परंपरा के प्रवर्तक माने जाते हैं। पृथ्वीराज चौहान के युग में भारत आए और अजमेर में बस कर इस्लाम की प्रतिष्ठा का काम शुरू कर दिया और थोड़े ही समय में इस क्षेत्र में इस्लाम को फैलाने में काफी सफलता प्राप्त की। इनकी मृत्यु 1235 ई. में हुई और वहीं दफ़न हुए। रजबउर्सल-मरजब्र के दिन आस-पड़ोस के तथा देश के दूर-दराज़ के इलाकों के हिंदू व मुसलमान जत्थे बना बना कर बड़ी संख्या में उर्स में शरीक होने के लिए आते हैं। अकबर बादशाह आगरा से नंगे पैर ख़्वाजा

साहब की ज़िआरत के लिए जाया करता था। विस्तार के लिए देखिए-दलील-उल-आरफ़ीन, अख़बार-उल-अख़बार (उर्दू अनुवाद) 50-54 सैरुल इक्ताब, 100-107, 123-141, सफ़ीनतुल औलिया, 128-129.

13. तारीख़ ए मशायख़, पृष्ठ-144-145.
14. सलातीन-ए-देहली के मज़हबी रुझानात, पृष्ठ 73.
15. एस.आर. शर्मा-द क्रीसेंट इन इंडिया (बाम्बे) पेज 235.
16. बर्नियर एक यूरोपीय यात्री था। उसने 1656 से 1668 ई. तक भारत की यात्रा की थी और शाहजहां के साथ कश्मीर भी गया था देखिये-ट्रेवलर्स इन द मुगल एम्पायर पेज 306.
17. खुदा की तारीफ, ईश्वर-स्तुति
18. सफीना-ए-खुशगो, 102
19. वही, 101
20. रोद-ए-कौसर, 405
21. सफीना-ए-खुशगो, 103
22. रोद-ए-कौसर, 410 2. उपनिषद (सिर्रे-अकबर-भूमिका भाग, पृष्ठ4)
23. ईश्वर की सत्ता में ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी को भी शामिल करना, अनेकेश्वरवाद
24. मुस्लिम धर्मशास्त्र
25. गुलामी का सजदा
26. पवित्र निश्चय का सजदा
27. प्राण का एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में पहुंचना, पुनर्जन्म
28. मूल फारसी देखिए-कल्मात तिब्रियात (मल्ला-उल-उलम मुरादाबाद) पृष्ठ 28-29
29. जनेऊ
30. उमर और जैद दो भाइयों के काल्पनिक नाम हैं।
31. जन्म, उत्पत्ति
32. खुदा की हम्द या प्रशंसा करने वाला
33. एकांत में ईश्वर की तपस्या करना
34. चढ़ावा, पृष्ठ-26-27
35. खजीनतुल असफिया, पृष्ठ 26-27
36. वही
37. मुहर्रम की दसवीं तारीख
38. वह बहुत सुशील और चेतना-संपन्न युवक है।
39. साक्षात् राजा
40. अनावृष्टि
41. उथल-पुथल

दूसरा अध्याय

सामाजिक संरचना

(अ) प्राचीन भारत के समाज में वर्ग-विभाजन

आरंभिक अप्रवासी आर्य, जो अपने मूल स्थान को छोड़कर भारत में आ बसे थे, खानाबदोश और चरवाहे थे। लेकिन उनका समाज समूह और वर्गों में नहीं बंटा था। ऋग्वेद के अध्ययन से तीन विभिन्न समूहों के अस्तित्व का पता चलता है। ऋग्वेद में वर्णित इन तीन समूहों अर्थात् ब्राह्मण (ज्ञान और विद्या के धनी), राजन्य (राजा और सिपाही) और वैश्य (आम कारीगर) के आधार पर बाद में उच्च जातियों का उदय हुआ। इसके विपरीत इस देश के मूल निवासी, जो पवित्र और अपवित्र दो समूहों में बंटे हुए थे, निम्न जातियों में गिने जाने लगे। ऋग्वेद के भारतीय समाज के विभाजन और ईरानी समाज के वर्ग-विभाजन में काफी सीमा तक समानता पाई जाती है। इससे यह अनुमान होता है कि दोनों समान व्यवस्थाओं का मूल एक ही है। यह भी एक तथ्य है कि आर्य पहले ईरान में आए। एक समय तक वहां बसे और रहे फिर इसके बाद उनमें से एक समूह भारत चला आया। यही कारण है कि वैदिक और ईरानी देवताओं में समानता व अनुरूपता पाई जाती है। यह बात भी जाहिर है कि ऋग्वेदिक समाज में समूहों का विभाजन भारत के बाहर ही अस्तित्व में आ चुका था और वे लोग इस सामाजिक ढांचे को अपने साथ भारत लाए थे। यह ऋग्वेदिक विभाजन कई जातियों के जन्म का कारण बना और ऋग्वैदिक वर्ण के आधार पर धीरे-धीरे ये जातियां कुछ पाबंदियों में जकड़ गई और बाद में उनकी हज़ारों शाखाएं बन गईं।

द्रविड़ों से पहले भी भारत के निवासी समुदायों और संप्रदायों में विभाजित थे और इनमें भी पेशों और खान-पान का बड़ी कठोरता के साथ पालन किया जाता रहा था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि पेशों और खान-पान के आधार पर ही इस समाज का विभाजन हुआ था लेकिन आर्यों में जात-पात का इतना कठोर विभाजन नहीं था जितना कि यह बाद में हो गया। पहले आर्य लोग आजादी के साथ एक व्यवसाय छोड़ते थे और दूसरा व्यवसाय अपना सकते थे और इसी प्रकार व्यवसाय के अंतर को

ध्यान में रखे बिना आपस में वैवाहिक संबंध भी कर सकते थे। मिल-जुल कर रहने की आजादी भी हासिल थी। इसी से यह विश्वास दृढ़ होता है कि भारत का आरंभिक आर्य समाज इन जकड़नों से मुक्त था यद्यपि वह समाज पुरोहित, राजा और सिपाही तथा किसान (ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य) में विभक्त था। आर्यों के राजनीतिक प्रभुत्व के बढ़ने से और सामाजिक अर्थव्यवस्था में बदलाव आने के साथ-साथ ये कबीले कई वर्गों में बंटते चले गए। वर्तमान में तीन हजार से अधिक जातियां पाई जाती हैं। इनमें से एक-एक जाति की कई शाखाएं मिलती हैं। इनमें दूसरी श्रेणी की जातियां भी पाई जाती हैं। ये दूसरी श्रेणी की असंख्य जातियां सिद्धांततः अपने आप को किसी उच्च जाति की उपशाखाएं बताती हैं। सैद्धांतिक रूप से वे अपने मूल का संबंध ऋग्वेद से स्थापित करती हैं।

तथ्य यह है कि वैदिक युग में भारतीय समाज दो वर्गों-आर्य और अनार्य, में बंटा हुआ था। आर्य समुदाय के तीन स्तर थे-ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य। वे अपने व्यवसाय और मूल से स्वयं को श्रेष्ठतर समझते थे। जबकि अनार्य लोग दास और दस्यु कहलाते थे और बाद में जाकर वे शूद्र कहलाने लगे। आर्य लोग दासों (या भारत के मूल और प्राचीन निवासियों) से न केवल रंग-रूप और शारीरिक गठन की दृष्टि से भिन्न थे बल्कि भाषा, रीति-रिवाज, आस्था और जीवन-दर्शन की दृष्टि से भी वे अपनी अलग पहचान रखते थे। इसलिए तीनों उच्च जाति के लोगों ने अपना एक अलग समूह बना लिया था और दासों ने अपना अलग। अनुमान होता है कि जब आर्य लोग दूसरे क्षेत्रों को जीतने के लिए जाते थे और वहां के स्थानीय लोगों को अपने अधीन कर लेते थे, तो वे अपने और उनके बीच एक सीमित दूरी बनाए रखते थे। यही भारत में हुआ। जब आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया तो अपने प्रतिद्वंद्वी मूल निवासियों को उन्होंने बहुत थोड़ी भूमि दी। लेकिन धीरे-धीरे उदारता की नीति अपनाई गई और उनकी हत्या करने के बजाए प्रायः उन्हें दास बनाकर रखा जाने लगा। भारतीय आर्यों के शांतिप्रिय और उदार आचरण ने एक ऐसे अनुकूल वातावरण का निर्माण कर दिया जिसमें यहां के मूल निवासी भी सुख-शांति के साथ मेल-जोल से रह सकते थे। लेकिन आर्यों की समाज-व्यवस्था में उनको एक विशेष दर्जा दिया गया और यह सबसे निचला दर्जा था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शूद्र लोग उन मूल निवासियों में से थे जिन्होंने आर्य सभ्यता से समझौता कर लिया था और आर्यों नें उन्हें सबसे निचला दर्जा देकर अपनी सामाजिक संरचना का अंग बना लिया था।

चार वर्णों के अतिरिक्त पांचवें वर्ण का उल्लेख भी मिलता है जिसमें निषाद, चांडाल और पुलराशि शामिल थे। सांस्कृतिक दृष्टि से वे समाज की बहुत निचली सतह पर थे। वे शिकार करने और मछली मारने का पुराना धंधा करते थे। ऐसा प्रतीत

होता है कि भारतीय मूल के इन लोगों को आर्य जन तथा सांस्कृतिक दृष्टि से समुन्नत अनार्य जन बड़ी हेय दृष्टि से देखते थे। इनकी वितृष्णा मूलक जीवन-शैली तथा इनके गर्हित व्यवसाय के कारण इन लोगों को एक कठोर सामाजिक सीमा में परिमित कर दिया गया था। यहीं से छुआछूत की व्यवस्था का आरंभ होता है।

आमतौर पर विद्वानों में इस बात पर सहमति पाई जाती है कि ईरानी और भारतीय आर्य संस्कृति में समानता पाई जाती थी और बहुत से ईरानी और आर्य देवताओं की समानता इस बात का प्रमाण है कि आर्य ईरान से होते हुए भारत आए और ईरानी समाज-व्यवस्था तथा भारतीय आर्यों के सामाजिक विभाजन में काफी एकरूपता थी। यह अनुमान किया जा सकता है कि आरंभ में दोनों समुदायों के पूर्वज साथ-साथ ही समूह के रूप में रहते थे और यह भी अनुमान है कि भारत आने से पूर्व आर्यों की वर्ण-व्यवस्था अपनी पराकाष्ठा तक पहुंच चुकी थी। इन दोनों समुदायों में, जो वास्तव में आर्य थे, आरंभिक दौर में हम तीन स्तरीय विभाजन के हवाले पाते हैं। वेद के आरंभिक अंशों में भारत में शूद्र (या दास) का उल्लेख नहीं मिलता है बल्कि दस्यु या दास का हवाला मिलता है। ये लोग यहां के मूल निवासी थे और आर्यों के प्रभाव से मुक्त भी थे, लेकिन अधीनस्थ सेवक थे। बाद के अंशों में अर्थात् पुरुष सूक्त में सिर्फ पहली बार शूद्र का उल्लेख मिलता है। आरंभिक ईरानी सभाज में भी तीन वर्णों का जिक्र प्राप्त होता है और चौथा 'होयती' बाद में अस्तित्व में आया। संक्षेप यह है कि सासानियों के युग में भी वहां का समाज चार समूहों अर्थात् मजहबी गिरोह, राजा और सिपाही, हुक्काम और काश्तकार व गडरिए आदि में विभक्त था। ईरान पर मुसलमानों की विजय के बाद भी यह विभाजन बरकरार रहा। फिरदौसी ने 'शाहनामा' में चतुर्वर्ण व्यवस्था का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि व्यवसाय पर आधारित इस श्रेणी विभाजन का प्रवर्तक शाह यमीन था। जिसके युग में आर्य एक कुटुंब की भांति अपने देश में रहते थे।

(आ) वर्ण और जाति

यह उचित प्रतीत होता है कि हम ऋग्वेद के वर्ण और मौजूदा जाति के पारस्परिक संबंधों का गहराई के साथ अवलोकन करें। 'सीनार्ट' का विचार है कि प्राचीन वर्ण और बाद की जाति में काफी अंतर है। उसका कहना है कि जाति का एक व्यवसाय विशेष से संबंध होता है। इसमें लोग कड़ी की भांति एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। एक ही प्रकार के रीति-रिवाज और नियमों में बंधे रहते हैं। उसने आगे लिखा है कि धर्मशास्त्र के विशेषज्ञों ने जाति और जन्म को एक दूसरे के पर्याय के रूप में इस्तेमाल किया है, जो वर्ण (रंग) शब्द से बिल्कुल अलग है और जिस अर्थ में इसका

आरंभिक वैदिक साहित्य में प्रयोग हुआ है। इस विवाद पर टिप्पणी करते हुए 'नेस्फील्ड' ने कहा है कि भारत में इस आरंभिक वर्ण-व्यवस्था का कभी कड़ाई के साथ पालन नहीं किया गया और यह तो सिर्फ कहने भर के लिए ही है। उनकी मान्यता है कि यह विभाजन वास्तव में भारत की जाति-व्यवस्था के ढांचे को पेश नहीं करता। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार श्रम विभाजन था और यह ब्राह्मणों का षड्यंत्र है। उनके मतानुसार यदि ब्राह्मण अस्तित्व में न आते और उनका अहंकार पराभूत न होता, जैसा कि बाद में हुआ, तो दस्तकार वर्ग कभी इस तरह परिवर्तन की प्रक्रिया से कटे हुए न रहते और एक जैसा जीवन व्यतीत न करते।

उपर्युक्त मतों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक युग के आरंभिक दौर की सामाजिक संरचना आज के दौर की जात-पात की व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न थी और वर्ण का अस्तित्व न होने पर भी व्यवस्था स्वतंत्र रूप से विकसित होती गई।

कहने का अभिप्राय यह है कि आरंभिक चतुर्वर्ण व्यवस्था का कभी कठोरता के साथ पालन नहीं हुआ और यह विभाजन परंपरा पर आधारित है। एक जाति के लोग एक विशेष व्यवसाय को अपनाते थे और अपने मूल, विधि-विधान और रीति-रिवाजों के आधार पर एक सूत्र में बंधे हुए थे। यह बात भी सच है कि सामान्यतः एक जाति एक ही व्यवसाय नहीं करती थी। इसमें संदेह नहीं कि पेशावर समूह भी थे और उनके विषय में यह नियम लागू किया जा सकता था किंतु ऐसी भी बहुत सी जातियां थीं जिनके लोग अलग-अलग व्यवसाय करते थे। और कुछ ऐसे व्यवसाय भी हैं जिनके अलग-अलग कामों को भिन्न जातियों के लोग करते हैं। एक ही जाति के होने के लिए एक ही नस्ल (मूल) का होना आवश्यक नहीं है क्योंकि भारत में एक जाति एक ही नस्ल के होने का दावा कभी नहीं करती। एक जाति के विधि-विधान और रीति-रिवाज केवल वहां पाए जाते हैं जहां एक जाति अकेले समुदाय के रूप में निवास करती है। हमें ऐसी जातियों के उल्लेख भी मिलते हैं जो अलग-अलग समूहों से संबंध रखती हैं। उनका इतिहास, परंपराएं और निजी विशेषताएं उन्हें एक दूसरे से अलग करती हैं। दो भिन्न शब्द वर्ण और जाति, हालांकि आशय की दृष्टि से समानार्थक नहीं हैं, दो अलग-अलग चीजें तो पेश नहीं करते और यह अंतर केवल बाह्य है, आंतरिक नहीं। आरंभ में समाज केवल तीन वर्णों में बंटा हुआ था। आर्यों के तीन वर्णों के बाद चौथा वर्ण और अंत में पांचवां वर्ण अस्तित्व में आता है। इन तीनों के बाद चौथे और पांचवें वर्ण का प्रकट होना इस बात की निशानदेही करता है कि ये वर्ण नए सामाजिक परिवेश की उपज थे।

इस पूरी बहस का सारांश यह है कि पारंपरिक वर्ण-व्यवस्था के अनुसार हिंदू

समाज पांच बड़े समूहों में बंटा हुआ था। उनमें से तीन समूह वंश और व्यवसाय दोनों दृष्टियों से श्रेष्ठतर थे। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहलाए। ब्राह्मण को द्विज भी कहा जाता था। चौथा समूह उन बहुत से पेशावर समुदायों से संबंधित है जो बड़ी सीमा तक पवित्र और शुद्ध हैं और उनकी गणना कर सकते हैं। सारे भारत के हिंदू इस विभाजन को स्वीकार करते हैं और विभिन्न समूहों की सामाजिक श्रेष्ठता और तुच्छता का भेद भी हर जगह स्वीकार किया जाता है। इन बड़े समूहों के व्यवसाय पुरानी परंपरा पर आधारित होते हैं। एक समूह अनेक उपशाखाओं में बंटा हुआ है और उनके बीच ऊंच-नीच का भेद पाया जाता है।

जातियों का उदय

इस विषय में दो भिन्न धारणाएं पाई जाती हैं। यद्यपि वर्तमान हिंदू समाज में जाति-व्यवस्था का आधार वैदिक परंपराएं हैं लेकिन हमें उन स्थितियों को भी ध्यान में रखना चाहिए जोकि इस व्यवस्था के उदय के लिए जिम्मेदार हैं। ये आनुवांशिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियां थीं जिन्होंने जाति की संकल्पना को जन्म दिया और वर्ण व्यवस्था को दृढ़ बनाने में एक अहम् भूमिका अदा की। इन स्थितियों का अध्ययन करते समय हमें दो प्रकार के दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं–एक तो पूर्णतः व्यवसाय पर जोर देता है और दूसरा केवल वंश पर। 'नेस्फील्ड' का विचार है कि जात-पात बिल्कुल एक भौतिक और सांसारिक व्यवस्था है और धर्म का उससे दूर का भी संबंध नहीं है। इस नुक्ता नज़र से जात-पात केवल एक तरह से व्यवसाय से जुड़ी हुई व्यवस्था है। 'नेस्फील्ड' जाति के निर्माण में आर्थिक और सांस्कृतिक स्थितियों की भूमिका को स्वीकार करता है–

(क) किसी कार्य में दक्षता के आधार पर कुछ लोगों की एक अलग इकाई के रूप में पहचान बन गई। जिसे जाति कहा गया।

(ख) और इस जाति का सदस्य होने का अधिकार केवल उसी व्यक्ति को था जिसके माता-पिता दोनों उसी समूह से संबंध रखते हों और इस प्रकार उन्होंने एक सामाजिक इकाई का रूप धारण कर लिया।

उसकी यह मान्यता भी है कि भारत में आर्यों के आगमन और उनके लंबे समय तक बसे रहने के बाद जाति की व्यवस्था का आरंभ हुआ और तब तक आर्य और अनार्य का वंशगत विभेद बिल्कुल खत्म हो चुका था। यह वंश या जन्म की भूमिका को महत्व नहीं देता। उसका कहना है कि जात-पात का सवाल वंश या जन्म का सवाल नहीं है बल्कि संस्कृति का सवाल है। वह संस्कृति के विभेद को व्यवसाय की भिन्नता से जोड़ कर देखता है। और इसी परिप्रेक्ष्य में वह विभिन्न जातियों के वर्गों का

अध्ययन करता है, लेकिन इस मान्यता से शत-प्रतिशत सहमत नहीं हुआ जा सकता क्योंकि इस बात से इनकार करना भी मुश्किल है कि जाति-व्यवस्था का संबंध धर्म से बिल्कुल नहीं है। आरंभिक विभाजन धर्मेतर सिद्धांतों पर आधारित था ऋग्वेदिक वर्ण विभाजन को किसी प्रकार का धार्मिक समर्थन प्राप्त नहीं था लेकिन बाद के युगों में इस पर धर्म की मुहर लग गई। यह सच है कि जाति विशेष रूप से एक सामाजिक प्रतिष्ठा का सूचक है, लेकिन चूंकि शास्त्रों के अनेक कर्म-काण्ड जाति पर आधारित हैं इसलिए इसका एक धार्मिक पहलू भी है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया के साथ-साथ इस व्यवस्था ने धीरे-धीरे एक दार्शनिक रंग अख्तियार कर लिया था। इसीलिए आज हिंदू धर्म की मूल बुनियाद जाति व्यवस्था पर टिकी हुई है।

व्यवहार में जाति सिर्फ एक श्रम से जुड़ा हुआ समूह नहीं है। यह एक ऐसा समूह या व्यवस्था है जिसकी जड़ें बहुत गहरी हैं और जो अपने सदस्यों पर कई तरीकों से पाबंदियां लगाती हैं। और ये पाबंदियां जीवन के विभिन्न पहलुओं में लक्षित होती हैं। इसके अलावा यह मान लेना भी कठिन है कि जाति में वंशगत विशिष्टता का कोई महत्व नहीं है।

वैदिक काल के आरंभ में हमें ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जब कि एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण में शामिल हो जाते थे। इसके बावजूद विभिन्न वर्णों ने न तो अपनी विशिष्टता को खोया था और न वे एक दूसरे में बिल्कुल विलीन हो गए थे। आरंभिक मंत्रों में समय-समय पर इस प्रकार के चार विभाजनों का उल्लेख मिलता है। और बाद के 'पुरुष सूक्त' में भी इसका वर्णन मिलता है। खानाबदोश चरवाहों की जीवन-शैली छोड़कर कृषि-व्यवसाय को अपना लेने का एक नतीजा यह निकला कि अब वे जगह-जगह भटकने के बजाए एक स्थान पर स्थाई रूप से बस गए। इस प्रकार से एक नई आर्थिक व्यवस्था का आरंभ हुआ।

एक स्थाई समाज-व्यवस्था के आरंभ ने एक व्यक्ति की अपनी जाति को छोड़कर दूसरी जाति में शामिल होने की प्रवृत्ति पर काफी सीमा तक अंकुश लगा दिया। धीरे-धीरे इन अंकुशों और निषेधों का कठोरता के साथ पालन किया जाने लगा तथा हर एक व्यक्ति को अपने ही वर्ग में शादी-ब्याह करने पर विवश होना पड़ा। इसके साथ-साथ अपने पूर्वजों का व्यवसाय भी करना पड़ा। ये नियम एक ऐसी मजबूत रस्सी की भांति हैं जिन्होंने लोगों को अपने ही वर्ग में जकड़ रखा है।

भारत में मौजूदा जाति-व्यवस्था

समाज में किसी न किसी प्रकार का विभाजन एक शाश्वत और सार्वभौमिक प्रक्रिया है। विभिन्न समाजों में अपने-अपने ढंग से श्रेणी विभाजन की प्रवृत्ति पाई

जाती है। यह एक ही प्रकार का विभाजन हम अलग-अलग समाजों में पाते हैं तो सामान्यत: हम यह कहते हैं कि इस विभाजन का रूप सब जगह एक जैसा ही है। यदि किसी समाज में यह विभाजन विशिष्टता लिए हुए है तो हम उसे एक भिन्न विभाजन कहते हैं अर्थात् यह अपने आप में विशिष्ट और अनोखा है। भारत की जाति-व्यवस्था इस देश और समाज में अपने ढंग की अनोखी है क्योंकि इतने विकसित समाज में इस प्रकार का जाति-विभाजन अन्यत्र दुर्लभ है। समय के साथ-साथ यह व्यवस्था आगे बढ़ती गई है, हालांकि इसके आरंभिक चिन्ह वैदिक युग में दिखाई देने लगे थे। इस व्यवस्था को निरंतर आगे बढ़ाने और सशक्त बनाने में धार्मिक, आर्थिक और वंशगत परिस्थितियों ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसके वर्तमान स्वरूप के पीछे यही परिस्थितियां मौजूद हैं। जाति-व्यवस्था की विकास की प्रक्रिया में अनेक परिवर्तन हुए हैं। पिछली शताब्दी की तुलना में मौजूदा शताब्दी में जाति के बंधन, मर्यादा और सिद्धांतों में पर्याप्त अंतर आ गया है। कुछ मर्यादाएं, जो अतीत में काफी हस्तक्षेप रखती थीं, अब मात्र एक कर्म-कांड बन कर रह गई हैं। और इस प्रकार भारत के विभिन्न भागों में एक जाति विशेष द्वारा प्राचीन मर्यादाओं के पालन करने की प्रवृत्ति में काफी परिवर्तन आ गया है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया के दौरान वर्ण की संकल्पना का महत्व अपनी जगह पर बना रहा।

इस परिवर्तन की प्रक्रिया में अनेक अंतर्विरोध दिखाई देते हैं। शारीरिक गठन, रंग-रूप आदि अनेक ऐसी भिन्नताएं हैं जिनके रहते हुए हम भारत में जाति की एक सर्वसम्मत परिभाषा सुनिश्चित नहीं कर सकते, जो एक समय विशेष में देश के समूचे हिंदू समाज पर लागू हो सके। अतएव इस विवाद ने समाजशास्त्रियों के बीच मत-भिन्नता की स्थिति पैदा कर दी है।

जाति-व्यवस्था की संकल्पना के अनुसार भारतीय समाज को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है-देहाती, शहरी और दस्तकार। पहले प्रकार में भारत की आबादी के बहुसंख्यक लोग शामिल हैं। इस वर्ग का विशेष व्यवसाय कृषि है। शहरों की तुलना में देहातों में लोगों के पारस्परिक संबंध ज्यादातर निजी और करीबी होते हैं। वहां के जीवन में बड़ी हद तक ठहराव पाया जाता है। और समस्त सामाजिक गतिविधियां संयुक्त परिवार की मर्यादाओं से संचालित होती हैं। इस परिवेश में जाति एक निर्णायक और केंद्रीय हैसियत रखती है। समाज में लोगों की अपनी पसंद और नापसंद के रूप में जाति अपनी शक्ति का प्रभाव दिखाती रहती है। दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो शहरों में निवास करते हैं और जो मानसिक रूप से पूंजीवादी मूल्य-व्यवस्था में जीते हैं तथा उसके पक्षधर हैं। इसके साथ-साथ वे अब भी ग्रामीण जीवन से जुड़े हुए हैं। उनके बीच संयुक्त परिवार की प्रथा अब भी प्रचलित है। इन शहरों में जाति अब एक

व्यवस्था के रूप में कमजोर हो रही है। तीसरा वर्ग शिल्प या दस्तकारी से जुड़े लोगों का है, जहां व्यक्ति को अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है। संयुक्त परिवार धीरे-धीरे टूट रहा है और पारिवारिक संबंधों में ह्रास की प्रक्रिया शुरू हो गई है।

जाति-व्यवस्था की परिभाषा

नेस्फील्ड ने जाति व्यवस्था की परिभाषा इन शब्दों में की है:

''एक व्यवसाय से जुड़े हुए कुछ लोगों का समूह जो शादी-विवाह के रिश्तों में बंधा हुआ है।'' उसने बार-बार कहा है कि एक जाति विभिन्न लोगों के परस्पर मेल से अस्तित्व में आई है। या कई जातियों के मेल से भी एक जाति बन गई है। कारण यह है कि वे लोग एक ही प्रकार की दस्तकारी या काम से जुड़े रहते हैं।

'रेनर' के मतानुसार जाति से आशय परिवारों या समूहों के एक समवाय से होता है, जो एक ही ऋषि या महापुरुष से अपने वंश या मूल का संबंध जोड़ते हैं और एक ही व्यवसाय करते हैं। एक जाति का नाम आमतौर पर एक व्यवसाय की पहचान कराता है और इस पहचान के कारण एक जाति के लोग प्राय: अपनी ही जाति में वैवाहिक संबंध स्थापित करते हैं। एक बड़ी जाति की परिधि में अनेक छोटी-छोटी निम्न जातियां भी होती हैं और इन जातियों के लोगों को अपने सीमित दायरे के बाहर शादी-ब्याह करने की अनुमति नहीं होती। इस प्रकार एक ब्राह्मण को न केवल अपनी जाति के ब्राह्मण परिवार में विवाह करना निषिद्ध है। बल्कि अपने गोत्र से संबंध रखने वाली उपशाखाओं में भी उसके लिए वैवाहिक संबंध वर्जित है।

'गैट' (1911 ई.) की राय में जाति पारस्परिक वैवाहिक संबंधों में बंधे हुए ऐसे समूहों का समवाय है जिनका एक ही नाम हो और जो एक ही पैतृक व्यवसाय करते हों। वे इस प्रकार के दूसरे संबंधों से भी आपस में जुड़े हुए हों। उदाहरण के लिए एक ही ऋषि के वंश से जुड़े हों, एक ही देवता की पूजा करते हों, एक ही प्रकार के सामाजिक वर्ग में रहते हों, एक ही जैसे रीति-रिवाज मानते हों और उनका एक ही पारिवारिक पुरोहित हो। इस आधार पर वे स्वयं भी और दूसरे लोग भी उन्हें एक विशिष्ट और अलग जाति समझते थे।

'हटन' (1956 ई.) ने जाति की परिभाषा इस प्रकार की है, ''किसी समाज का वंश, व्यवसाय, धर्म और आर्थिक श्रेणियों के आधार पर विभाजित हो जाना, जिनके पारस्परिक संबंध श्रेणी विभाजन के रूप में रीति और परंपरा द्वारा निश्चित हो चुके हैं।''

जाति की यह परिभाषा समूचे भारत में विद्यमान जाति-व्यवस्था पर चरितार्थ होती है और साथ-साथ इससे जाति-व्यवस्था की विशिष्टता भी काफी हद तक उजागर हो

जाती है। विशेष रूप से मुसलमानों में जाति-व्यवस्था के अध्ययन की दिशा में भी इससे सहायता मिलती है। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि हिंदुओं के विपरीत मुसलमान अपनी सामाजिक श्रेणीबद्धता को धार्मिक रंग नहीं देते या इसके औचित्य को धर्मशास्त्रों के आधार पर सिद्ध नहीं करते। जैसे कि वे दूसरे सामाजिक कामों को कुर्आन और सुन्नत[1] की रोशनी में साबित करने की कोशिश करते हैं। हालांकि नस्ल या पेशे की बुनियाद पर किसी प्रकार की भिन्नता या विशिष्टता बुनियादी तौर पर इस्लाम की शिक्षा के विरुद्ध है लेकिन भारतीय मुसलमान इस प्रकार की सामाजिक भिन्नता और विशिष्टता पर, जो जाति का ही एक रूप है, आचरण करते हैं। भारतीय मुसलमानों के सामाजिक कार्य बड़ी हद तक वैसे ही हैं जिन पर हिंदू जाति-व्यवस्था में आचरण किया जाता है और बड़ी हद तक यह हिंदुओं के प्रभाव और भारतीय परिवेश की वजह से है। इन मामलों में हम इस्लाम की मैत्री और उदारता की बुनियादी शिक्षा और भारतीय मुसलमानों के बीच प्रचलित श्रेणी विभाजन तथा रीति-रिवाजों के बीच एक प्रकार की कश-म-कश देखते हैं।

इस प्रकार भारतीय मुसलमानों में जात-पात के स्वरूप का अध्ययन करते समय हमें धर्म के तत्व को नजरअंदाज कर देना चाहिए जोकि, हिंदुओं में जाति-व्यवस्था के निर्णायक तत्वों में से एक महत्वपूर्ण तत्व है। भारतीय मुसलमान यद्यपि अपने व्यावहारिक जीवन में सामाजिक विभाजन पर आचरण करते हैं लेकिन बुनियादी तौर पर समानता के सिद्धांत में आस्था रखते हैं और अगर दिल से नहीं तो जाहिरी तौर पर अवश्य आपसी बिरादरी के नजरिए को स्वीकार करते हैं।

'हटन' के द्वारा दी गई परिभाषा, इसके क्रियात्मक पहलुओं में कुछ संशोधनों के साथ, भारतीय मुसलमानों के सामाजिक श्रेणी विभाजनों पर खरी उतरती है। हटन का यह निष्कर्ष तर्कसम्मत है कि 'जाति' शब्द भारतीय मुसलमानों के श्रेणी विभाजन के लिए उसी प्रकार व्यवहृत होता है जिस प्रकार का इसका व्यवहार हिंदू समाज के संदर्भ में किया जाता है।

इस पूरी बहस से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं-(1) वैदिक वर्ण-व्यवस्था का निरंतर अग्रसर होते जाना। भारत की जाति व्यवस्था ऋग्वेदयुगीन वर्ण-व्यवस्था का उत्तरोत्तर विकसित रूप है। इसके विकास के मूल में व्यवसाय, वंश और संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। (2) कृषि व्यवस्था में स्थायित्व आ जाने के बाद इस व्यवस्था में धीरे-धीरे अनेक मर्यादाओं ने जन्म ले लिया। वर्तमान भारत की शहरी और दस्तकार आबादी इन मर्यादाओं को तोड़ रही है। (3) भारत के आर्थिक विकास के दौरान निम्न कारणों से अनेक जातियां अस्तित्व में आईं:-

(अ) एक समूह (जाति) से दूसरे समूह में अंतरण के आधार पर एक नए समूह ने जन्म ले लिया। (आ) प्रव्रजन (इ) पृथक व्यवसाय (ई) पैतृक और मूल जाति के श्रेणी से ऊपर उठने या नीचे गिरने के कारण। (उ) नए या गैर पारंपरिक धार्मिक समूह से अपने आप को जोड़ने या उसका अनुयायी बन जाने के कारण।(4) हिंदू धर्म के सामाजिक ढांचे का अवलंब जाति-व्यवस्था है। और इस ढांचे में प्रत्येक जाति का अपना एक विशिष्ट स्थान है। (5) जाति-व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएं हैं- (अ) अपनी-अपनी बिरादरी में शादी-ब्याह करना और गैर-बिरादरी में शादी-ब्याह की सख्त मनाही का होना। (आ) जातियों में प्रत्येक जाति का एक विशिष्ट स्थान और ब्राह्मणों का पद सर्वोपरि होना। (इ) एक जाति की सदस्यता जन्म से तय होती है, जो व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता था वह स्वाभाविक रूप से उसका सदस्य बन जाता था और आज भी ऐसा ही है। (ई) कभी-कभी एक व्यवसाय का संबंध एक जाति विशेष से जोड़ दिया जाता है या एक पेशावर को उसी पेशे से जोड़ दिया जाता है।

इस्लाम का आरंभ और विकास

जाति-व्यव.ा पर टिप्पणी करने से पहले यह उचित होगा कि हम भारत में इस्लाम के प्रवेश और उसके विकास-सोपानों का एक विहंगावलोकन कर लें। इस अवलोकन से उन लोगों की वंशगत व्यवस्था को समझने में बड़ी हद तक सहायता मिलेगी, जिन लोगों के जरिए इस्लाम भारत तक पहुंचा और धीरे-धीरे उसकी सीमाओं में विस्तार पाता गया बाद में इन लोगों की गणना मुस्लिम समाज के एक प्रतिष्ठित वर्ग में होने लगी।

इस्लाम का आरंभिक इतिहास

571 हिज्री में हजरत मुहम्मद सल्लल्लाह अलेह वसल्लम का जन्म हुआ। और उन्होंनें अरब की सरजमीन में खुदा की वहदत (ईश्वर की एक सत्ता) के विचार को लेकर एक नए धर्म का प्रवर्तन किया, जो इस्लाम के नाम से जाना जाता है। यह नया धर्म दो बुनियादी विचारों पर आधारित था-(अ) खुदा एक है और तमाम आलम पर कुदरत रखता है तथा समूची सृष्टि का रचयिता है। (आ) तमाम मुसलमान आपस में बराबर हैं और भाई-भाई हैं।

अतएव इन दोनों सिद्धांतों की वजह से मुसलमानों को अल्लाह की मदद हासिल है और इस्लाम के अनुयायियों में किसी प्रकार की विशिष्टता अथवा भिन्नता की गुंजाइश नहीं है। इन सिद्धांतों ने मुसलमानों में एक नए उत्साह का संचार किया। यह स्वाभाविक था कि वे अपने धार्मिक उत्साह के कारण इस्लाम के संदेश को दूर-दूर

तक पहुंचाएं। परिणामस्वरूप मुसलमानों की फौजें दूर-दराज इलाकों की तरफ अपने धार्मिक आवेग और उत्साह के साथ बढ़ने लगीं।

मुहम्मद साहब के जीवन काल के सभी युद्ध अरब की धरती तक ही सीमित रहे थे और इनके महाप्रयाण के बाद अरब के बाहर हमलों की शुरूआत होती है। हज़रत उमर (दूसरे खलीफा) के जमाने में इस्लामी विजयों का जो सिलसिला शुरू हुआ वह इतना बढ़ा कि भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं तक मुस्लिम फ़ौजें पहुंच गईं।

अमूमी शासन काल (661 से 750 ई.) के दौर में सारी इस्लामी सल्तनत पर एक ही केंद्र से हुकूमत होती थी और उम्मिया खानदान के लोग शासन करते थे। अब्बासिया युग में (750 से 1258ई.), जो उम्मिया खानदान के उत्तराधिकारी हुए, इस्लामी क्षेत्रों पर धीरे-धीरे केंद्रीय हुकूमत की पकड़ ढीली पड़ती गई किंतु उनके युग में बगदाद को, जो उनकी राजधानी भी थी, शिक्षा, साहित्य, विज्ञान एवं अन्य विद्याओं का केन्द्र बनाया गया और बग़दाद ईरानी सभ्यता का प्रतिनिधित्व करने लगा।

इस्लाम मध्य एशिया में

इस्लाम के उदय के लगभग चालीस वर्ष बाद ही अरबों ने फारस पर आधिपत्य कर लिया। इसके बाद से फारस के सारे इलाके खलीफा के अधीन रहे। शुरू के अब्बासी खलीफा बड़े विद्वान और चतुर थे। अतएव उन्होंने इतने बड़े देश पर बड़ी चतुराई के साथ हुकूमत की। लेकिन इनके बाद में होने वाले खलीफा राज-काज में अयोग्य साबित हुए। 820 ई. के लगभग खिलफात का एक केंद्रीय शक्ति के रूप में अस्तित्व समाप्त हो गया और पतन की प्रक्रिया शुरू हो गई। इसके बाद धीरे-धीरे अब्बासिया खानदान के हाथों से ताकत निकलने लगी और मध्य एशिया तथा फारस में आजाद हुकूमतें कायम होने लगीं। हालांकि फारस और मध्य एशिया की अधिकांश आबादी इस्लाम कुबूल कर चुकी थी लेकिन फिर भी वे अपनी खोई हुई राजनीतिक शक्ति को पुन: प्राप्त करने का संघर्ष करते रहे।

भारत में इस्लाम का प्रवेश

भारत पर मुसलमानों का पहला आक्रमण 650 ई. में हुआ। यह वही समय है जब अरबों ने फारस पर हमला किया था। इस मौके पर अरबों के जहाज़ों ने बंबई और सिंध के समुद्र-तटीय क्षेत्रों पर छापे मारे थे और मकसद सिर्फ लूटमार था। आधी शताब्दी के बाद 711 ई. में पहला व्यवस्थित इस्लामी आक्रमण सिंध पर हुआ और मुहम्मद बिन क़ासिम के नेतृत्व में अरबों ने सारे निचले सिंध पर आधिपत्य कर लिया। इस आक्रमण के बाद 250 वर्ष तक भारत मुसलमानों के आक्रमणों से सुरक्षित रहा।

दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ग़ज़नी के तुर्कों ने भारत पर निरंतर आक्रमण शुरू कर दिए और महमूद ग़ज़नवी (997 से 1030 ई.) ने भारत पर लगातार सत्रह आक्रमण किए लेकिन उसने इस मुल्क पर अपनी हुकूमत कायम न की। महमूद ग़ज़नवी के बाद मुहम्मद ग़ौरी ने भारत विजय का मंसूबा बनाया और इस मुल्क में मुसलमानों की हुकूमत कायम करने में सफलता की। मुहम्मद ग़ौरी के बाद कुतबुद्दीन ऐबक ने गुलाम वंश की हुकूमत कायम की दिल्ली को राजधानी बनाया। गुलाम वंश ने चौरासी वर्ष 1206-1290 ई.) तक शासन किया और मध्य भारत तक उन्होंने अपने शासन की सीमाओं का विस्तार कर लिया।

उत्तर भारत में इस्लाम का प्रसार

अठारहवीं शताब्दी ई. के अंत तक दक्षिण भारत के पश्चिमी तटों पर मुसलमान फैल चुके थे और बड़ी तेजी के साथ उनकी नई आबादियां कायम हो चुकी थीं। थोड़ी ही अवधि में उन्होंने इस क्षेत्र की राजनीति और समाज पर अपना अच्छा खासा असर कायम कर लिया था। एक ओर तो उनके विधि-विशेषज्ञ लोग मंत्रिमंडल, सेना तथा दूसरे विभागों में नौकरी करने लगे और दूसरी ओर उन्होंने गैर-मुस्लिमों को इस्लाम की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने अपने धर्म के श्रेष्ठ सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार किया और मस्जिदों का निर्माण कराया। मकबरे बनवाए, जो बाद में सूफियों और धर्म-गुरुओं के केंद्र बने। कुल मिलाकर भारत के दक्षिणी क्षेत्र में इस्लाम अरब के व्यापारियों के जरिए पहुंचा और वहां की धार्मिक आस्थाओं को गहरे में प्रभावित किया, उत्तर भारत में बाद में आया। इसके परिणामस्वरूप भारत के धार्मिक तथा सामाजिक आंदोलनों की शुरूआत इसी क्षेत्र से हुई।

इसके बाद उत्तर भारत में इस्लाम का आगमन हुआ। जहां कहीं भी मुस्लिम फौजें गईं, उस क्षेत्र में मुस्लिम व्यापारी बसने लगे और उनके पीछे-पीछे सूफी संत भी वहां पहुंचे। इन्हीं आप्रवासी सूफियों में दसवीं शताब्दी ईसवीं में 'अबू हफ़स अब्री बिन आल अदबी अल बसरी' सिंध पहुंचे। जो एक विद्वान और ब्रह्म ज्ञानी थे। दसवीं शताब्दी ईसवीं में मंसूर इलहाज ने समुद्री मार्ग से भारत की यात्रा की और मैदानी मार्ग से उत्तर भारत और तुर्किस्तान होते हुए वापस अपने वतन पहुंचे। ग्यारहवीं शताब्दी में बाबा रेहान बगदाद से दरवेशों के एक गिरोह को साथ लेकर भरूच पहुंचे। 1047 ई. में शीयी. बोरा फिरके के 'मुत्क़दी' ने यमन से आकर गुजरात में निवास किया और नूरूद्दीन या नूर सतगीर (1094-1143 ई.) ने वहां के कबनियों और कोरियों को मुसलमान बनाया।

महमूद ग़ज़नवी के हमलों के बाद उल्माओं, विद्वानों और धर्म गुरुओं की विस्तृत

सूची प्रस्तुत करने की गुंजायश यहां नहीं है। लेकिन उनमें से कुछ विशिष्ट लोगों का उल्लेख करना जरूरी लगता है। इनमें सबसे ज़्यादा मशहूर शेख अली बिन उस्मान हजवेरी थे जो दाता गंज बख्श के नाम से विख्यात थे। वे लाहौर में आकर बस गए थे और पंजाब में इस्लाम को प्रचारित करने लगे। उन्हीं के प्रयासों से इस क्षेत्र में इस्लाम फैला। उनके मार्गदर्शन में सैकड़ों हिंदू इस्लाम के दायरे में आ गए। इनमें से विशेष रूप से राय राजो का नाम उल्लेखनीय है। इस्लाम कुबूल करने के बाद उसका नाम शेख हिंदी रखा गया था। इनके खानदान के लोग 1947 से पहले तक आपके मज़ार के मुजाविर[2] थे। ग्यारहवीं शताब्दी के अंत में शेख इस्माइल बुखारी तथा बारहवीं शताब्दी में फरीदुद्दीन अत्तार भारत आए। इसी शताब्दी में ही ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती भारत आए और अजमेर को अपने धार्मिक क्रिया-कलापों का केंद्र बनाया। अपना समूचा जीवन धर्म के लिए समर्पित कर दिया और 1234 ई. में वहीं आपका निधन हुआ। अजमेर में आज भी उनकी मज़ार हर खास और आम की ज़ियारतगाह है। तेरहवीं शताब्दी में शेख जलालुद्दीन तबरेज़ी, जो शेख शाहाबुद्दीन सहरवर्दी के मुरीद थे, बंगाल के इलाके में पहुंचे। सैयद जलालुद्दीन बुखारी ने ओछ में और बाबा फरीदगंजेशकर ने पाकपटन में अपना डेरा बनाया और इस्लाम की तबलीग[3] का काम किया।

इन बुजुर्गों के अलावा बहावुद्दीन ज़करिया मुलतानी, कुतबुद्दीन बख़्तियार 'काकी', शेख निज़ामुद्दीन औलिया, जलालुद्दीन सुर्खपोश, मुहम्मद ग़ौस और सैयद शाह मीर के नाम यहां आदर के साथ लिए जा सकते हैं। शाह मदार (ग्यारहवीं सदी) और सखी सरवर (बारहवीं सदी) जैसे बुजुर्गों की शिक्षाओं ने हजारों की संख्या में लोगों का कल्याण किया और आज भी इन बुजुर्गों के प्रति हिंदू व मुसलमान दोनों समान रूप से श्रद्धा रखते हैं और उनके मजारों पर जियारत के लिए जाते हैं।

'मेव' जाति ने, जो मूल हिंदू थे, किन परिस्थितियों में इस्लाम स्वीकार किया, तत्कालीन साहित्य में इसका विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं होता। लेकिन इस क्षेत्र के निवासियों का कहना है कि सालार मसूद ग़ाज़ी ने 1002 ई. में मेवात नामक इलाके पर हमले किए और वहां इस्लाम के प्रचार का कार्य किया। लगभग तमाम मेवाती इसी जमाने में मुसलमान बन गए। अपनी धारणा की पुष्टि के लिए वे यह तर्क देते हैं कि 'मेव' कौम में सैयद सालार मसूद के झंडे की सलामी का रिवाज 1920 ई. तक चला रहा। झंडा किसी चौपाल में लगा दिया जाता था। औरतें और बच्चे चढ़ावा चढ़ाते थे। कुल मिलाकर इस युग से इस क्षेत्र में इस्लाम का प्रचार कार्य आरंभ हुआ और अब भी जारी है। मौलाना मुहम्मद इलयास और उनके पुत्र मौलाना मुहम्मद यूसुफ ने मेवातियों को इस्लाम की शिक्षाओं से परिचित कराया क्योंकि धर्मांतरण के बाद भी मेवातियों में प्राचीन रीति-रिवाज प्रचलित रहे और आज भी विद्यमान हैं इनके नामों से इसका

बाखूबी अंदाजा लगाया जा सकता है। अधिकांश 'मेव' मुसलमानों के नाम हिंदुओं जैसे होते हैं।

मेव कौम का सामाजिक ढांचा

मेव जाति का संबंध आर्य कबीलों से जोड़ा जाता है। इसलिए इनकी राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था का ढांचा प्राचीन आर्यों की समाज व्यवस्था के अनुरूप है। इनकी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था की धुरी परिवार है और इन परिवारों के समूहों से ही कबीलों का निर्माण हुआ। इनके यहां सरदारी वंशानुगत होती थी। गोत्र और पालों की व्यवस्था परिवारों के आधार पर की गई थी।

मेव जाति बारह पालों और बावन गोत्रों में बंटी हुई है। पाल एक पुरानी व्यवस्था का नाम है और गोत्र का संबंध मूल या वंश से है। गोत्रों के नाम प्राचीन महापुरुषों और कुछ प्राचीन स्थानों के नामों के आधार पर रखे गए हैं। मसलन मंगरिया, सरविया, बलिया और नया तंवर। मंगरिया गोत्र, मांगर नामक स्थान के कारण प्रसिद्ध हुआ। यह स्थान तहसील बल्लबगढ़, ज़िला गुड़गांव के एक गांव धौज के पास पहाड़ पर है। इन गोत्रों के लोग जगह-जगह फैले हुए हैं।

विवाह की रीतियां

शादी-ब्याह के प्राचीन हिंदवाना तरीके अब भी प्रचलित हैं लेकिन निकाह की रस्म का पालन किया जाता है। अब भी लड़की वालों के यहां तीन दिन तक बरात ठहरती है और भोग में शक्कर, चावल और घी जरूरी है। एक ही गोत्र में विवाह निषिद्ध है। बरात को जब भोजन कराया जाता है तो स्त्रियां गीत गाती रहती हैं। आम तौर पर विवाह सावन के महीने में होते हैं।

वेश-भूषा

पहले उनका परिधान दक्षिण-पूर्व पंजाब के लोगों जैसा मामूली हुआ करता था। लेकिन मेवाती एक खास अंदाज से पगड़ी बांधते थे। नवयुवक सुर्ख रंग की तहबंद बांधते थे। धोती और कमरी उनका सामान्य परिधान था। सर्दियों में दोहर या दोहरी चादर ओढ़ते थे। स्त्रियां विशेष काट के घाघरे और दुपट्टे, जिन पर रेशमी काम होता था। पहनती थीं। मेवाती भाषा में इन कपड़ों के नाम गदगा, लिहासी, जोल और कुरती थे। आभूषणों का चलन बहुत कम था।

धार्मिक आस्थाएं

मेवातियों की धार्मिक आस्थाएं हिंदू और इस्लाम दोनों धर्मों की परंपराओं पर अवलंबित हैं। लेकिन सामान्यत: वे लोग बेशुमार देवी-देवताओं की पूजा करते थे।

हिंदू त्यौहार

मेवातियों में होली के त्यौहार मनाने का रिवाज अब भी पाया जाता है। मुहर्रम मनाने का इस कौम में अजीबो-गरीब तरीका है। इसकी शुरूआत का पता नहीं। इस अवसर पर चावल और खीर आदि पकाई जाती है। औरतें और बच्चे अच्छे कपड़े पहनकर ताज़ियागाहों में जाते हैं। इस मुकाम पर औरतें एक तरफ जमा होकर सीना पीटती हैं और शोक के गीत गाती है। इन गीतों को 'हैदा' कहते हैं। दूसरी तरफ मर्द गोल चक्कर बनाकर तवाफ् (परिक्रमा, प्रदक्षिणा) करते हैं और 'हाय दोस' (धोखा हुआ) के नारे लगाते हैं।

भारत और मध्य एशिया की विजय

भारत और मध्य एशिया की जीत के पीछे कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियां रही हैं, इन परिस्थितियों के अवलोकन से जाति-व्यवस्था के विकास को समझने में मदद मिलेगी। (अ) हालांकि इस्लाम ने अरब की धरती से कबायली माहौल को खत्म कर दिया था, लेकिन जब पूर्व और पश्चिमी इलाकों में इस्लाम का विस्तार हुआ तो वहां की सभ्यताओं ने इस्लाम के राजनीतिक और सामाजिक ढांचे को प्रभावित किया और इस्लाम ने उनकी कुछ प्रवृत्तियों को अंगीकार किया तथा इस्लाम से उनकी कुछ सामाजिक व्यवस्था में पेचीदगियां पैदा हो गईं। यहां तक कि इस्लाम ने यूनानी, ईरानी और बाजंतीनी जैसी विकसित सभ्यताओं से प्रभाव ग्रहण किया। इस प्रभाव के कारण इस्लाम की मूल आत्मा विकृत हो गई। धीरे-धीरे अब्बासियों के दौर में ईरानी सभ्यता का बोलबाला हो गया। इसलिए ईरानी शिष्टाचार और मर्यादाओं में समाज बंध गया तथा अरब का इस्लाम केवल नाम मात्र के लिए रह गया। दसवीं सदी में ईरानियों के राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ जाने का मतलब यह था कि राजनीतिक शक्ति अरबों के हाथों से निकल कर ईरानियों के हाथों में पहुंच गई। बल्कि यह कहना चाहिए कि यह ईरानी सभ्यता के वर्चस्व का प्रकट रूप है। जब इस्लाम मध्य एशिया के तमाम देशों से गुजरता हुआ दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में भारत में पहुंचा तो इस्लामी सभ्यता आंतरिक और बाह्य दोनों रूपों से पूरी तरह ईरानी हो चुकी थी। भारत का मुस्लिम शासक वर्ग स्वयं को ईरानी जीवन-शैली का प्रतिनिधि समझता था। भारत में मुस्लिम

शासन काल के पूरे जमाने में फारसी दरबारी और शैक्षिक भाषा बनी रही, जबकि धर्म की भाषा अरबी थी। (आ) अरबी धार्मिक भाषा थी और फारसी सरकारी। दोनों के अंतर से एक अहम् सच्चाई पर रोशनी पड़ती है। अरबी कुर्आन की भाषा है। इसलिए अरबी भाषा और अरबी नस्ल के लोग श्रेष्ठ समझे गए। इसके विपरीत फारसी अदबी और सरकारी भाषा रही है। भारत में विदेशी नस्ल के सभी आप्रवासी ईरानी सभ्यता से प्रभावित होकर स्वयं को हुक्मरान तबके से जोड़ लेते थे। शेख़ और सैयद ये दोनों मक्का और मदीना के संभ्रांत वर्ग के लोगों में गिने जाते थे और आज भी उच्चकोटि के बुद्धिजीवी समझे जाते हैं। मुगल और पठान, जो वंश और प्रतिष्ठा दोनों दृष्टियों से अपने आपको प्राचीन हुक्मरान तबके से जोड़ते हैं, अब भी अच्छे योद्धा समझे जाते हैं जब कि मुगल और पठान वंश-परंपरा की दृष्टि से दूसरे समूहों जैसे शेख़ और सैयद से श्रेष्ठतर माने जाते हैं, हालांकि इनका संबंध विभिन्न वंश-परंपराओं से है। इसी तरह इन भारतीय मुसलमानों ने, जो इस्लाम के अनुयायी बन चुके थे, अपना एक पृथक समूह बनाकर आपस में एकता कायम कर ली। लेकिन इनमें भी अपेक्षाकृत श्रेणी विभाजन पाया जाता है।

जात-पात और इस्लाम

सामाजिक दर्शन की हैसियत से जाति-व्यवस्था इस्लाम के बुनियादी उसूलों के एकदम विपरीत है क्योंकि इस्लाम में अखिल विश्व के मनुष्यों के बीच समानता और भाई-चारे की शिक्षा पाई जाती है। धार्मिक दृष्टि से इस्लाम वंश या नस्ल के आधार पर किसी प्रकार के विभाजन को स्वीकार नहीं करता है। जाति का सिद्धांत समाज के एक समूह को दूसरे समूह से अलग करने पर बल देता है। चाहे एक मुसलमान कोई व्यवसाय करता हो या किसी घराने में पैदा हुआ हो, अल्लाह की नजर में बराबर है और मुसलमानों में किसी प्रकार की भिन्नता या विशिष्टता नहीं होगी। अगर कोई व्यक्ति बड़ा बनता है तो वह अपने धार्मिक ज्ञान और सदाचार के कारण ही बड़ा बन सकेगा। हिंदुओं की जाति-व्यवस्था में साफ-साफ बंटवारा पाया जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार ब्रह्मा सृष्टि का रचयिता है और कर्म-फल के आधार पर उसका जन्म एक जाति विशेष में हुआ है। इसके विपरीत इस्लाम सार्वभौमिक समानता पर बल देता है।

हजरत मुहब्बत साहब ने फरमाया:

''ऐ लोगो! हां बेशक तुम्हारा रब एक है और तुम्हारा बाप एक है। हां अरबी को अज्मी पर, सुर्ख को स्याह पर कोई फजीलत (श्रेष्ठता) नहीं। बल्कि तक्वा (आत्मसंयम) के सबब से।''

इस्लाम का बुनियादी दर्शन

इस्लाम का बुनियादी दर्शन दो उसूलों पर आधारित है-1. अल्लाह की इबादत 2. और तमाम मुसलमानों में आपस में बिरादराना बराबरी। इस्लाम के नजरिए की रूह से अल्लाह एक है, वह दुनिया का बनाने वाला है और उसका कोई शरीक नहीं।

इस्लाम बराबरी से नाबराबरी

इस्लाम की समतावादी दृष्टि और जनतांत्रिक व्यवस्था केवल एक संगठित समाज में ही संभव हो सकती थी, जैसा समाज उस जमाने में अरबों में पाया जाता था। इस्लाम के समतावादी विचारों को उस समय के अरब की परिस्थितियों में ही कार्य रूप दिया जा सकता था। इस्लाम के विस्तार के युग में दूसरी जटिल सभ्यताओं से उसकी निकटता के कारण उसकी जनतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था और समतावाद दृष्टि शनैःशनै ह्रास की ओर बढ़ने लगी और इस्लाम का सामाजिक ढांचा उस जमाने के सामाजिक वर्ग-विभाजन की दुष्प्रवृत्ति का शिकार हो गया। अमीर मुआविया के जमाने में बादशाह ने इस्लामी जम्हूरियत को उखाड़ फैंका और वंशानुगत हुकूमत होने लगी। सामाजिक विभाजन अपने रूप में वापस आ गया। ईरान का इस्लामी समाज पहले की तरह बदस्तूर बरकरार रहा।

जात-पात वाले क्षेत्रों में इस्लाम का प्रवेश

ईरान और भारत में प्रचलित जाति-व्यवस्था के आधार पर इस्लामी समाज में परिवर्तन आया है, उसके अध्ययन के लिए यह जरूरी प्रतीत होता है कि दोनों देशों की जाति-व्यवस्था का तुलनात्मक विवेचन किया जाए।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है सामाजिक विभाजन के रूप में जाति का उदय भारतीय और ईरानी समाज में हुआ था। इस व्यवस्था का इतिहास उसी युग से शुरू होता है जब ये जातियां-ईरानी आर्य और भारतीय आर्य-एक ही जाति के रूप में मिलकर रहती थीं। ईरान में चार वर्गों का विभाजन 'अवेस्ता' के जमाने से चला आ रहा था। ईरान के चार वर्ग (धार्मिक, सैनिक, अवाम और गुलाम) भारत की वर्ण व्यवस्था के अनुरूप थे। सासानियों (तीसरी सदी से सातवीं सदी तक) के युग में समाज चार वर्गों में बंटा रहा। अंतर सिर्फ इतना हुआ कि तीसरा वर्ग अवाम के बजाय सरकारी कर्मचारियों का हो गया। और नया चौथा वर्ग काश्तकारों और गडरियों का बना। इस्लाम के वहां पहुंचने के बाद सासानी हुकूमत का अंत हो गया और इस्लाम के समतावादी व भाईचारे के नजरिए को फारस की सुदृढ़ जाति-व्यवस्था के सामने झुकना पड़ा। फारस के मशहूर आलम नसीरूद्दीन 'अतवी' ने सामाजिक विभाजन की

हिमायत की है। इसके साथ ही उन्होंने उस विभाजन को भी सराहा है जो सासानियों के युग में विद्यमान था। उन्होंने 'अख्लाक-ए-नासिरी' में लिखा है कि, ''हर तबके को अपने मुकाम पर रहना चाहिए।'' सातवीं शताब्दी की एक कृति 'जामा-मुफ़ैदी' में चार वर्गों में विभाजन को बनाए रखा गया है, लेकिन क्रम को बदल दिया गया है। और महत्व की दृष्टि से धार्मिक वर्ग को द्वितीय स्थान पर रखा गया है। सैनिक वर्ग को पहले नम्बर पर रखा गया है। निजामुल्मुल्क 'तौसी' ने 'सियासतनामा' में अपने अधीनस्थ लोगों को हिदायत दी है कि वे लोगों को उनके मुनासिब तबकों में बांट कर रखें।

जब बारहवीं शताब्दी में इस्लाम भारत में आया तो इससे पहले ही उसकी सामाजिक संरचना में परिवर्तन आ चुका था और समता व भाई-चारे के सिद्धांत एक कल्पना मात्र बन कर रह गए थे। और एक विचार या कल्पना के रूप में ये आज भी विद्यमान हैं। लेकिन व्यवहार में विभाजन और विभेद दिखाई देने लगे। बारहवीं शताब्दी के मुस्लिम विजेता साफतौर पर दो समूहों में विभक्त थे। धार्मिक समूह, जिसमें धर्म प्रचारक शामिल थे, और सरकारी कर्मचारी व अवाम, जिसमें सैनिक, व्यापारी और दस्तकार भी शामिल थे। आरंभ में भारत के मुस्लिम समाज में धार्मिक समूह वंशानुगत या खानदानी नहीं होता था, जबकि सरकारी कर्मचारियों के साथ बाप की मृत्यु के बाद बेटे के उत्तराधिकार का नियम लागू होता था। धीरे-धीरे भारत में पुरोहिताई भी वंशानुगत हो गई। पुत्र अपने पिता का व्यवसाय अपनाने लगा। इसके बाद आस्ताने और तकिए खानदानी इजारे बन गए।

आप्रवासी आर्य भी तीन भिन्न वर्गों में बंटे हुए थे-धार्मिक, राज कर्मचारी और सामान्य जन। इनकी यह विभाजन व्यवस्था भारत में प्रचलित हो गई। भारत में मुसलमानों में जात-पात के निज़ाम की शुरूआत बिल्कुल इसी रूप में हुई थी। अंतर केवल इतना है कि आर्य एक ही मूल से संबंधित थे और जबकि मुसलमानों में कई नस्ली गिरोह शामिल थे। मसलन अरब, अफ़गान, तुर्क और ताज़िक आदि। भारतीय मुसलमानों के मुकाबले में आप्रवासी मुसलमानों ने भारत में बुनियादी तौर पर दो वर्गों के बंटवारे को बरकरार रखा। एक, आप्रवासी और दूसरे जो मूल से भारतीय थे, व आप्राविसयों के विभिन्न नस्ली गिरोहों में उनकी अंदरूनी खूबियों को गौण स्थान प्राप्त था। लेकिन फिर भी शादी-विवाह के मामले में नस्ली गिरोह अपनी विशिष्टता का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे क्योंकि अंततोगत्वा आप्रवासी विजेता थे। वे भारत के बाहर उच्च वर्गों से संबंध रखते थे। इसलिए वे वंशगत श्रेष्ठता के दावेदार थे। इसके विपरीत भारत के स्थानीय मुसलमान हुक्मरान तबके और उनकी संतानों से समानता के व्यवहार की अपेक्षा नहीं करते थे। हालांकि उनसे जज़िया कर वसूल नहीं किया जाता

था। भारतीय मुसलमानों में सामाजिक विशिष्टता का आधार वंशगत विभेद था, जैसा कि आर्यों में पाया जाता था। विदेशी और भारतीय मुसलमानों के बीच 'अशरफ' या 'शुर्फ़ा' शब्द से अंतर किया जाता था। 'अशरफ' का प्रयोग आप्रवासियों अर्थात सैयद, मुगल, पठान और शेख के लिए किया जाता था और भारतीय मुसलमान के लिए 'अर्जाल' (तुच्छ लोग) शब्द का इस्तेमाल होता था। 'शुर्फा' संभ्रांत लोग या 'अशरफ' अरबी शब्द 'शरीफ' का बहुवचन है। संयोग से 'आर्य' शब्द का अर्थ भी बिल्कुल यही है।

भारत में इस शुरूआती वंशगत विशिष्टता के कारण मुस्लिम सामाजिक ढांचा धीरे-धीरे हिंदुओं की जाति-व्यवस्था के रंग में रंगने लगा। समय के साथ-साथ आने वाले कबीलों के लोगों की संख्या में वृद्धि होने लगी क्योंकि उन्होंने दूसरे कबीलों में शादी-विवाह का सिलसिला शुरू कर दिया था। दिल्ली के सुल्तानों के युग से भारत में एक नए मुस्लिम समाज के निर्माण की शुरूआत होती है। क्योंकि इस युग के मुस्लिम चिंतक नस्ल की बुनियाद पर सामाजिक विभाजन के पक्षधर थे और किसी भी सूरत में इस विचार के समर्थक नहीं थे कि इस्लाम के समतावादी आदर्श को भारतीय और आप्रवासी मुसलमानों पर एक जैसा लागू किया जाना चाहिए।

आरंभिक युग में लोगों ने आवश्यकतानुसार हुनर और कलाएं सीख लीं। इसकी क्षमताएं उनमें मौजूद थीं। जैसे लेखन-कला (सुलेख), घुड़सवारी, साहित्य, लुहारी और बढ़ईगीरी। साहित्य और ललित कलाओं की ओर व्यक्ति की रुचि अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण होती है। हर कला विरासत के रूप में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुंचती है और हरेक पीढ़ी में लोगों ने अपनी-अपनी क्षमताओं के अनुसार अपने पैतृक व्यवसाय के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धियां हासिल की हैं और नई ईजादें की हैं। इस प्रकार हरेक कला, शिल्प और व्यवसाय में लोगों ने दक्षता प्राप्त कर ली, जोकि उनकी आजीवका के साधन भी थे।

समाज में वर्चस्व उन्हीं लोगों का था, जो किसी प्रतिष्ठित व्यवसाय को अपनाये हुए थे। इसलिए उनका एक अधिकार प्राप्त वर्ग बन गया और सरकारी नौकरियों के योग्य भी उन्हें ही पाया गया। धारणा यह थी कि उनके अच्छे कामों से बादशाह की हुकूमत में स्थायित्व आएगा और वह फलेगी-फूलेगी।

इसके विपरीत यह स्वीकार किया गया कि जिन निचले लोगों को अपवित्र और घृणित काम करने की जिम्मेदारी सौंपी गई है, वे इसी के योग्य हैं। जैसे निर्लज्जता, चापलूसी, कंजूसी, कपट-व्यवहार, बेईमानी, बदकारी, अहसान फरामोशी और गंदगी जैसे विषयों पर 'बर्नी' ने बड़े विस्तार के साथ बातचीत की है जिसके बयान करने की यहां गुंजायश नहीं है।

बहरहाल, 'बर्नी' के नजरिए के मुताबिक नवागंतुक उच्च वर्ग के आप्रवासी मुसलमानों के लिए दिल्ली में अलग से नई आबादियां बसाई गईं। सुल्तान ग़यासुद्दीन बलबन के शासनकाल में दिल्ली में निम्नलिखित नए मुहल्ले बसाए गए–

मुहल्ला अब्बासी, मुहल्ला संजरी, मुहल्ला ख़्वार ज़म शाही, मुहल्ला दीलीनी, मुहल्ला अल्वी, मुहल्ला आताबकी, मुहल्ला गौरी, मुहल्ला चंगेज़ी, मुहल्ला रूमी, मुहल्ला सनक़री, मुहल्ला मूसल, मुहल्ला समरकंदी, मुहल्ला काशगरी और मुहल्ला खताई। सुल्तान जलालुद्दीन ख़िलजी के जमाने में मुगलों का एक नया मुहल्ला कायम हुआ जिसका नाम मुगलपुरा रखा गया और इन मुगलों को 'नो मुस्लिम' नाम से पुकारा गया।

आप्रवासी मुसलमान सिपाही पेशा थे और अपनी नस्ली श्रेष्ठता के कारण देसी मुसलमान से अलग-थलग रहते थे। इस बिना पर यहां के मुसलमानों को हेय दृष्टि से देखा जाता था और उन्हें सरकारी नौकरियों से वंचित रखा जाता था। एक दो मौके पर देसी मुसलमानों ने राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की कोशिश की तो आप्रवासी मुसलमानों ने उनके खिलाफ बगावत कर दी और उन्हें परास्त कर दिया। एक ऐसी घटना सुल्तान नसीरुद्दीन मेहमूद के जमाने में घटी थी और अम्मावुद्दीन रेहान ने अपना प्रभुत्व कायम कर लिया था। लेकिन तुर्कों ने बलबन की अगुआई में उसे ध्वस्त कर दिया था। इसी प्रकार कुतबुद्दीन मुबारक शाह 'खिलजी' की हत्या के बाद हसन पर्दारी ने हुकूमत की बागडोर अपने हाथों में ले ली तो 'बर्नी' ने उसकी दूसरी बुराइयां बयान करने के 'बद असल' से संबोधित किया क्योंकि वह भारतीय मूल का था। गुजरात की पर्दारी नामक निम्न जाति से उसका संबंध था। इस आचरण पद्धति के कारण देसी मुसलमानों को अपने पैतृक व्यवसाय तक ही सीमित रहना पड़ा और मुसलमान होने के बाद भी उन्हें तुर्कों के बराबर सामाजिक हैसियत प्राप्त न हो सकी।

अकबर बादशाह के युग में मुस्लिम समाज के गठन और निर्माण का एक नया दौर शुरू होता है। देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए और राजनीतिक स्थिरता लाने के लिए अकबर और उसके उत्तराधिकारियों ने हर वर्ग के लोगों की सरपरस्ती की और सरकारी कारखाने कायम किए और हर किस्म के दस्तकारों को अपने यहां नौकरी दी। इसका महनीय परिणाम यह हुआ कि भारत के उन प्राचीन निवासियों को सम्मान प्राप्त हो गया जो इस्लाम कुबूल कर लेने के बाद भी उपेक्षा का जीवन बिता रहे थे। लेकिन इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम समाज व्यवसाय पर आधारित वर्गों में बंट गया। हिंदुओं के प्राचीन जातिगत ढांचे ने मुस्लिम समाज के समक्ष विभाजन का एक नमूना पेश किया और इसी नमूने के आधार पर मुसलमानों में भी व्यवसाय पर आधारित वर्गों का निर्माण हो गया। हर व्यवसाय के

लोगों के अपने विशिष्ट रीति-रिवाज थे और वे लोग अपने समव्यवसायी समूह में शादी-ब्याह करने लगे। चाहे एक लड़की जीवन भर घर बैठी रहे लेकिन वे लोग किसी भिन्न व्यवसाय से जुड़े परिवार में उसका विवाह नहीं कर सकते थे। अपने व्यवसाय को पैतृक रूप देने की इच्छा से वे लोग अपनी संतान को भी उस कला की शिक्षा दिलवाने लगे।

मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मुगलकाल तक मुसलमानों ने इस देश में प्रचलित उन सभी पेशों को अपना लिया था जिनके जरिए उन्हें रोटी मिल सकती थी। शाही कारखानों का जिक्र करते हुए बर्नियर लिखता है कि उनमें से जिन बड़े दालानों में कारीगर बैठे थे, वे अलग-अलग उत्पादनों के कारखानों से जुड़े थे। उनमें से कुछ एक निरीक्षक की निगरानी में कारचोब और चिकनदोज और जरदोज़ी वगैरह का काम करते थे और किसी में सुनार और किसी में चित्रकार और शिल्पकार और किसी में रोग़नसाज़ और किसी में बढ़ई और खरादी और किसी में दर्ज़ी और मोची और किसी में दाराई, चोड़िया, किमख्वाब और बारीक मलमल बनाने वाले जुलाहे रहते थे, जो पगड़ियां बुनने और कमर बांधने के फूलदार जरी वाले पटके तथा जनाने पाज़ामों के लिए बड़े नाजुकअदा कपड़े तैयार करते थे। ये तमाम कारीगर इन्हीं धंधों में अपनी जिंदगी बसर करते थे और जिस हालत में जो पैदा हुआ था उसमें तरक्की करने की कोई भी कोशिश नहीं करता था। मिसाल के तौर पर कारचोब और चिकनदोज और सोज़नकार अपने बेटे को अपना ही पेशा सिखाता था और सुनार का बेटा सुनार ही होता था और शहर का हकीम अपने बेटे को हिकमत ही सिखाता था। यहां तक कि कोई व्यक्ति अपने पेशे के अलावा दूसरे पेशे में शादी-ब्याह नहीं करता था और मुसलमान भी इस रीति का पालन बड़ी सख्ती के साथ करते थे, ठीक हिन्दुओं की तरह। इस कारण बहुत सी सुंदर लड़कियां कुंवारी ही बैठी रहती थीं। हां, अगर उनके माता-पिता जात-पात और व्यवसाय के विचार को मन से निकाल देते तो उनकी शादी अच्छे घराने में हो सकती थी।

बर्नियर के उपर्युक्त कथन से यह बात पूर्णत: सिद्ध हो जाती है कि हिंदुओं की जाति-व्यवस्था के नियम नव-मुस्लिमों के साथ मुस्लिम समाज में प्रवेश कर गए थे। इन पेशावरों के प्रवेश ने इस्लामी व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया और एक ऐसे समाज को जन्म दिया जो पेशों की बुनियाद पर बंटा हुआ था।

अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिक बिखराव और आर्थिक संकट से विवश होकर मुसलमानों ने भारत के हर व्यवसाय को अपना लिया। आमतौर पर मुसलमान सिपाहीगिरी का पेशा करते थे लेकिन इस शताब्दी में इस पेशे के महत्व में काफी कमी आ चुकी थी। अपनी जरूरत के कारण कोई व्यक्ति अगर घोड़ा मोल लेकर सिपाही हो

भी जाता, तो वेतन नहीं मिलता था। इसलिए लोगों ने इस पेशे को छोड़कर दूसरे पेशे अपना लिए। 'सौदा' का पैतृक व्यवसाय सिपाहीगिरी था लेकिन उन्होंने शायरी का पेशा अपना लिया और अंत तक इसी पेशे से अपना भरण-पोषण करते रहे। यही हाल 'ग़ालिब' का था। मुसहफी का संबंध अमरोहा के एक कलाल खानदान से था। बाद में तिजारत का पेशा अपना लिया और फिर इसके बाद वही शायरी का पेशा। 'सौदा' ने अपने एक 'शहर-ए-आशोब[4]' में विभिन्न व्यवसायों से जुड़े हुए लोगों की बदहाली का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। उदाहरण के लिए मुल्ला खतीब[5], वाइज[6], तबीब (हकीम), दुकानदार, सौदागर, बावर्ची, शायर, मुवक्किल, मुअल्लिम[7], कातिब, खत्तात, कव्वाल और शेख की हालत बहुत खराब थी क्योंकि दरबार से जुड़े होने के बाद भी वे सब आर्थिक तंगी के शिकार थे। इसी तरह नज़ीर अकबराबादी ने अपने शहर-ए-आशोब में आगरा के लोगों की बेरोज़गारी पर गहरा दुख प्रकट किया।

इस दृष्टि से मुसलमानों ने अपने बाप-दादों के धंधों को छोड़कर दूसरे पेशे अख्तियार कर लिए। उन्हीं पेशों ने बाद में जाति का रूप ले लिया और हर पेशावर (व्यवसायी) की जाति उसके पेशे के आधार पर निश्चित कर दी गई। मौजूदा भारतीय मुस्लिम समाज चार बड़े वर्गों या जातियों में बंटा हुआ है-

1. शराफ जो द्वीपनुमा अरब, फ़ारस, तुर्किस्तान या अफगानिस्तान के प्राचीन निवासियों से अपना नस्ली संबंध जोड़ते हैं।

2. ऊंची जाति के हिंदू जिन्होंने इस्लाम कुबूल कर लिया था।

3. प्रतिष्ठित व्यवसायों से जुड़ी जातियां।

4. अछूतों की वे जातियां जिन्होंने इस्लाम कुबूल किया था। मसलन भंगी, चमार और दूसरे निम्न वर्गों के पेशावर लोग।

मुसलमानों में विद्यमान जातियां

बंगाल से लेकर पंजाब तक के सारे उत्तर भारत में बहुत घनी आबादी है। और इस क्षेत्र में बड़ी संख्या में मुसलमान रहते हैं। ये मुसलमान दो समूहों में बंटे हुए हैं। पहले वे लोग हैं जो आरंभ में भारत आने वाले सैयद, शेख, मुगल और पठानों की नस्ल से जुड़े हुए हैं, उनकी संतानें हैं। दूसरे स्थानीय लोगों की संतानें हैं यानि जिनके पूर्वज मुसलमान हो गए थे। देशी मुसलमान आमतौर पर अपने पेशों के नाम से याद किए जाते हैं। वे निम्नलिखित तीन श्रेणियों में बंटे हुए हैं-1. हिंदू समाज की उच्च जातियों के लोग जो मुसलमान हो गए थे, जैसे राजपूत। 2. वे पेशावर लोग जिनका पेशा साफ-सुथरे कामों से संबंध रखता था। इस श्रेणी में तीसरी श्रेणी को छोड़कर

बाकी तमाम पेशावर शामिल किए जाते थे। 3. घृणित काम करने वाली जातियां जैसे भंगी, हरिजन और मेहतर आदि।

1931 की जनगणना के अनुसार मुसलमानों की निम्नलिखित बड़ी जातियां थीं– 1. अशराफ–सैयद, मुगल, पठान और शेख। 2. मुस्लिम राजपूत। 3. मेवाती मुसलमान 4. साफ–सुथरे काम करने वाली जातियां–जुलाहे, दरजी, क़साई, नाई या हज्जाम, कुंजड़े, मीरासी, कुम्हार, मनिहार, धुनिया, तेली, धोबी, गद्दी और फकीर। 5. घृणित काम करने वाली जातियां–भंगी और हरिजन आदि।

इस विभाजन के फिर और अनेक उपविभाजन हुए। जैसा कि हिंदुओं में देखा जाता है।

हिंदू जाति–व्यवस्था में निम्न जाति के लोगों में अपनी जाति को ऊंचा उठाने या साबित करने की कोशिशें देखी जाती हैं। इसलिए वे लोग अपने मूल को ब्राह्मण या क्षत्रिय के साथ संबद्ध कर देते हैं। उदाहरण के लिए अहीर अपना संबंध चंद्रवंशी यादवों के साथ स्थापित करते हैं। बिल्कुल इसी प्रकार का मिलता–जुलता दावा मुसलमानों में भी पाया जाता है। अपने सामाजिक दर्जे को बढ़ाने के लिए इसमें भी छोटी जातियों के लोग अपनी वंश परंपरा का संबंध ऊंची जाति के पूर्वजों से जोड़ते हैं। उत्तर भारत में इस प्रकार के उदाहरण बड़ी संख्या में मिलते हैं। जैसे राजपूत जाति के लोग, जो मुसलमान हो गए थे, अपने नाम के साथ 'ख़ान' जोड़कर पठानों या अफगानों के वंशज होने का दावा करते हैं। अभी ज्यादा ज़माना नहीं बीता है, कसाइयों ने अपने नाम के आखिर में कुरेशी शब्द जोड़कर कुरेश होने का दावा शुरू कर दिया है। कुरेश अरबों का एक कबीला था, जिसमें हज़रत मुहम्मद साहब का जन्म हुआ था और इस कबीले को समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इसी प्रकार जुलाहों ने अपने नाम के आगे 'अंसारी' शब्द जोड़कर मदीना के अंसारों से अपना वंशगत संबंध बताना शुरू कर दिया है। लेकिन ऐसे दावों और परिवर्तनों का आशय यह नहीं है कि ये नकली अशराफ, असल अशराफ के दायरे में फौरी तौर पर कुबूल कर लिए जाते हैं। इसके लिए लंबे समय की ज़रूरत होती है। इस दर्जे में स्वीकृति प्राप्त करने में एक या दो पीढ़ियां गुजर जाती हैं। इसके बाद ही उन्हें अशराफ स्वीकार किया जाता है। कई बार ऐसा भी होता है कि निचली जातियों के लोग अपना सामाजिक दर्जा बढ़ाने के लिए अपने खानदान के पुराने रीति–रिवाजों को मानना बंद कर देते हैं और धीरे–धीरे ऊंची जातियों के रीति–रिवाजों को अपना लेते हैं। जैसे कि अगर उनकी औरतें पर्दा नहीं करती थीं तो वे पर्दा कराना शुरू कर देते हैं। इसके अलावा निचली जाति के लोग शादी–ब्याह और जनाज़े की नमाज़ के मौक़े पर धार्मिक रस्मों की आदयगी के लिए किसी सम्मानित मौलवी की सेवाएं हासिल करते हैं। जैसे कि हिंदू जाति–व्यवस्था में

निम्न जाति के लोग ऊंची जाति में प्रवेश पाने के लिए ऐसे ही तरीके अपनाते थे और यह उस व्यवस्था की मूलभूत विशेषता थी। मुसलमान भी अपनी जात-पांत के निज़ाम में बाहरी और भीतरी तौर पर ऐसे ही तरीकों पर अमल करते थे।

1931 की जनगणना की रिपोर्ट में उन नीची जातियों की एक लंबी सूची दी गई है जिन्होंने अपना सामाजिक दर्जा बढ़ाने की कोशिश में नए नाम अपना लिए और इस आधार पर एक नई वंश परंपरा के दावेदार बन गए। यह सूची सिर्फ हिंदू जातियों पर केंद्रित है और इसमें सिर्फ तीन मुसलमान जातियां दर्ज हैं-1. मुस्लिम जुलाहा-जिन्होंने शेख या शेख अंसारी का नया नाम अख्तियार किया था। 2. मीरासी-इन्होंने कुरेशी होने का दावा किया था। 3. कस्साब-इन्होंने शेख कुरेशी होने का दावा किया था।

श्रेष्ठ जनों में जात-पात की प्रवृत्ति और आचरण पद्धति

नेस्फील्ड ने मुसलमानों के चार ऊंचे वर्गों के लिए जाति शब्द के प्रयोग का सीधे-सीधे खंडन किया है। और वह उन चार वर्गों को कबीले का पर्याय बताता है। लेकिन जे.सी. विलियम्स ने इन चार वर्गों को 'जाति' स्वीकार किया है। नेस्फील्ड ने जाति की परिभाषा बहुत ही सरसरी अंदाज में की है। और उसकी यह परिभाषा व्यवसाय और विवाह, इन दो चीजों तक सीमित है। इसके अलावा वह अपनी परिभाषा की कसौटी पर एक समूह में विभाजन के नजरिए को परखता है। अतएव उसे 'जाति' के स्थान पर 'क़बीला' शब्द अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। श्रेष्ठ जनों (अशराफ) के काम-काज के बारे में लेखक का यह विश्लेषण बिल्कुल सही मालूम होता है कि ये लोग कोई भी पेशा अपना सकते थे। इन कबीलों का कोई भी व्यक्ति नमाज़ के समय इमाम की भूमिका में काम कर सकता था। बशर्ते की वह धार्मिक ज्ञान की दृष्टि से इसका अधिकारी हो। लेकिन इसके तुरंत बाद ही उसने लिखा है कि अधिकांश पठानों और मुगलों में सैयद और शेख इमामत[8] के फर्ज को अंजाम देते हैं। इसकी वजह यह है, सैयद और शेख दोनों को आरंभ में हिज्रत[9] करके आने वाले मुस्लिम शुरफा (श्रेष्ठ जनों) की संतानों में से समझा जाता है। अतएव उन्हें गण्यमान्य माना जाता है। हिंदुओं में ब्राह्मणों को भी यही सम्मान प्राप्त है। इसके अलावा यह भी महसूस होता है कि नेस्फील्ड ने मुसलमानों में मुल्लाई की परंपरा को नजरअंदाज कर दिया है। एक पीर-ए-तरीकत[10] सिर्फ उपदेश ही नहीं देता बल्कि इमामत भी करता है और साथ-साथ मुरीदों की आध्यात्मिक जिज्ञासाएं भी शांत करता है। मुल्लाओं की यह परंपरा केवल भारत में ही नहीं है बल्कि दूसरे इस्लामी देशों में भी पाई जाती है। लेकिन भारत में ये धार्मिक कार्य सिर्फ सैयदों और शेखों की इजारेदारी बन कर रह गए हैं और ये पद

पैतृक बन गए हैं। उत्तर भारत में एक पीर-ए-तरीकत या तो शेख होता है या सैयद चाहे उसकी जाति कोई दूसरी भी हो लेकिन वह अपना वंशगत संबंध किसी सैयद सूफी से जोड़ लेता है और इसी सूफी का नाम अपनी जातिगत 'उपाधि' के रूप में प्रयुक्त करता है। मिसाल के तौर पर चिश्ती, जलाली, कदारी और कुतबिया आदि।

यह एक स्पष्ट सच्चाई है कि प्राय: ऐसा भी होता है कि एक व्यक्ति या तो अपने पिता का पेशा अपनाता है या उससे बड़ा कोई पेशा। यदि बड़ा पेशा अपनाता है तो वह अपनी जाति या बिरादरी के लोगों में बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। जैसे कि अगर बज़ाज़ी का काम करने वाले किसी शेख या सैयद का लड़का विद्वान अध्यापक बन जाता है तो वह अपनी बिरादरी में ज्यादा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।

नेस्फील्ड की यह राय कि चारों अशराफ के तबके आपस में शादी-ब्याह कर सकते हैं, व्यावहारिक दृष्टि से उचित नहीं लगती क्योंकि हर तबके में शादियां समकक्ष या 'हमज़ात' लोगों के बीच ही होती थीं। और बड़ी हद तक अब भी यह बात पाई जाती है। यदि अपने सीमित कुफू (मुसलमानों में हिंदुओं की भांति एक गोत्र) में उचित वर नहीं मिलता और शादी का संबंध किसी कुफू में करने पर मजबूर होना पड़ता है तो यह तरीका हमेशा से चला आ रहा है कि वह समूह कम से कम जाति में उनके बराबर हो। इसके विपरीत यदि अपनी जाति से नीची जाति में रिश्ता करने पर मजबूर होना पड़ता है तो यह शादी बिरादरी के बाहर की शादी कहलाएगी। आमतौर पर ऐसा होता है कि लोग नीची जातियों से लड़की लेना पसंद करते हैं मगर उन्हें अपनी लड़कियां देना पसंद नहीं करते। एक ऊंची जाति का व्यक्ति, जिसे अपनी श्रेष्ठता पर गर्व है, हमेशा यह कहता हुआ पाया गया है कि, "हम तुम्हारी लड़कियां ले सकते हैं लेकिन अपनी लड़कियां हम तुम्हें कभी नहीं देंगे।" यही प्रवृत्ति हिंदुओं में भी पाई जाती है। उदाहरण के लिए एक ब्राह्मण एक क्षत्रिय कन्या से विवाह कर सकता है लेकिन अपनी बेटी क्षत्रिय को कभी नहीं देगा। यही हाल शेष तीन जातियों का है।

मुसलमानों के जात-पात के निज़ाम में 'अशराफ' को वही सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त है जोकि हिंदू जाति-व्यवस्था में सामान्यत: ब्राह्मण और क्षत्रियों को। अतएव सैयद और शेख दोनों धार्मिक ज्ञान और विद्या की दृष्टि से ब्राह्मणों के समान ही पूज्य हैं। जबकि मुगल और पठान, जो अपनी वीरता और साहस के लिए मशहूर हैं, क्षत्रियों के समकक्ष हैं। इन दोनों, लगभग एक जैसी व्यवस्थाओं में शेष तमाम जातियों को गौण और निम्न स्थान प्राप्त है।

मुस्लिम राजपूत

दूसरी छोटी जातियों के अलावा हिंदुओं की ऊंची जातियों में भी ऐसे लोग पाए

जाते हैं जो मुसलमान हो गए थे। उदाहरण के लिए बायस, बड़गूजर, भटी, बीसन, चंदेल, चौहान, गौतम, पंवार, रायकवार, राठौर, सोमवंशी और तोमर। उत्तर प्रदेश के जिला मेरठ में ये मुस्लिम राजपूत अब भी एक अलग जाति या समूह के रूप में पाए जाते हैं। पश्चिमी जिलों में अब भी उनकी संख्या बहुत अधिक है। वहां वे लोग निम्न जाति के पेशावरों से मेलजोल रखना पसंद नहीं करते। क्योंकि इन जिलों में उनकी अलग बिरादरी है। और वे लोग ऊंचे वंश के वंशज होने के दावेदार हैं और अशरफ याने सैयद, शेख, मुगल और पठान में शादी-ब्याह करना पसंद करते हैं। परिणामस्वरूप राजपूतों को अपनी ही बिरादरी के सीमित दायरे में शादी-ब्याह करने पर मजबूर होना पड़ा। ये मुसलमान राजपूत, मुसलमानों की दूसरी निम्न जातियों में शादी-ब्याह करना पसंद नहीं करते। इसके साथ-साथ दूसरे अशरफ भी उनके वहां शादी का रिश्ता नहीं करना चाहते। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यदि अपनी बिरादरी में उन्हें कोई उचित वर नहीं मिलता तो किसी ऐसी हिंदू जाति में वैवाहिक संबंध कर लेते हैं जो सामाजिक दृष्टि से उनके बराबर हो। इसी कारण उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में कुछ ऐसे परिवार भी मिलते हैं जिनके एक तरफ के रिश्तेदार मुसलमान और दूसरी तरफ के हिंदू हैं।

चर्चित राजपूत जातियों के अलावा कुछ ऐसे राजपूत गोत्र भी हैं जो पूरी तरह से मुसलमान हो चुके हैं, मसलन भाई और सुल्तान। ये लोग विशेष रूप से बुलंदशहर और सुल्तानपुर के इलाकों में पाए जाते हैं। ख़ानज़ादा सिर्फ अवध में मिलते हैंऔर लालख़ानी (बड़गूजर की एक शाखा) अवध क्षेत्र के आस-पड़ोस में फैले हुए हैं।

इस्लाम स्वीकार कर लेने के बावजूद मुस्लिम राजपूत अब भी अपने पारंपरिक हिंदू रीति-रिवाजों को मानते हैं। जैसे कि वे भी गोत्र के बाहर विवाह करने के नियम के पाबंद हैं। और आमतौर पर चाचा या मामा के परिवार में शादी नहीं करते। कई स्थितियों में तो यहां तक होता है कि मां-बाप की ओर से किसी परिवार के साथ बहुत दूर का संबंध भी मिलता है तो भी उस गोत्र में शादी नहीं करते। इसके विपरीत मुसलमान इस प्रकार की शादियों को बहुत उचित समझते हैं और विशेष रूप से मामा के परिवार में शादी करना। इस्लाम का धर्मशास्त्र करीबी रिश्तेदारियों में शादी की इजाजत देता है। कुर्आन में सिर्फ मां, सौतेली बहन, रज़ाई मां, रज़ाई बहन, बहन, लड़की, सौतेली लड़की, चाची, मामी, सास और बहू से विवाह करना निषिद्ध माना गया है। अतएव अशराफ़ में समीपतम रिश्तेदारियों में शादी करना अच्छा समझा जाता है। अशराफ में 'कुफू' हिंदुओं के गोत्र का समानार्थक है, सिर्फ कुछ मामूली अंतर पाया जाता है।

साफ-सुथरे व्यवसाय करने वाली जातियां

अशराफ (श्रेष्ठ जन) और मुस्लिम राजपूतों के वर्गों के अलावा बहुत सी ऐसी जातियां हैं जिनके व्यवसायों को साफ़-सुथरे समझा जाता है। उत्तर भारत की अधिकांश आबादी ऐसे ही व्यवसायियों से भरी पड़ी है। ये लोग उन हिंदुओं की संतानें हैं जो साफ-सुथरे व्यवसाय करते थे और उन लोगों ने एक कबीले के रूप में इस्लाम कुबूल किया था। बहुत-सी ऐसी भी पेशावर जातियां पाई जाती हैं जिनमें हिंदू और मुसलमान दोनों शामिल हैं। उदाहरणार्थ बढ़ई, दरजी, धोबी, कुम्हार, लुहार, नाई, सुनार और तेली। इनमें से हर एक पेशावर जातियां (हिंदू और मुसलमान दोनों) कभी-कभी एक व्यवसाय के आधार पर संगठित हो जाती हैं। लेकिन सामाजिक रीति-रिवाजों के मामले में हमेशा अलग रहती हैं। शादी-ब्याह, त्यौहार और धार्मिक रीतियों को लेकर प्रत्येक जाति एक पृथक इकाई की हैसियत रखती है। इन पवित्र व्यवसायों से जुड़े लोगों को तीन समूहों में बांटा जा सकता है:-

1. ऐसी जातियां जो पूरी तरह से मुसलमान हैं और उनके समतुल्य हिंदू जाति या तो अस्तित्व में नहीं है और अगर है भी तो हिंदू जाति-व्यवस्था में इनका सामाजिक दर्जा बिल्कुल अलग है।
2. ऐसी जातियां जिनमें हिंदू शाखाओं की तुलना में मुसलमान शाखाएं अधिक हैं।
3. ऐसी जातियां जिनमें मुसलमान शाखाओं की तुलना में हिंदू शाखाएं अधिक हैं।

ऐसी जातियां जो पूरी तरह से मुसलमान हैं

जैसे आतिशबाज़, भांड, मोमिन जुलाहे, मीरासी, क़स्साब और फ़कीर। हालांकि अब ये जातियां हर तरह से मुसलमान हो चुकी हैं लेकिन इनसे मिलती-जुलती कुछ जातियां हिंदुओं में भी मौजूद हैं। मिसाल के तौर पर मुसलमान सक्के के समतुल्य हिंदू कहार हैं। गद्दी, घोसियों की एक शाखा समझी जाती है और कदाचित फकीर, हरजाल की एक शाखा है। स्थानाभाव के कारण इन जातियों के विषय में विस्तृत बातचीत करना संभव नहीं है। इसलिए इनमें से कुछ पर बातचीत की जा रही है:

गद्दी-मुसलमान मवेशीफ़रोश

आमतौर पर यह माना जाता है कि गद्दी घोसियों (मुस्लिम चरवाहे) की एक विशुद्ध मुस्लिम शाखा है। मुस्लिम जात-पात के निजाम में तेली, धोबी और फकीर के साथ-साथ गद्दियों को पाक पेशावर जातियों में से सबसे निचला दरजा प्राप्त है।

हालांकि ये लोग बहुत ही अदना जाति के लोग हैं फिर भी इनको मस्जिदों में नमाज अदा करने की इजाजत होती है। वे अपनी ही जातियों में शादी-ब्याह करते हैं। और अपनी जाति के अलावा शादी-ब्याह के मामले में वे तेली, धोबी, फकीर और धुनिया की भांति नियमों का पालन करते हैं। कभी-कभी इनमें आपस में शादी-ब्याह के रिश्ते भी हो जाते हैं।

फकीर

हालांकि पहले की जनगणना की रिपोर्टों में एक जाति के रूप में इनका अलग से उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन 1931 की जनगणना के अनुसार उन्हें एक अलग और व्यवस्थित जाति की हैसियत से देखा गया है। भिक्षावृत्ति के अलावा ये लोग कभी-कभी घरों में भी काम करते हैं और मज़दूरी भी करते हैं। इस प्रकार यह जाति उतनी पुरानी प्रतीत नहीं होती। और आर्थिक विपन्नता के कारण यह जाति अस्तित्व में आई है।

मोमिन जुलाहा

उत्तर प्रदेश, बंगाल और बिहार के जुलाहे बड़ी तादाद में हिंदुओं से मुसलमान हुए हैं। इस कारण भारत में मुस्लिम जुलाहे मोमिन जुलाहे के नाम से आज भी एक स्वतंत्र जाति माने जाते हैं। 1931 की जनगणना की रिपोर्ट में दूसरे मुसलमान धंधेगीरों की संख्या से उनकी संख्या ज्यादा बताई गई है। अपने कुलीन होने के दावे के कारण वे लोग मुसलमानों के अशराफ तबके में प्रायः ऊंचे दरजे के शेखों में शादी-ब्याह करना पसंद करते हैं।

1931 ई. में इन्होंने ऑल इंडिया जमीयतुल 'मोमिनीन' के नाम से अपना एक स्वतंत्र संगठन बनाने की कोशिश की और इस कोशिश में वे कामयाब भी हो गए। यह सभा उनके आर्थिक, व्यावसायिक और राजनीतिक हितों की रक्षा की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। इस जाति के तमाम लोग शेख़ होने का दावा करते हैं। और अपने आप को मोमिन अंसारी कहते हैं। अक्सर यह कहा जाता है कि उत्तर भारत की तमाम पेशावर जातियों में जुलाहों ने सबसे पहले इस्लाम कुबूल किया था।

मीरासी

कुछ लेखकों का मत है कि मीरासी द्रविड़ों के वंशज हैं। 'ब्लंट' ने लिखा है कि कुंजड़ों और ढारियों से मीरासियों की संतान होने का विचार तर्कसम्मत प्रतीत होता है।

मुसलमानों में मीरासियों के दो बुनियादी काम हैं:-

1. पुत्र जन्म, विवाह, ईद-उल-फ़ितर और ईद-उल-जुहा जैसे उत्सवों के अवसर पर गीत गाना।
2. सूफ़ियों के उर्स के मौक़ों पर गाना।

इस अवसर पर गाए जाने वाले गीत कव्वाली के नाम से जाने जाते हैं इसलिए उत्तर प्रदेश में मीरासियों को कव्वाल कहते हैं। कव्वाली गाने में कुछ धार्मिक रंग भी आ जाता है। इसलिए यह जाति मुल्लाओं की जाति के समीप आ गई। क्योंकि इनका काम धार्मिक रंग में रंगा हुआ था और इनका संबंध धार्मिक अगुवाई से था। इसी आधार पर मीरासियों का सामाजिक दरजा कुछ बढ़ गया है। इनकी औरतें परदे में रहने लगी हैं। ये लोग सम्मानित मौलवी द्वारा अपनी धार्मिक रस्मों को संपन्न कराते हैं और नस्ल से कुरेशी होने का दावा करते हैं।

ऐसी जातियां जिनकी शाखाएं मुसलमानों से ज्यादा हिंदुओं में पाई जाती हैं

इस परिधि में ये जातियां आती हैं–दर्ज़ी, धुनिया, कुंजड़ा, मनिहार, सैकलगर और रंगरेज़।

दर्ज़ी

1881 ई. में इनकी संख्या अकेले उत्तर प्रदेश में 22,441 थी। जबकि हिंदू दर्जियों की आबादी 15,522 थी। 1931 में मुसलमान दर्जियों की संख्या बढ़कर 1,68,906 हो गई थी।

दर्जी शब्द की व्युत्पत्ति फारसी के 'दर्ज़न' से हुई है। जिसका अर्थ सीना (सिलाई) होता है। पिछली शताब्दी के आरंभ में सूजी (यह संस्कृत शब्द है) शब्द भी दर्जियों के लिए प्रयुक्त होता था। यह कहना मुश्किल है कि दर्जियों की अलग जाति है। यह एक व्यवसाय है, जो व्यक्ति चाहे इस व्यवसाय को अपना सकता है।

धुनिया

रूई धुनने का काम बिल्कुल मौसमी है। ये लोग सर्दी का मौसम शुरू होते ही रजाई-गद्दों और तकियों के काम में लग जाते हैं।

मनिहार

चूड़ी बनाने वाले मनिहार कहलाते हैं। प्राचीनकाल से लेकर अब तक इनकी एक अलग जाति रही है। ये लोग हमेशा अपनी बिरादरी में शादी करते हैं। पांयत की स्वीकृति के बिना इनमें किसी शादी-शुदा औरत को तलाक नहीं दी जाती।

कुंजड़ा

ये सब्जी फरोश हैं। यह समूह एक संगठित और स्वतंत्र जाति के रूप में पाया जाता है। इनकी पंचायत को बड़े अधिकार प्राप्त हैं। और पंचायतें ही इनके मामले तय करती हैं। इस जाति के हर सदस्य से उम्मीद की जाती है कि वह अपनी जाति के नियमों का पालन करेगा। इनके यहां एक ही समय में दो सगी बहनों से शादी करने की इजाज़त है। इस्लाम इस कार्य को निषिद्ध मानता है। शादी और दूसरे त्यौहारों के मौकों पर बिरादरी के सभी सदस्यों को खाना खिलाया जाता है। आमतौर पर ये लोग बिरादरी के बाहर शादी नहीं करते।

रंगरेज़

उन्नीसवीं शताब्दी में ये लोग पहले एक अलग जाति में थे, जैसा कि विलियम्स और नेस्फील्ड ने लिखा है। लेकिन वर्तमान समय में रंगरेजों के समूह पाए जाते हैं। वे इस रूप में संगठित नहीं हैं कि उन्हें स्वतंत्र जाति कहा जा सके। क्योंकि इस जमाने में छपाई के काम का महत्व घट गया है इसलिए इन्होंने दूसरे धंधे शुरू कर दिए हैं। परिणामस्वरूप सिर्फ थोड़े से लोग अपने खानदानी पेशे को करते हैं। ये लोग अपनी बिरादरी में ही शादी करते हैं।

सैक़लगर

सैक़लगर धार बनाने वाले या बर्तनों पर कलई करने वालों को बोला जाता है। विलियम्स, नेस्फील्ड और ब्लंट ने सैक़लगरों को एक अलग जाति स्वीकार किया है। मौजूदा जमाने में इनकी तादाद ज्यादा नहीं है। कुछ सैक़लगर ऐसे हैं जो अपना पैतृक पेशा करते हैं लेकिन दूसरी पेशावर जातियां जैसे धुनिया, बढ़ई, कुम्हार उनमें विलीन हो गई हैं जोकि आर्थिक दृष्टि से उनके समतुल्य हैं।

ऐसी जातियां जिनकी मुसलमानों से ज्यादा हिंदुओं में शाखाएं हैं

इन व्यवसायों से जुड़ी जातियों में से बहुत कम ने इस्लाम स्वीकार किया था। इन जाति समूहों में धोबी, कुम्हार और तेली साथ-साथ एक सामाजिक इकाई के रूप में रहते हैं। इनके यहां शादी-विवाह और त्यौहारों के विशिष्ट नियम हैं। और इनमें से कई जातियों की पंचायतें हैं।

धोबी

हिंदुओं में धोबी तथाकथित घृणित कार्य करने वाली जाति मानी जाती है। मुसलमानों में इनको अनुसूचित जातियों से कुछ ऊंचा समझा जाता है।

कुम्हार

1869ई. में उत्तर प्रदेश में इनकी कुल संख्या 249 थी। अब वे हजारों की तादाद में हैं। ये लोग छोटी-छोटी शाखाओं में बंटे हैं। वर्तमान समय में भी वे बहुत सी हिंदू रीतियों का पालन करते हैं। पंजाब में इस जाति के लोग दो बड़े कबीलों में बंटे हुए थे। मुल्तानी और देसी। देसी कुम्हारों की औरतें एक विशेष प्रकार का परिधान पहनती थीं और शीतला देवी की पूजा करती थीं।

नाई

बाल काटने का धंधा करने वाले हिंदुओं में नाई और मुसलमानों में हज्जाम कहलाते हैं। बाल बनाने के अलावा मुस्लिम नाई खत्ना करने का काम भी करते हैं। शादियों और विशेष रूप से बड़े घरानों में रस्मों की अदायगी में नाई को बहुत महत्व दिया जाता है। आम तौर पर शादी के रिश्ते इन्हीं के माध्यम से तय होते थे। नाई एक विश्वसनीय संदेशवाहक समझा जाता था और शादी में शरीक होने के लिए बिरादरी वालों को निमंत्रण भी देता था। हिसार जिले (हरियाणा) में वे लोग चार शाखाओं में बंटे हुए हैं-भल्लम, चौहान, खत्री और खरल। गुड़गांव में दो शाखाएं पाई जाती हैं-शेख या तुर्कमान जो मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ भारत आए थे। दूसरे वे जिन्होंने इस्लाम कुबूल कर लिया था। उनकी शाखाएं इस प्रकार हैं-भटी, चौहान, निर्वाण, तंवर और गौरी। गौरी शाखा के नाइयों का कहना है कि उन्होंने मुहम्मद ग़ौरी के जमाने में इस्लाम स्वीकार किया था।

तेली

रेजले की राय में इस पेशे के लोग प्राचीन युग और मध्यकाल में अवश्य ही उच्च हिंदू जातियों से संबंध रखते होंगे। क्योंकि प्रीति भोज तथा दूसरे त्यौहारों के अवसर पर सभी हिंदू तेल का प्रयोग करते हैं और तेल निकालने का काम सिर्फ वही लोग कर सकते हैं जिनकी सामाजिक पवित्रता असंदिग्ध होती हो।

जाति और व्यवसाय

दर्जियों की चर्चा के दौरान यह कहा जा चुका है कि दर्जी का काम सिर्फ एक व्यवसाय है। अतएव दर्जियों को किसी एक जाति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए यहां सिर्फ जाति और व्यवसाय के बुनियादी अंतर पर प्रकाश डालना अभीष्ट होगा। बंटे हुए समाज या जाति व्यवस्था में हर व्यवसाय का एक समूह होता है और इस समूह की अपनी विशिष्टता होती है। इसके विपरीत जाति सिर्फ एक

व्यवसाय करने वाली इकाई से अलग होती है। मिसाल के तौर पर एक सामाजिक इकाई की हैसियत से एक जाति अपने सदस्यों पर शादी-ब्याह, संस्कृति और त्यौहारों के मामले में कुछ पाबंदियां लगाती है। दूसरी ओर एक व्यवसाय करने वाली इकाई उस समय तक अपने सदस्यों पर किसी प्रकार की पाबंदी नहीं लगाती और उनके आचरण के दायरे को सीमित नहीं करती, जब तक कि वे किसी विशेष जाति से अपने आप को संबद्ध नहीं कर लेते। कई बार एक व्यवसाय से जुड़ी इकाई अपने धंधे को ध्यान में रखते हुए अलग से अपना एक संगठन बना लेती है। लेकिन वह एक सामाजिक इकाई के रूप में अपनी कोई पहचान नहीं रखती हैं। इस प्रकार ऐसी बहुत सी जातियां हैं जो एक विशेष धंधा करने लगती हैं और आम तौर पर उन्हें इसी धंधे से याद किया जाता है। लेकिन कुछ ऐसे धंधे भी है जिनका संबंध किसी सामाजिक समूह से नहीं है और इन पेशों को दूसरी जाति के लोग भी अपना सकते हैं–जैसे विसाती, दर्ज़ी, तंबोली आदि। यह कोई असाधारण बात नहीं है कि हिंदुओं और मुसलमानों में उच्च और निम्न जातियों के लोग ये पेशे करते हैं और इन पेशों के करने से इनकी जातिगत प्रतिष्ठा कम नहीं होती।

पेशावर जातियों का उदय और ह्रास

पवित्र व्यवसायों से जुड़ी जातियों में अधिकतर ऐसा होता है कि उनके व्यवसाय में ह्रास होने के साथ साथ वे जातियां या तो धीरे-धीरे नष्ट हो जाती हैं या उनमें नई शाखाएं उभर आती हैं, जो अपने आप को उन व्यवसायों से जोड़ लेती हैं। इस संक्रमण काल में ह्रासोन्मुख व्यवसाय करने वाली जातियां नए धंधे अपना लेती हैं। किसी व्यवसाय में शनैः शनैः ह्रास आने का परिणाम यह होता है कि ये जातियां भी धीरे-धीरे विलुप्त हो जाती हैं। वैवाहिक संबंध और अन्य सामाजिक कार्यों के माध्यम से वे लोग अपने बराबर के दूसरे सामाजिक समूह में प्रवेश करने की कोशिश करने लगती हैं।

मुसलमानों में रंगरेज़, भटियार और सैक़लगर वे पेशावर जातियां हैं जिनका एक सामाजिक इकाई के रूप में ह्रास हो चुका है और अंततः विलुप्त हो चुकी हैं। पिछले बीस सालों से छापागिरों और रंगरेज़ी का बाजार ठंडा पड़ चुका है। अपने भरण पोषण के लिए रंगरेज़ों के सामने इसके अलावा कोई चारा न था कि वे अपने पैतृक व्यवसाय को त्याग कर किसी अन्य व्यवसाय को अपना लेते। अब जाति की दृष्टि से इनका अंत हो गया है।

यही बात भटियारों के बारे में लागू होती है। रेलों और परिवहन के द्रुतगामी साधनों के आविष्कार से पहले एक जगह से दूसरी जगह की यात्रा बहुत कठिन हुआ

करती थी। साधन बहुत सीमित थे। यात्रा दिन को की जाती थी और रात को मुसाफिर विश्राम करते थे। सराएं विश्राम गृह का काम देती थीं। रेलों ने यात्रा को आसान बना दिया है। रात को विश्राम की जरूरत नहीं रही। धीरे-धीरे सराएं खत्म होती गईं। और सरायों के अंत के साथ सामाजिक इकाई की हैसियत से भटियारों का भी अंत हो गया। इन्होंने दूसरे धंधे अपना लिए। इनकी संतानों ने या तो शहरों में भोजनालय खोल लिए या नानबाई का धंधा अपना लिया। बावर्ची, हलवाई और नानबाई ये तीनों समूह एक ही सामाजिक इकाई के अंग हैं।

मुस्लिम अछूत

भंगी–घृणित जाति या अस्पृश्यता का दृष्टिकोण इस्लाम के बुनियादी सिद्धांतों के विरुद्ध है। भारत के मुसलमान इस देश की जाति व्यवस्था के साथ-साथ अस्पृश्यता तथा ऐसी ही अन्य प्रवृत्तियों के प्रभाव से अपने जात-पात के निज़ाम को न बचा सके।

एक भंगी को, चाहे वह मुसलमान हो या हिंदू, मस्जिद में प्रवेश की अनुमति नहीं दी जाती है। चाहे उस समय वह कितना ही पाक व साफ हो। हालांकि धार्मिक कानून की दृष्टि से एक भंगी या हरिजन को मस्जिद में जमात के साथ नमाज़ अदा करने की इजाज़त है। लेकिन व्यवहार में इनका पवित्र स्थानों और सूफियों के मज़ारों पर उपस्थित होना अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता है। इसलिए ऐसे मौकों पर उनके प्रवेश को ताक़त के बल पर रोका जाता है।

जातिगत ढांचा

मुसलमान का जात-पात का निज़ाम अपनी संरचना में बहुत हद तक हिंदू जाति-व्यवस्था के समतुल्य है। अपने सामाजिक वर्चस्व और प्रभुत्व को जताने और बरकरार रखने के उद्देश्य से मुसलमानों के श्रेष्ठ वर्ग ने हिंदुओं की उच्च जातियों से कई विशेषताएं ग्रहण की हैं। इसके विपरीत देसी मुसलमान बहुत-सी पैतृक रीतियों का पालन करते रहे। इन दोनों कारणों से अशराफ और देसी मुसलमानों में बहुत-सी श्रेणियां बन गईं और अशराफ ने आला तबके में जगह पाई।

क्योंकि भारतीय जाति-व्यवस्था का संबंध विशेष रूप से हिंदुओं से है और उसकी अपनी मर्यादाएं हैं, अप्रवासी मुसलमानों ने इन मर्यादाओं को हिंदुओं से ग्रहण किया। इसलिए सामाजिक दृष्टि से मुसलमानों में जाति का बंधन उतना कठोर नहीं जितना कि हिंदुओं में है। काफी हद तक इसमें शिथिलता बरती गई है। देसी लोग क्योंकि धर्मांतरण के बाद मुसलमान हुए हैं, इस परिवर्तन के कारण उनमें जाति को लेकर एक भिन्न रुझान मिलता है। अतएव मुसलमानों में जात-पात का निज़ाम हिंदू

जाति-व्यवस्था की एक सह-उपज है और उसका बदला हुआ रूप है। यही कारण है कि मुसलमानों में जाति की पाबंदियां हिंदुओं की अपेक्षा कम हैं। जात-पात के निज़ाम के व्यावहारिक रूप को समझने के लिए प्राचीन जातिगत-व्यवस्था का अध्ययन जरूरी लगता है। कानूनी दृष्टि से छुआछूत वर्जित है। इसलिए हिंदुओं में भी जाति के बंधन शिथिल पड़ते जा रहे हैं।

व्यवस्था

किसी व्यवस्था का अध्ययन करने के लिए उन सामाजिक नियमों और मान्यताओं का अध्ययन करना आवश्यक है जोकि लोगों के जीवन को मर्यादित करती हैं और उन्हें एक आचरण के दायरे से बाहर नहीं निकलने देतीं। आमतौर पर इनके दो रूप होते हैं-1. प्रबंध व्यवस्था के द्वारा प्राप्त अधिकार जैसे सभा आदि का गठन करना। 2. लोक मत के द्वारा प्राप्त अधिकार। हिंदू जाति व्यवस्था इन दोनों तत्वों पर आश्रित है। आमतौर पर उच्च जाति के लोगों में यह तरीका पाया जाता है कि किसी व्यक्ति के कार्य विशेष के संदर्भ में सामाजिक स्वीकृति या अस्वीकृति का बड़ा महत्व होता है। यदि उसका अपराध संगीन होता है तो उसका निषेध किया जाता है और अपराधी को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। दूसरे, उसे जाति की अदालतों में दंड भी दिया जाता है। सभी धंधों से जुड़ी हुई जातियों की अपनी पंचायतें हैं। आमतौर पर उस जाति के सभी वयस्क लोग उस पंचायत के सदस्य होते हैं। कभी सरपंच एक सभा या अवधि विशेष के लिए चुना जाता है, कभी वह आजीवन सरपंच भी होता है। कई जातियों में सरपंच का पद पैतृक होता है। यदि किसी स्त्री या पुरुष से कोई अपराध हो जाता है तो आवश्यकता अनुसार सुनवाई के लिए पंचायत बुलाई जाती है। वादी का बयान सुनने के बाद पंचायत अपना निर्णय सुनाती है। आमतौर पर ऐसे अपराधी व्यक्ति का हुक्का पानी बंद कर दिया जाता है या उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है।

श्रेष्ठ जातियों और कुछ पेशावर जातियों में हिंदुओं की ऊंची जातियों की भांति कोई पंचायत जैसी चीज नहीं होती। इसके बजाय लोग एक व्यक्ति के बुरे कामों की निंदा करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। जब यह प्रतिक्रिया सर्वमान्य हो जाती है तो आमतौर पर सामाजिक संबंध विच्छेद कर दिया जाता है। ऊंची जातियों में संयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित होती है जो उस परिवार के सदस्यों के आचार-व्यवहार को नियंत्रित करती है। जिन जातियों में व्यवस्थित पंचायतें होती हैं उनमें संयुक्त परिवार के नियम सामाजिक मामलों में अपेक्षाकृत कम हस्तक्षेप करते हैं। मुसलमानों में भंगियों, सब्ज़ी फ़रोशों, धोबियों, मनिहारों और तेलियों की अच्छी और व्यवस्थित पंचायतें हैं। जिनकी अपनी एक सार्थक भूमिका है।

विभिन्न जातियों के आपसी संबंध

मुसलमानों में शादी-ब्याह और सामाजिक व्यवहार की बारीकियों और जातिगत ढांचे के विभिन्न पहलुओं की चर्चा करना एक अलग बात है लेकिन यह आवश्यक प्रतीत होता है कि जातियों के आपसी संबंधों का अध्ययन किया जाए क्योंकि समूचे सामाजिक व्यवहार का आधार यही आपसी संबंध हैं।

जैसा कि ज़ाहिर है, एक व्यक्ति चाहे वह किसी भी जाति का सदस्य हो और किसी भी संप्रदाय से संबंध रखता हो, जाति के रूप में यह समूह व्यक्ति की नकेल अपने हाथ में रखता है। इन समूहों का अस्तित्व मात्र काल्पनिक नहीं होता। बल्कि इस व्यवस्था में हर व्यक्ति का एक सुनिश्चित स्थान होता है। हिंदू और मुस्लिम दोनों व्यवस्थाओं में यह प्रवृत्ति समान रूप से पाई जाती है। इन व्यवस्थाओं में एक जाति या तो दूसरी जाति से श्रेष्ठ समझी जाती है या नीची। उदाहरण के लिए हिंदुओं में क्षत्रिय या वैश्य, शूद्र की तुलना में श्रेष्ठ समझे जाते हैं। इसी प्रकार मुसलमानों में अशराफ (श्रेष्ठ) जातियां बाकी जातियों से अलग समझी जाती हैं। दोनों व्यवस्थाओं में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी जाति से सीधा संबंध रखता है। उसकी सामाजिक श्रेणी उस जाति के आधार पर निर्धारित होती है जिससे कि वह संबद्ध है। हिंदुओं की भांति मुसलमान जातियों में भी यथोचित विभाजन पाया जाता है। कुछ जातियों को अशराफ में गिना जाता है। इनमें वे मुसलमान आते हैं जो हिंदुओं की ऊंची जाति से मुसलमान हुए हैं। कुछ इनसे नीची जातियां हैं और कुछ सबसे नीची जैसे मुस्लिम भंगी और हरिजन आदि। हर व्यक्ति को उसी जाति में रहना होता है जिसमें कि उसका जन्म हुआ है और उसी से उसकी सामाजिक गरिमा निर्धारित होती है। शादी-ब्याह में कुल-शील की विशेष भूमिका होती है।

आज के दौर में भारतीय मुसलमानों के सामाजिक संबंधों के दो पहलू हैं। औपचारिक और अनौपचारिक। पहले प्रकार के संबंध जाति विशेष के रीति-रिवाजों पर निर्भर करते हैं। दूसरे प्रकार के संबंधों का दायरा व्यापक है। इनका विस्तार जीवन के अनेक पहलुओं तक है। मिसाल के तौर पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की विभिन्न जातियों में नौकरी पेशा लोगों में आपसी प्रतिस्पर्धा होती है और वे अपनी बेहतरी के लिए संघर्ष करते रहते हैं। यही हाल मुसलमानों का है। यदि निम्न जाति का एक व्यक्ति अपनी योग्यता के कारण पढ़-लिख जाए तो ऊंची जाति के मुसलमान उससे अपने बच्चे पढ़वाने में आपत्ति नहीं करेंगे। हिंदुओं में यह बात पाई जाती है कि एक ब्राह्मण अपने गैरब्राह्मण साथी के हाथ का बना हुआ भोजन ग्रहण नहीं करेगा। इसके विपरीत एक ऊंची जाति का मुसलमान केवल भंगी को छोड़कर हर जाति के

मुसलमान के हाथ का खाना कुबूल कर लेगा। औपचारिक संबंधों का दायरा सीमित होता है और सिर्फ एक जाति के लोगों के बीच तक रहता है।

जाति और वर्ग

हिंदुओं के आपसी संबंधों में जाति और आर्थिक स्थिति दोनों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह बात मुस्लिम जाति व्यवस्था पर भी लागू होती है।

इस बात को हमें यों समझना चाहिए कि जाति-व्यवस्था में उच्च से निम्न की ओर विभाजन पाया जाता है। इसलिए एक व्यक्ति का एक समय में किसी न किसी जाति से अवश्य संबंध होगा और साथ ही साथ किसी सामाजिक समूह से भी। अतएव एक जाति के लोग कई सामाजिक वर्गों में विभक्त हैं और हर वर्ग जाति के बजाय व्यवसाय और आर्थिक स्थिति पर आधारित है। मिसाल के तौर पर एक ब्राह्मण धनी जमींदार, दफ्तरी कर्मचारी, अध्यापक या कारखाने का मजदूर कुछ भी हो सकता है। जाति के आधार पर वह ब्राह्मण है और आर्थिक वर्ग के आधार पर उसका संबंध किसी अन्य वर्ग से हो सकता है। एक वर्ग कई जातियों के सदस्यों से मिलकर बनता है। मुसलमान जातियों के विषय में भी यही बात सच है। यहां तक हम एक व्यक्ति और वर्ग के सामाजिक स्तर पर विचार करेंगे। और इस बात की खोज भी करेंगे कि आर्थिक स्तर का उतार-चढ़ाव किस प्रकार जाति के स्तर को प्रभावित करता है।

भारतीय जाति व्यवस्था के मूल में दो बुनियादी बातें हैं-एक, पूंजीपति वर्ग से जुड़ी जातियां और दूसरे, दस्तकारी या शिल्प से जुड़ी जातियां। पूंजीवादी व्यवस्था में दो वर्ग होते हैं-शोषक और शोषित। जीवन में प्रायः ठहराव होता है। इसलिए आर्थिक स्तर में परिवर्तन लाने के अवसर बहुत सीमित होते हैं। जिन लोगों के पास सीमित और अपर्याप्त साधन हैं उन्हें अपना आर्थिक स्तर बढ़ाने में एक लंबा समय लग जाता है और कई बार तो कई पीढ़ियों तक उनका आर्थिक स्तर नहीं बढ़ पाता है। इस प्रकार बड़ी धीमी गति से जाति का स्तर ऊपर उठता है। लेकिन ऊंची जातियों में प्रचलित रीति-रिवाज को अपना कर इसकी गति को तेज किया जा सकता है। लेकिन इसके लिए भी उसका कुलीन होना आवश्यक है। अधिकांश ऊंची जाति के लोग जमींदार वर्ग से संबंध रखते हैं और अधिकांश निम्न जातियां उनकी रियाया की हैसियत रखती हैं। सबसे निम्न जाति अछूतों की है। इसलिए उन्हें जमींदारों और रियाया के तमाम काम करने पड़ते हैं। इसके विपरीत दस्तकार और कामगार जातियों में एक भिन्न व्यवस्था मिलती है। मशीनी जिंदगी के साथ-साथ सामाजिक स्तर में परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू होती है, जो दो स्तरों पर चलती है। या तो वह उच्च स्तर की ओर बढ़ाती है या निम्न स्तर की ओर। लेकिन इन दोनों स्थितियों में गति तीव्र हुआ करती है। एक

उच्च जाति का व्यक्ति अपनी अयोग्यता या बेबसी के कारण अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा खो सकता है। जबकि निम्न जाति का व्यक्ति उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। इन प्रसंगों में सामाजिक संबंधों के लिए व्यक्ति के वर्गीय स्तर का बड़ा महत्व होता है। यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि हर व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से अपने समकक्ष व्यक्ति से संबंध स्थापित करता है। इन संबंधों में जाति कोई बहुत बड़ी रुकावट नहीं बनती है। हां, विवाह और औपचारिक संबंधों में जाति अभी बहुत महत्व रखती है। अनेक बार ऐसा भी होता है, जाति और वर्ग को एक दूसरे में मिला दिया जाता है। जहां तक शादी-ब्याह की बात है कि जाति में वर्ग का विशेष ध्यान रखा जाता है। विवाह का संदेश भेजने से पहले दोनों पक्ष जाति के बारे में खूब छानबीन कर लेते हैं। इस स्थिति में आर्थिक और सामाजिक प्रतिष्ठा भी बड़ा महत्व रखती है। इनका विशेष ध्यान रखा जाता है। एक ब्राह्मण हमेशा अपनी जाति के उस सीमित दायरे में विवाह करेगा जिसमें इसकी अनुमति होगी। लेकिन साथ ही साथ वह ऐसे परिवार में विवाह करना पसंद करेगा जिसका सामाजिक और आर्थिक स्तर उसके समान हो या उससे ऊंचा हो। यही बात मुसलमानों में पाई जाती है।

पूंजीवादी व्यवस्था में मुस्लिम जातियां

उत्तर भारत के तमाम ग्रामीण क्षेत्रों में बहुसंख्यक मुसलमान जमींदार रहे हैं और हिंदू व मुसलमानों की निम्न जातियों के लोग उनकी रैयत या सेवक के रूप में रहे हैं। ऐसे क्षेत्रों के अशराफ (सैयद, मुगल, पठान) पूंजीवादी व्यवस्था में स्वयं को उच्च वर्ग यानी जमींदार वर्ग में शुमार करते हैं। साथ ही ग्रामीण कामगार वर्ग (हिंदू और मुसलमान दोनों) को वे लोग नीची जातियों में गिनते रहे हैं। इन्हें रियाया या प्रजा कहा जाता है। अपेक्षाकृत एक जड़ और स्थिर अर्थ-व्यवस्था में एक व्यक्ति के सामाजिक स्तर को निर्धारित करने में जन्म की बड़ी भूमिका होती है। जैसे यदि गद्दी या नाई जाति का कोई व्यक्ति अचल संपत्ति अर्जित कर लेता है और इस प्रकार अपने सामाजिक स्तर को ऊंचा उठा लेता है तो भी वह अशराफ की श्रेणी में नहीं पहुंच सकता। चाहे वे अशराफ कितने ही दरिद्र और निर्धन क्यों न हों। इस धारणा ने अवध क्षेत्र के देहातों में एक कहावत का रूप ले लिया है। तेली एक तेली ही रहेगा चाहे उसके पास कितनी ही तादाद में दौलत हो जाए, चाहे उसके पास राजा के बराबर आर्थिक साधन क्यों न हो जाए।[11]

इस कारण ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ समय पहले तक जाति का प्रभाव बहुत ज़्यादा पाया जाता था और अशराफ दूसरी नीची जातियों (जुलाहा, कबड़िया, धुनिया, नाई, कस्साब, तेली और गद्दी आदि) की तुलना में श्रेष्ठ माने जाते रहे हैं। प्रत्येक जाति

का पद निर्धारित है। इस आम धारणा का सटीक उदाहरण यह है कि अशराफ जाति के किसी व्यक्ति की शादी में नाई और नाइन के माध्यम से ही सारे कामकाज संपन्न होते हैं।[12]

व्यवसायी जातियों के यहां शादी के अवसर पर आवश्यक सेवाएं सेवक जातियों द्वारा ली जाती हैं। ऐसे अवसर पर दो प्रकार की सेवक जातियों की सेवाएं ली जाती हैं। एक, वे निम्न जातियां जो ऊंची ज़ातियों की सेवा करती हैं। दूसरे, कुछ उच्च समझी जाने वाली जातियां भी विवाह के कामकाज में सहायता करती हैं। मिसाल के तौर पर सब्जी फ़रोश के यहां शादी-ब्याह के अवसर पर एक निम्न जाति का नाई वही सेवा करेगा जो एक ऊंची जाति का नाई अशराफ के यहां करेगा। सब्जीफ़रोश भी नाई को नेग देता है। आमतौर पर क़ाज़ी का संबंध अशराफ की ऊंची जाति से है। लेकिन 'निकाहाना' निम्न जाति के लोगों से पाता है। यह दान इनाम, इकराम या नेग नहीं कहा जाएगा। बल्कि नज़राना समझा जाएगा।

ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक जाति का एक स्थायी और सुनिश्चित स्थान है। विभिन्न जातियों के आपसी संबंध पारंपरिक रीति-रिवाजों पर आधारित होते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में मुस्लिम जातियां

छोटे कस्बों में स्थिति कुछ अलग-सी है लेकिन बहुत ज्यादा नहीं। शहरों में बसने वाले सभी अशराफ का अपने गांवों और ज़मींदारी में आना-जाना बना रहता है। यदि वे कई पीढ़ियों से कस्बों में निवास कर रहे हों तो भी अपने पैतृक गांव की याद ताजा रखते हैं, जिसे छोड़कर कि वे शहर में जा बसे हैं। आमतौर पर वे शहर की व्यवसायी जातियों में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं और वे लोग शहर वाले कहलाते हैं। शहरों में सम्मानित मध्य वर्ग के व्यवसायों, जैसे दफ्तरी बाबूगिरी, वकालत, डाक्टरी और व्यापार आदि पर इन लोगों की इजारेदारी है। ये स्वयं को अशराफ की नस्ल से बताते हैं। बहरहाल उनके व्यवसाय विशुद्ध पेशावार जातियों, जैसे कसाई, हलवाई और बावर्ची से भिन्न हैं।

ग्रामीण जीवन की तुलना में शहरी जीवन अधिक गतिशील और परिवर्तनशील होता है। शहरी जीवन में आर्थिक हालत की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। शहरी जीवन के विभिन्न पहलुओं में प्रतिस्पर्धा के रहते हुए पारिवारिकता की भावना धीरे-धीरे कम होने लगी है। लेकिन इसके साथ-साथ ध्यान देने योग्य बात यह है कि शहरों में नए समूह उभर रहे हैं और अपना सामाजिक वर्चस्व बढ़ा रहे हैं। ये लोग अशराफ जैसे कुलनाम रखने लगे हैं और अशराफ होने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार फर्जी या जाली अशराफ का समूह भी अस्तित्व में आ गया है। यह बात भी ध्यान देने योग्य

है कि निस्संदेह आज पूंजीवादी व्यवस्था कमजोर होती जा रही है। लेकिन इसके बावजूद जाति की धारणा अभी विलुप्त नहीं हुई है। नवधनाढ्य वर्ग के लोग ऊंची जातियों से अपना संबंध स्थापित करने की जद्दोजहद में लगे हुए हैं और इसी कोशिश के रहते हुए उनका अस्तित्व बना हुआ है, अन्यथा वे कहीं के न रहें। कुछ समय पहले तक अशराफ के इस फर्जी समूह का गांवों में कोई अस्तित्व तक न था। ये लोग शहर की सामाजिक प्रतिस्पर्धा की उपज हैं।

मुसलमानों की व्यवसायी जातियां

नज़ीर अकबराबादी और 'तारीख़-ए-मुहम्मद शाही' के लेखक ने आमतौर पर मुसलमानों की छत्तीस व्यवसायी जातियों का उल्लेख किया है। लेकिन इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे व्यवसाय थे जिनके द्वारा मुसलमान अपनी रोजी कमाते थे। अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिक अपकर्ष और आर्थिक दुर्दशा के कारण मुस्लिम समाज के ढांचे में एक नया परिवर्तन आया। इस जमाने में ऐसे लोग भी मिलते हैं जो एक से ज्यादा पेशों के जरिए अपनी आजीविका चलाते थे। एच. इलियट ने मुसलमानों की 53 जातियों के नाम गिनाए हैं और मार्टिन मूनिंगमरी ने बंगाल और बिहार के कस्बों में 79 पेशावर मुस्लिम जातियों का उल्लेख किया है। मध्यकालीन साहित्य में जिन मुस्लिम पेशावर जातियों का उल्लेख प्राप्त होता है उनमें से कुछ पर यहां बातचीत की जा रही है।

आईनासाज़, आतिशबाज़, तीरसाज़ और नज्जार (बढ़ई)

'हातिम' ने अपने 'शहर-ए-आशोब' में नीच पेशावरों की तरक़्क़ी का मर्सिया लिखा है और विभिन्न पेशावरों का इस प्रकार उल्लेख किया है :

> तमाम शहर में कट्ठों के मालिक हैं बज़्ज़ाज़
> और आज सबमें बड़े खुदनुमा हैं आईना साज़
> सितारा अपना दिखाते हैं सबको आतिशबाज़
> कमानगर भी हुए घर में अपने तीरंदाज
> निहानी, आरी चलाता है खल्क़[13] पर नज्जार

बागवानी

मुगल बादशाहों को बाग लगाने का बड़ा शौक था। अकबर बादशाह के जमाने में फूलों की खपत बहुत बढ़ गई थी। अहमदशाह के दौर में दिल्ली के आस पास 165 बाग़ात थे। बाबर ने चौकोर बाग़ लगवाए और उनमें फव्वारों का इंतजाम किया।

अकबर ने फतेहपुर सीकरी में कई सुंदर बाग लगवाए थे। जहांगीर और शाहजहां के दौर में शाही बागात लगवाए गए और ये बादशाह इन बागों में सैरो-तफरीह के लिए जाया करते थे। अवध के नवाबों में शुजाउद्दौला ने फैजाबाद में अनेक बाग लगवाए थे। मसलन मोतीबाग, अंगूरी बाग, लाल बाग, बाग गुलाबी आदि। इस कारण बागवानी आजीविका का एक साधन बन गई और मुसलमानों ने इस पेशे को अपना लिया।

बावर्ची

मुसलमान स्वादिष्ट भोजन के शौकीन रहे हैं और इस मंद में जी खोलकर खर्च करते थे। इंशा अल्लाह खां 'इंशा' ने तो यहां तक लिखा है कि अवध का अमीर सीर पुलाव की तैयारी में बीस रुपये तक खर्च कर डालता था। आईन-ए-मुत्बनह के अध्याय में अबुल फ़ज़ल ने शाही बावर्चीखाने का सविस्तार वर्णन किया है। इस विभाग का प्रबंध एक अफसर देखता था जो 'मीर बकावली' कहलाता था। शाही बावर्चीखाने में भारत के हर क्षेत्र के हिंदू और मुसलमान कर्मचारी रखे जाते थे। शुरू में इस काम के लिए आप्रवासी मुसलमान नियुक्त किए जाते थे और मामूली काम के लिए भारतीय रखे जाते थे। इन भारतीय मुसलमानों ने आप्रवासी मुसलमानों के साथ अच्छा खाना बनाने की कला सीख ली थी और धीरे-धीरे बावर्चीगिरी एक व्यवसाय बन गया। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के आर्थिक संकट के कारण बहुत से शाही बावर्चीखानों के कर्मचारियों की छंटनी कर दी गई तो उन्होंने बाजारों में होटल खोल लिए। इस दौर के साहित्य में इस बात के साक्ष्य मिलते हैं कि बाजारों में हर प्रकार का तैयार भोजन आसानी से मिल जाता था। 'हातिम' ने अपने एक शेर में बावर्चियों के विषय में लिखा है:

> बावर्ची खा के डकारे हैं अब दो प्याज़ा पुलाव
> और अपने जौम में खाता है कागजी का ताव

भिश्ती

भारत में पानी भरने वाले को भिश्ती या सक़्क़ा कहा जाता है। इस देश में पानी कुंओं से प्राप्त किया जाता था और मौजूदा जमाने में शहरों को छोड़कर गांवों में आज भी कुंओं से ही पानी लाया जाता है। क्योंकि मुसलमानों में औरतें पर्दे में बैठती थीं और पुरुष नौकरी करते थे इसलिए ऐसे लोगों की जरूरत महसूस हुई जो मुसलमानों के घरों में पानी पहुंचा सकें। हिंदुओं में यह सेवा कहार करते थे। इसलिए इस जाति के लोगों ने जब धर्मांतरण किया तो मुसलमान होने के बाद भी वे अपने पैतृक धंधे को करते रहे। यही कारण है कि मुसलमान भिश्तियों में ख्वाजा खिज्र फ़ातिहा की रस्म पाई

जाती है और वे लोग अपने आप को ख्वाजा खिज्र की संतान कहते हैं। इस धंधे को करने वाले दावा करते हैं कि वे लोग दरअसल राजपूत थे, इसलिए इनमें कई प्रजातियां पाई जाती हैं। भटी, चौहान, पांवार, तुर्क, भालम जातियों के भिश्ती अपने मूल का संबंध राजा जगदेव से जोड़ते थे। राजपूत भिश्ती शादी-ब्याह के मामले में राजपूतों की रस्मों की पाबंदी करते हैं। वे लोग निकाह की रस्म का पालन करते हैं। भिश्तियों के कुछ फिरके अपने को गौरी पठान कहते हैं। 'गौर' फारसी का शब्द है जिसका अर्थ कब्र होता है। उनका कहना है कि उनके आदि पुरुष अपनी मृत मां की कब्र से उत्पन्न हुए थे। मूल,रूप से वे लोग पठान थे। लेकिन बाद में उन्होंने पानी भरने का काम शुरू कर दिया और यही काम पेशा बन गया। भिश्तियों की कुछ ऐसी जातियां भी हैं जो पहले चिड़ी-मारी का धंधा करती थीं। लेकिन बाद में उन्होंने पानी भरने का पेशा अपना लिया था। उत्तर प्रदेश के भिश्ती, कहारों की संतान थे। बाद में मुसलमान हो गए थे और उन्होंने अपने पुराने पेशे को जारी रखा। पेशावर भिश्ती मश्कों में पानी लेकर राहगीरों को अब भी पिलाते हैं। ऐसे लोग दिल्ली में जामा मस्जिद के इलाके में आज भी देखने में आते हैं और हाथ में कटोरा लिए लोगों को पानी पिलाते हैं तथा इस प्रकार अपनी आजीविका चलाते हैं।

बढ़ई

आर्य लोग मूल रूप से कृषि का व्यवसाय करते थे। खेती के लिए हल, जुआ और बैलगाड़ी की जरूरत होती है। इन कामों को करने के लिए बढ़ई और लोहार दोनों की जरूरत पड़ती थी। इसके अतिरिक्त खेती के प्रबंध में बैलगाड़ी या घोड़ागाड़ी आवश्यक हैं। भारत की विभिन्न सवारियां जैसे बहल, रथ, चंडूल और बैलगाड़ी आदि लकड़ियों से बनाई जाती हैं। अतएव बढ़ई और लोहार की एक पृथक जाति अस्तित्व में आ गई। इस जाति के लोगों में से जो मुसलमान हुए वे अपना पैतृक धंधा करते रहे। बढ़ई और लोहार कई सामाजिक और व्यावसायिक समूहों में बंटे हुए हैं। अकबर बादशाह ने नए प्रयोगों में रुचि के कारण विचित्र प्रकार की गाड़ियों का आविष्कार किया। इसलिए बढ़ई और लोहार बड़ी तादाद में सरकारी नौकरियों में रखे गए थे। 'बर्नियर' ने शाही कारखानों में काम करने वाले बढ़इयों और खरादियों का भी जिक्र किया है।

भड़भूंजा

कड़ाही में अनाज भूनने वाले को भड़भूंजा कहा जाता है। इस धंधे के साथ-साथ इनकी एक अलग जाति भी है। पेशावर जातियों की दृष्टि से ये लोग चार गोत्रों में बंटे हुए हैं।

भाट

हिंदू समाज में भाटों का एक समूह था। परिवारों के वंशवृक्ष को याद करना और यथावसर इन वंशवृक्षों का पाठ करना उनका व्यवसाय था। उनके कथनानुसार उन्होंने आलमगीर औरंगजेब के युग में इस्लाम कुबूल किया था। इस युग में मुसलमान भाट और हिंदू भाट दोनों मिलते हैं। शादी-ब्याह, पुत्र-जन्म आदि के अवसर पर इनकी सेवाएं ली जाती हैं। रोहतक, गुड़गांव (हरियाणा) के भाट तीन वंशगत समूहों में बंटे हुए हैं।

बक़्क़ाल (गल्ला फरोश)

भारत में मुसलमानों के आगमन से पहले कुछ स्थानीय लोग अनाज बेचने का काम करते थे और बंजारा कहलाते थे। मुसलमान होने के बाद आमतौर पर ये लोग बक़्काल कहलाने लगे। हेमू बक़्काल का नाम इतिहास में प्रसिद्ध है। 18वीं शताब्दी का एक प्रसिद्ध फारसी गो शायर फ़िदवी लाहौरी अपने पेशे से बक़्क़ाल था।

तंबोली

पान बेचने वाले को तंबोली कहा जाता था। पान क्योंकि केवल भारत में होता है इसलिए मुसलमानों के आगमन से पूर्व केवल हिंदू पानों की खेती करते थे। लेकिन जब मुसलमानों ने पान खाना शुरू कर दिया तो उन्होंने भी यह धंधा अपना लिया। मुगल काल में तंबूलखाना के नाम से एक अलग विभाग होता था। पान (तांबूल) बेचने से जुड़ा हुआ दूसरा धंधा तंबाकू फरोशी का था। इन पंक्तियों के लेखक ने 'मुसलमानों में हुक्कानोशी' के शीर्षक से एक विस्तृत आलेख लिखा था जो 'जामिया रिसाला' में प्रकाशित हुआ था। इस आलेख में भारत में तंबाकू की खेती पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। तंबाकू को खाया और पिया जाता था। इस कारण मुसलमानों ने हुक्का बेचने और नेचा बनाने का धंधा अपना लिया। दिल्ली में हुक्का फरोशों की कई दुकानें थीं।

कफ़श[14] फरोशी

भारत में जूता बनाने का काम चमार करते थे। पंजाब में ये लोग मोची कहलाते थे। मोची आमतौर पर मुसलमान होते हैं। चमार शब्द संस्कृत के 'चर्मकार' शब्द का अपभ्रंश है। जिसका अर्थ है चमड़े का काम करने वाला। मीर तक़ी 'मीर' ने दिल्ली में जूता फरोशों और जौहरियों के बीच एक झगड़े का जिक्र किया है। जूता फरोश मुसलमान थे। अठारहवीं शताब्दी में अन्य धंधेगीरों की तरह जूता फरोशों की भी अच्छी तरक्की हो चुकी थी। 'हातिम' ने इसका उल्लेख किया है।

जुलाहे

कपड़े बुनने का काम करने वाले जुलाहे कहलाते थे। इस व्यवसाय के लोग मूल रूप से विशुद्ध भारतीय थे। मुसलमान हो जाने के बाद नूर बाफ़ कहलाने लगे। अकबर के शासन काल में वस्त्र बुनने की कला और कपड़ों पर सुनहरी और रूपहली कामों के व्यवसाय ने बहुत उन्नति की थी। अकबर ने लाहौर, फतेहपुर, अहमदाबाद और गुजरात में कपड़े बुनने के कारखाने लगाए थे। बेलबूटे और जड़ाऊ का काम करने वाले कारीगरों को बड़ी तादाद में नौकरियां दी गई थीं। इसके साथ-साथ दर्जीगिरी का व्यवसाय भी बहुत उन्नति पर था। वर्तमान में पश्चिमी उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में बड़ी संख्या में जुलाहों की आबादी पाई जाती है।

उपर्युक्त पेशों के अलावा मुसलमान दूसरे बहुत से पेशे करते थे जैसे जाली बुनने वाले, सोना, चांदी का काम करने वाले (जौहरी और सुनारी), जादूगरी, चोबदारी, चाकूफरोशी, चमचाफरोशी, चूड़ी साज़ी फरोशी, चिड़ीमारी, चिकन-दोज़ी, हलवाई, हज्जामी, मेहतरी, दलाली, रूई धुनने का काम करने वाले, कपड़े धोने वाले (धोबी), रोगनफ़रोशी, रफूगिरी, रंगरेजी, ज़ीनसाजी, सब्जी फरोशी, सवादकारी,[15] सीमबानी,[16] संगतराशी, सरोताफरोशी, सैकलगरी,[17] संदूकसाजी, इलाकाबंदी, कोफ्तगरी,[18] कागजफरोशी, कटारफरोशी, गुलफरोशी, घासफरोशी, गाड़ीबानी, गंधी, कस्साबी, मुरदाशोई,[19] मेवाफरोशी, मीनाकारी, मिनबतकारी,[20] मैयारी, महावती, माहीगिरी,[21] नानबाई, नेचाबंदी, नुजूमी,[22] रम्माली,[23] किस्साएवानी, मरसियाख्वानी,[24] मसनवीख़्वानी, भंडाई[25]।

भारत में ज्योतिष और अंक विद्या का बड़ा महत्व रहा है। अलाउद्दीन खिलजी के जमाने में अनेक प्रतिष्ठित ज्योतिषी हुए हैं। मौलाना सदरूद्दीन लोती, गरीबी रम्माल और मुइन-उल-मुल्क जुबेरी इसी जमाने में हुए थे। मुगल दरबार ने ज्योतिष और अंक विद्या जानने वालों को बड़ा संरक्षण दिया था और दरबार में उन्हें नौकरी दी जाती थी। औरंगजेब ने उन्हें उपेक्षित कर दिया था। लेकिन अठारहवीं शताब्दी के मुगल बादशाहों ने फिर से उन्हें संरक्षण देना शुरू कर दिया। मुहम्मद शाह के दरबार से बशर खान, मुनज्जम खां और मिर्जा मोहसिन तारीखनवीस नामक ज्योतषी जुड़े हुए थे। इस जमाने में कलंदरबख्श जुरअत, मिर्जा फिदाई, हुसैन खां 'फिदा' और हाजी मीर अली अकबर ज्योतिष विद्या में बहुत निपुण थे।

मुसलमानों में प्रचलित लक़ब (उपाधि)

अपनी वंशगत श्रेष्ठता को बरक़रार रखने और भारतीय मूल के मुसलमानों से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने की आकांक्षा से अपने वंश के आदि पुरुषों के नामों को

अपने नाम के साथ जोड़ लिया गया। इस कारण आजकल मुसलमानों में बहुत से लक़ब (उपाधि या वंशसूचक शब्द) प्रचलित हैं।

अशराफ़ के लक़ब

सैयद–प्रायः वे लोग जो सैयद होने के दावेदार हैं अपने नाम के आरंभ में मीर या सैयद का लक़ब जोड़ लेते हैं और नाम के अंत में अपने वंश के लक़ब को जोड़ दिया जाता है। और कई बार अपने व्यवसाय का नाम भी जोड़ दिया जाता है, यदि वह व्यवसाय सम्मानित हो।

सैयदों के वंशगत लक़ब

आबिदी, अस्करी, बाक़री, हुसैनी, हस्ती, क़ाज़मी, नक़बी, रिज़बी, ज़ैदी, चिश्ती, जलाली और क़ादरी के लक़ब आमतौर पर सूफिया इस्तेमाल करते हैं। जो प्रायः सुन्नी होते हैं और सैयद, शेख या पठान नस्ल के दावेदार होते हैं।

सैयदों के उपर्युक्त लक़ब के अलावा कुछ अन्य लक़ब भी हैं जो शिया और सुन्नी दोनों में आम हैं। आमतौर पर शियाओं में वे सैयद हैं और सुन्नियों में शेख़–अब्बासी, अलवी, हाशमी और जाफ़री।

शेख़–अंसारी, फारूख़ी, ख़रासानी, मलकी, किदवाई, क़ुरेशी, सिद्दीक़ी और उस्मानी।

मुग़ल फिरक़े–आमतौर पर मुगल अपने नाम के आगे मिर्ज़ा का लक़ब इस्तेमाल करते हैं और अंत में वंशगत लक़ब जैसे–चुग़ताई, क़ज़लबाश, ताज़िक, तैमूरी, तुर्कमान, उज़्बेक या उज़्बेग।

पठान क़बीले–परंपरानुसार पठान अपने नाम के आगे 'ख़ान' का लक़ब जोड़ते हैं और क़बीले का नाम छोड़ देते हैं। और यदि कबीले का लक़ब अपनाते हैं तो 'ख़ान' का लक़ब छोड़ देते हैं जैसे आफरीदी, बगश, बारक ज़ई, बारक, दाऊद ज़ई, दुर्रानी, ग़ौरगश्ती, ग़ौरी, काकर, ख़लील, लोदी, मुहम्मद ज़ई, औरक ज़ई आदि। रूहेला पठानों का एक क़बीला है। इस क़बीले के लोग उत्तर प्रदेश के रूहेल खंड क्षेत्र में निवास करते हैं।

मुस्लिम राजपूत

(क) उत्तर प्रदेश में राजपूतों के निम्नलिखित मुस्लिम फ़िरक़े पाए जाते हैं:
भाल सुल्तान–भाल सुल्तान विशेष रूप से बुलंदशहर और सहारनपुर में पाए जाते हैं।
ख़ानज़ादा–विशेष रूप से अवध में।

लाल ख़ानी-बड़गूजर की एक शाखा-समूचे उत्तर प्रदेश में फैले हुए हैं।
(ख) राजपूतों की अहम् और बड़ी नस्लें इस प्रकार हैं:-
बड़गूजर, भटी, बीसन, चंदेल, चौहान, गौतम, पंवार, रायकवार, राठौर, सोमवंशी और तोमर।

पेशावर जातियां

(क) वे जातियां जो पूरी तरह मुसलमान हैं-

आतिशबाज, बावर्ची, भांड, भटियारा, फ़कीर, गद्दी, मीरासी, मोमिन, जुलाहा और नानबाई व क़स्साब।

(ख) वे जातियां जिनकी मुस्लिम शाखाएं हैं-

धुनिया, कुंजड़ा, मनिहार।

(ग) वे जातियां जिनकी मुस्लिम शाखाएं कम तादाद में हैं:-

बढ़ई, चकवा, धोबी, हलवाई, कुम्हार, लोहार, नाई और तेली।

अछूत

भंगियों की छोटी जातियां-इन छोटी जातियों की शाखाएं हिंदू और मुसलमान दोनों में पाई जाती हैं। शेख़, मेहतर के अलावा जो मुसलमान हैं और लालबेगी-इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। लालबेगियों की मुस्लिम शाखाएं इस प्रकार हैं–वाल्मीकि, बांस, मूड़, धानक, दही, ग़ाजीपुरी रावत, हनहारी या हारी, हेला, लालबेगमी, पत्थर फोड़ और शेख़ मेहतर।

कुल मिलाकर इस तुलनात्मक अध्ययन से यह बात बहुत हद तक स्पष्ट हो जाती है कि मुसलमानों व हिंदुओं की जाति-व्यवस्था और उनके व्यवसायों में पर्याप्त समानता पाई जाती है। यहां तक कि इन पेशावरों के आपसी सामाजिक रीति-रिवाज अपने हिंदू हमपेशा से मिलते जुलते हैं। वर्तमान समय में निम्न जातियों में शिक्षा का प्रसार बहुत हुआ है। इस कारण इन्होंने मुस्लिम अशराफ के रीति-रिवाज अपनाने शुरू कर दिए हैं और शहरों में आकर अपने नामों के साथ ऐसी उपाधियां जोड़ने लगे हैं जिनसे उनकी श्रेष्ठता सिद्ध हो सके और लोग उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखें। यही स्थिति हिंदुओं के साथ भी है। निम्न जातियों के बहुत से लोगों ने अपने नाम के साथ 'सिंह' आदि शब्द लगाना शुरू कर दिया है।

1. पैगम्बर साहब द्वारा किए गए कार्य, पद्धति, मार्ग।
2. सेवक
3. फैलाना, प्रचार-प्रसार
4. उर्दू फारसी की एक प्राचीन विद्या, जिसमें भिन्न-भिन्न व्यवसाय से जुड़े लोगों हालत का वर्णन किया जाता था।
5. मस्जिद या निकाह में खुत्बा पढ़ने वाला
6. धर्मोपदेशक
7. विद्वान या ज्ञानी
8. नमाज़ पढ़वाने का कार्य
9. अपना वतन छोड़ना, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना
10. ब्रह्मज्ञानी
11. मुस्लिम कास्ट्स इन यू.पी. (पेज 61)
12. विस्तार के लिए देखिए-हफ्त तमाशा, पृष्ठ-157
13. संसार
14. जूता
15. स्याही बनाना
16. तरकारी बनाना
17. बर्तनों पर कलई करना
18. चीजों को कूटने का काम
19. मुर्दे को नहलाना
20. पत्थर पर अक्षर उभारने का काम
21. मछली पकड़ना
22. ज्योतिष
23. अंक विद्या
24. मर्सिया पढ़ना
25. भांडगिरी

तीसरा अध्याय

जन्म से मृत्यु तक के संस्कार

धनी और निर्धन दोनों वर्गों के लोगों में बच्चे का जन्म होने पर समान रूप से हर्ष मनाया जाता था और इस अवसर पर अनेक पारंपरिक रीतियों का पालन किया जाता था। भारतीय मुसलमानों में भारतीय वातावरण और यहां के रीति-रिवाजों का प्रभाव (पंद्रहवीं शताब्दी के बाद के समय में भी) जन्म, विवाह और मृत्यु से संबंधित संस्कारों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। स्त्री के गर्भाधान और बच्चे के जन्म से लेकर मृत्यु तक जितनी भी रस्में भारतीय मुसलमानों में प्रचलित हैं, वे सबके सब भारतीय संस्कार हैं, इनमें से कुछ तो यथावत् अंगीकार कर लिए गए हैं। कुछ के नाम वही हैं लेकिन तरीके बदल गए हैं और कुछ में नाममात्र का अंतर आ गया है। कुछ संस्कारों को धार्मिक नाम देकर अपना लिया गया है। नाम के परिवर्तन से एक ही संस्कार दोनों जगह मिलता है। उदाहरण के लिए तीजा हिंदुओं में, फातिहा या फूल मुसलमानों में। 'फूल' शब्द यहां भी सामान्य है क्योंकि हिंदुओं में शव की जली हुई अस्थियों को 'फूल' कहते हैं। इन्हें तीसरे दिन शमशान में जाकर चुना जाता है और इसके बाद इन्हें किसी पवित्र नदी में विसर्जित कर दिया जाता है। तमाम मुसलमानों में इसी विधि के अनुरूप मृतक की कब्र पर प्रतिदिन अरगजा और फूलों की चादर भेजना आवश्यक समझा जाता है और इसीलिए तीसरे फातिहा का नाम 'फूल' रखा गया। अरगजा ठेठ हिंदी शब्द है, सुगंध के अर्थ में इसका व्यवहार होता है। मुसलमानों ने चंदन का बुरादा, मुश्क, कपूर, अंबर और गुलाब का अर्क आदि मिलाकर एक मिश्रण तैयार किया और उसका नाम अरगजा रख दिया है। खास तीजों के दिन एक प्याले में भर कर और इस प्याले को एक फूलों से भरी हुई रकाबी में रखकर हरेक फातिहा पढ़ने वाले के आगे ले जाते हैं। वह एक फूल 'कुलहू अल्लाह' पढ़कर उस प्याले के अंदर डाल देता है और यह प्याला मृतक की कब्र पर भेजकर आदर के साथ रख दिया जाता है। ऐसी और भी अनेक रस्में हैं। यही स्थिति रस्मी गीतों को लेकर भी है। दोनों जातियों की रीतियों और गीतों की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है।[1]

आमतौर पर संतान, विशेष रूप से पुत्र प्राप्ति की इच्छा प्रत्येक मनुष्य में होती है और बहुत समय तक संतान का न होना निराशा का कारण बन जाता है। धनी हो या निर्धन सभी इस इच्छा पूर्ति के लिए तरह-तरह के जतन करते हैं। इन प्रयासों में वे कोई कमी नहीं छोड़ते। दवाओं के अलावा दुआओं, मज़ारों पर मन्नतें मानना, नुजूमियों और ज्योतिषियों से इस संबंध में पूछताछ करना मुसलमानों में आम था। मीर हसन देहलवी ने दिल्ली के बादशाह का हाल लिखा है, जो निस्संतान होने के कारण निराश था और दरवेश बन जाना चाहता था। उसके वज़ीरों ने उसे बहुत सांत्वना दी और उन्होंने ज्योतिषियों और पंडितों को बुलवाकर उनसे परामर्श लिया। मीर हसन ने अपने खास अंदाज़ में इस घटना का वर्णन किया है:

नुजूमी ओ रम्माल और बरहमन
ग़रज़ याद था जिनको इस ढब का फ़न
बुलाकर उन्हें शह कने ले गए
जूं ही रूबरू सब वो शह के गए
किया क़ायदे से ठहर कर सलाम
कहा शह ने मैं तुम से रखता हूं काम
निकालो जरा अपनी-अपनी किताब
मेरा है सवाल इसका लिक्खो जवाब[2]

शिशु जन्म और इससे पूर्व के संस्कार

गर्भाधान के समय से ही स्त्रियों का विशेष ध्यान रखा जाता था और किसी प्रकार के दु:ख व कष्ट को उनके पास फटकने नहीं दिया जाता था। गर्भाधान से बच्चे के जन्म से एक वर्ष तक भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुष्ठान किए जाते थे। इन अवसरों पर सगे-संबंधियों और मित्रों को भी आमंत्रित किया जाता था।

सतवांसा

जब गर्भ का सातवां महीना शुरू होता था तो सतवांसा की रीति निभाई जाती थी। इस अवसर पर मायके वाले सिधोड़े लेकर आते थे। सिधोड़े शब्द हिंदी में सात के अंक में प्रचलित है क्योंकि इसमें सात प्रकार की तरकारियां, मेवे और पकवान होते थे। इस कारण इसका यह नाम रख दिया गया। यह रीति भी हिंदवाना है। पंजाब में इस रीति को सातवां कहते हैं। इस अवसर पर गर्भवती स्त्री की गोद भरी जाती थी। तीसरे पहर का समय होता था। पहले उसे नहलाते, रंगीन कपड़े पहनाते, लाल दुपट्टा ओढ़ाते, फूलों का गहना पहनाते, नए सिरे से दुल्हन बनाते थे। इसके बाद ननदें उसकी गोद में

सात फल, मेवा और नारियल आदि डालती थीं। इसके पीछे यह कामना होती थी कि उसकी गोद बच्चों से हमेशा भरी रहे और उसको अच्छा फल मिले। गोद के फल, मेवा और ओढ़नी नेग के साथ दूल्हा की बहनें ले लेती थीं और शेष चीज़ें उपस्थित स्वजनों में बांट दी जाती थीं। इसके बाद ननदें नारियल तोड़ती थीं। अगर इसकी गिरी सफेद निकलती थी तो कहती थीं, ''उजला फल याने लड़का पैदा होगा।''

नौमासा

जब नवां महीना शुरू होता था तो दुल्हन के मायके से उसका जोड़ा, कंगन, मिस्सी, इत्र, फूल, चांद की नेहरनी, नील की नुकरई प्याली, लाल ओढ़नी और उसमें सात रंग के मेवे, बहनों के नेग और पंजीरी के रुपये भेजे जाते थे। ससुराल वाले पंजीरी[3] बनाते और सब लोगों में बांट देते। ससुराल के सभी सगे-संबंधियों की स्त्रियां भी जमा होती थीं और सतमासे की तरह उसकी गोद भरी जाती थी।

हिंदुओं में लड़की के जन्म को अशुभ समझा जाता था और इसी प्रकार मुसलमानों में। हालांकि मुसलमानों में लड़के के जन्म पर वैसा हर्ष भी प्रकट नहीं किया जाता था जैसा कि हिंदुओं में देखने को मिलता था। लेकिन शाही महलों की औरतें इस अवसर पर भी खुशियां मनाती थीं और इस खुशी में काफी धन खर्च कर देती थीं।

जब प्रसव वेदना होती थी तो बीवी मरियम का पंजा अर्थात एक पत्ता जिसकी शक्ल हाथ की तरह होती थी, एक पानी के घड़े में डाल दिया जाता था। ज्यों-ज्यों जन्म का समय समीप आता था वह पत्ता खिलता जाता था और बच्चे के जन्म के समय वह पूरा खिल जाता था। सामान्य विश्वास यह था कि इससे बच्चे के पैदा होने में आसानी होती है। इसके अलावा गर्भवती स्त्री की कमर में ताबीज़ और गंडे भी बांधे जाते थे। और कभी-कभी शाही रुपया, जिसमें कलमा खुदा हुआ होता था, धोकर उसे पिलाया जाता था।

बच्चे के जन्म के बाद बहुत सी छोटी-छोटी रस्में अदा की जाती थीं। पहले बच्चे को नहलाते थे। फिर सिर को चारों ओर से दबाकर गोल कर देते। सिर पर रूमाल बांध देते। गले में कुर्ता और सिर पर टोपी पहनाते और जच्चा के पेट से पट्टी बांध देते थे।

अज़ान

इसके उपरांत नवजात शिशु के कानों में अज़ान दिलवाई जाती थी और ये रस्म अब भी जारी है। इस अवसर पर कुनबे के लोगों में पान और बताशे बांटे जाते थे।

शहद चटाना-अबुल फ़ज़ल ने हिंदुओं के यहां बच्चे के जन्म का वर्णन करते

हुए लिखा है कि नवजात शिशु का बाप सोने की अंगूठी से शहद और तेल मिलाकर बच्चे को चटाता था। मुसलमानों में इस रस्म का ज़िक्र करते हुए जाफ़र शरीफ़ ने लिखा है:-

"कुछ लोगों (विशेष रूप से शिक्षित वर्ग) में यह रस्म जारी है कि कोई नेक और आलिम आदमी अपनी अंगुली शहद में डुबाकर या थोड़ा सा खजूर चबाकर या अंगूर खाकर बच्चे के मुंह में डालता है। और यह काम बच्चे को दूध पिलाने से पहले किया जाता है। इसके पीछे उद्देश्य यह होता है कि उस व्यक्ति का इल्म और नेकी उस बच्चे के भीतर आ जाए। इस रस्म को अदा करने के बाद हज़रत सरवर कायनात के नाम की फ़ातिहा के लिए कुछ मिठाई पान के पत्तों पर रखी जाती थी। उपस्थित जनों और संबंधियों में इसे बांट दिया जाता था।"

इसके बाद बच्चे को घुट्टी पिलाई जाती थी। जिसमें ये चीज़ें मिली हुई होती थीं-छोटी-बड़ी हरड़, मुनक्का, बाउबड़ंग, बाउखंबा, उन्नाब, सौंफ, गुलाब के फूल, गुलाब का ज़ीरा, नरकचूर, अनारकली, अमलतास, मिस्री। कई लोग बड़ी छोटी हड़ के स्थान पर बादाम और अजवाइन डालते थे। सारांश यह है कि पहले दिन शहद और दूसरे दिन घुट्टी और तीसरे दिन दूध पिलाया जाता था।

पत्ती और छठी-बच्चे के जन्म के तीसरे दिन पत्ती से संबंधित रस्में अदा की जाती थीं। चौथे दिन ददिहाल और ननिहाल दोनों ओर के लोग एकत्रित होते थे। इस उत्सव में नाच गाने होते थे और स्वादिष्ट भोजन से अतिथियों का सत्कार किया जाता था।

छठी के दिन अपनी हैसियत के अनुसार हर वर्ग के लोगों में हर्ष मनाया जाता था। बादशाहों और अमीरों के यहां बड़े स्तर पर प्रबंध किया जाता था। एक बादशाह के यहां इस उत्सव का वर्णन करते हुए मीर हसन दहलवी ने लिखा है-

छठी तक ग़रज़ थी खुशी ही की बात
कि दिन ईद और रात थी शब बरात।

छूछक-इस अवसर पर जच्चा के मायके से छूछक आती थी। अमीरों के यहां बाजे-गाजे के साथ और मध्य वर्ग के लोगों के यहां भी बड़ी सजावट और ठाठ-बाट के साथ छूछक में बहुत सी चीज़ें आती थीं, जैसे-

सोने या चांदी की हसली, कड़े, बच्चे के घुंघरू, चांदी के चट्टे-बट्टे, चुसनियां, झुनझुने, सोने की दाल, चांदी के बने हुए चावल, कुर्ते, टोपियां, पोतड़े, दोहरे, सोज़निया, घी के हंडे, मुर्गी की खांचियां, अक़ीक़े के बकरे इन पर गोटे किनारी की झोलें, सींगों पर चांदी की सिनगोरियां आदि। अगर मायके वाले नवाब या शहज़ादे होते तो हाथों पर चांदी का पालना लाते थे। या फिर कहारों के कंधों पर हंडोलना, सिरों पर

बच्चे की पलंगड़ी, मूंग और चावल की बोरियां भी होती थीं। यह रस्म आज भी जारी है और ढंग से अदा की जाती है। लेकिन इस में अब वो शानोशौकत बाक़ी नहीं रही जो मुगल काल में पाई जाती थी।

शाह आलम द्वितीय ने छठी की रस्म का यों ज़िक्र किया है–

नंद भयो सुन बेगम जान के नानी और नाना जिया हुलसाए
जान छठी मिल चाव सौं, खिचड़ी नौबत चार बजावत लाए।

इस अवसर पर जो गीत गाए जाते थे इनका संबंध कृष्ण जन्म से होता था। देवकी ने कृष्ण जन्म पर ऐसे ही गीत गाए थे। इन गीतों के भाव और शब्दों से यह साफ पता चलता है कि ये गीत हिंदू आस्थाओं को उजागर करते हैं। एक गीत देखिए–

अलबेले ने मुझे दर्द दिया
सांवलिया ने मुझे दर्द दिया,
अलबेले ने मुझे दर्द दिया
जाओ कहो लड़के के बाबा से, ऊंची नौबत धराओ रे
अलबेले ने मुझे दर्द दिया, पायलिया ने मुझे दर्द दिया।[1]

जच्चा को तारे दिखाना

छठी की रात को दालान के आगे चौकी बिछाई जाती थी। और बच्चे और जच्चा का बनाव सिंगार करते, समोसेदार कारचोबी की पट्टी दोनों के सिर पर बांधते और इन दोनों को बाहर लाते। इस अवसर पर जच्चा अपने बच्चे को गोद में लेकर बाहर आती थी। दो औरतें दोनों पहलुओं में नंगी तलवारें लिए साथ होती थीं। दाई आटक की चौमक (आटे का एक दीया जो चौमुंहा बनाया जाता है। इसमें चार बत्तियां और घी डालकर जलाया जाता है) हाथ में लिए आगे-आगे चलती थीं। जच्चा बच्चे को गोद में लिए और कुर्आन शरीफ को सिर पर रखकर आसमान की तरफ देखती थी। और चौकी पर खड़ी होकर सात तारे गिनती थी। इस समय दोनों तलवारों की नोक से नोक मिलाकर जच्चा के सिर पर एक दायरा बना दिया जाता था ताकि ऊपर से जिन और परी का गुज़रना हो सके। इधर जच्चा तारे देखने जाती और उधर लड़के का बाप तीर कमान लेकर जच्चा के पलंग पर खड़ा हो जाता और पूरी बिस्मिल्लाह पढ़कर छत पर तीर लगाता, अर्थात् वह काल्पनिक मृग मारता था। अतएव इस रस्म का नाम भी मृग मारना पड़ गया। मृग मारने का नेग सास द्वारा दामाद को दिया जाता था।

शाह आलम द्वितीय ने शाही महल में तारे दिखाने की रस्म का यों जिक्र किया है–

गावत मंगलचार गुनी मिल नाच लिखें धुन वार दयो है
दादी, फूफी खुशहाल फिरें मन अंग समात न फूल गयो है
तारे दिखाने के गीत बुलाएं सो मंदिर बीच विनोद नयो है
अकबर शाह के नंद भयो, सबके घर बीच आनंद भयो है।

यह रस्म मुग़ल ख़ानदान में आमतौर पर मनाई जाती थी। जब बहादुरशाह ज़फ़र के यहां शहजादे का जन्म हुआ तो बादशाह ने मृग मारने की रस्म अदा की थी–

वहीं फिर शाह ने ये रस्म कर वां
छपरकट पर कदम रख होके शादां
अदा कर हर्फ़ बिस्मिल्लाह सारा
कमान-ओ-तीर लेकर मृग मारा
नमूदार इस तरह था सक़फ में तीर
फलक पर कहकशां कि जैसे तहरीर

तारे देखने के बाद जच्चा आकर पलंग पर बैठ जाती थी।

बगीर बच्चा

इसके उपरांत जच्चा के आगे के बर्तन और चौमक में रुपये डालकर दाई को बतौर इनाम दिए जाते थे। किला-ए-मुअल्ला (दिल्ली) में इसके साथ एक और रस्म भी अदा की जाती थी, जिसे बगीर बच्चा कहते थे। इसका क़ायदा यह था कि सवा पांच सेर का एक मीठा रोट ज़मीन पर आग जलाकर सेंका जाता था और रोट को बीच में से तोड़ लिया जाता था तथा उसका सिर्फ़ बाहरी वृत रहने दिया जाता था। इसके ऊपर नंगी तलवारें और दाएं-बाएं तीर बांध कर लटका देते थे। सात सुहागिनें, जिनमें से तीन इस वृत के सामने और चार बाईं ओर कतार बांधकर खड़ी हो जाती थीं। इनमें से एक औरत रोट की गोलाई में से बच्चे को देती और कहती कि, ''बगीर बच्चा।'' दूसरी ''अल्लाह निगहबानी बच्चा'' कहकर ले लेती और अपनी टांगों में से बच्चे को निकाल कर तीसरी से कहती कि ''बगीर बच्चा''। कहने का अभिप्राय यह है कि इसी प्रकार सातों सुहागिनें, सात बार बच्चे को रोट की गोलाई और अपनी टांगों में से निकालती थीं। मूल रूप से इस रीति का संबंध तुर्कों से है।

मौलवी सैयद अहमद देहलवी के अनुसार हिंदुओं की भांति मुसलमानों में भी ग्यारह से लेकर तेरह दिन तक सूतक या छूत रहती है। इस अवधि तक जच्चा अपवित्र समझी जाती है और उसके पास परहेज़ी बच्चों को आने जाने नहीं देते। कई शंकालु स्त्रियां पेटवालियों को भी इस जगह से बचाती हैं और इतने दिनों तक घर भी और जच्चा भी अपवित्र समझे जाते हैं।

सिरदान करने की रस्म

जच्चा को तारे दिखाने की रस्म के बाद सिरदान करने की रस्म अदा की जाती थी। सभी स्त्रियों का यह विश्वास था कि उस बच्चे को, जिसके अभी दांत न निकले हों, अगर कोई अपने सिर से ऊंचा उठा ले तो उसको सफेद दस्त आने लगते हैं। और अगर पहले ही यह क्रिया कर ली जाए तो वह बच्चा इस प्रकोप से बच जाता है। इस क्रिया को इस प्रकार किया जाता था कि पलंग या चारपाई की अदवान निकाल डालते थे और फिर दो औरतों को इस टोटके के लिए बुलाते थे, जिनमें से एक मां और दूसरी बेटी हुआ करती थी। एक औरत इस पलंग के ऊपर बंधी मोटी रस्सी की ओर तथा दूसरी पांयती के नीचे बैठ जाती थी। ऊपर वाली औरत बच्चे को अदवान की खाली जगह से निकाल कर नीचे वाली औरत को देती थी। यह क्रिया सात बार की जाती थी। दिल्ली के कुछ ख़ानदानों में यही रस्म 'शीरदान' के नाम से जानी जाती थी।

धमन की रस्म

सियालकोट (पंजाब) और गुजरात के मुसलमान इस रस्म को अदा करते थे। गुजरात में जच्चा पांचवें या सातवें दिन नहाती थी। और नए कपड़े पहनती थीं। कुनबे के लोगों में रोटी और हलवा बांटा जाता था। यह रस्म धमन करना कहलाती थी।

नामकरण

अबुल फ़ज़ल ने लिखा है कि जब सूतक के दिन बीत जाते थे तो दूसरे दिन बच्चे का नाम रखने से पहले यह देखते थे कि जन्म कुंडली में चंद्रमा की स्थिति कहां है। इस ज्योतिष से जो अक्षर निकलता, उसी अक्षर से नाम रखा जाता था। चार अक्षरों से ज्यादा का नाम बुरा समझा जाता था। जाफ़र शरीफ़ के अनुसार बच्चे का नाम जन्म के दिन रखा जाता था। या जैसा कि देश के ज्यादातर हिस्सों में दस्तूर था, नाम रखने की रस्म सातवें दिन अदा की जाती थी।

मनूची का कथन है कि अगर मुगल खानदान के किसी शहजादे के यहां पुत्र संतान का जन्म होता तो बच्चे का नाम उसका दादा सुझाता था। वह इस दिन उसके लिए वज़ीफ़ा भी मुकर्रर करता था लेकिन अपने लड़कों से कम। वह कम से कम तीन सौ रुपये सालाना इस बच्चे के लिए मुकर्रर करता था। इसके विपरीत अगर किसी अमीर के यहां लड़का पैदा होता था तो वह अपने समय के बादशाह से इसका नाम रखवाता था। मिर्ज़ा मज़हर जाने जानां का नाम 'जानेजानां' औरगंज़ेब ने सुझाया था।

अक़ीक़ा या मुंडन

अबुल फ़ज़ल का कथन है कि जब बच्चा एक साल या तीन साल का हो जाता था तो उसके सिर के बाल मुंडवाये जाते थे। कई लोग पांचवें या सातवें या आठवें साल में बाल मुंडवाते थे। इस अवसर पर उत्सव मनाया जाता था। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में यह रस्म चौदहवें दिन अदा की जाती थी और बच्चों के बालों के वजन के बराबर चांदी या सोना गरीबों और भिखारियों में बांट दिया जाता था।

चिल्ले

चिल्ले का अर्थ चालीस दिन होता है। जच्चा चालीसवें दिन बड़ा चिल्ला नहाती है और इससे पहले भी उसे तीन बार स्नान कराया जाता है। इस कारण बड़े चिल्ले की अनुरूपता में जच्चा के हरगुसल (स्नान) को चिल्ला कहते हैं। संक्षेप में, जच्चा दसवें दिन नहाती थी तो उसे दसवां, बीसवें दिन नहाती थी तो बीसवां और महीने में नहाती थी तो उसे महीने का या छोटा चिल्ला कहते थे। चालीसवें दिन बड़ा चिल्ला नहाया जाता था। इस दिन जच्चा और बच्चा दोनों नहा-धोकर जचगी की मियाद को पूरा कर लेते थे और इसी दिन ज़च्चा अपने मायके पाँव फेरने जाती थी।

मरंडों की रस्म

मरंडे अर्थात लड्डू मुट्ठियां बंद करके बनाते हैं और बच्चा भी उन दिनों मुट्ठिया बंद करना शुरू कर देता है। अतएव इस समानता के कारण इस रीति का नाम ही मरंडा रख दिया गया। जब बच्चा पांच या छः महीने का हो जाता था और हाथों की मुट्ठियां बंद करने लगता था तो नानी के यहां से गेहूं या मुरमुरों के लड्डू या अपनी हैसियत के अनुसार मोतीचूर के लड्डू और ख़शखाश या गेहूं की बनी मिठाइयां आर्ती और दुल्हन के रिश्तेदारों में बांटी जाती थीं।

दांतों के निकलने की रस्म

जब बच्चे के दांत निकलने शुरू होते हैं तो फूफिया, खोपरा चबाकर उसके मुंह में फूंकती थीं और इसका उन्हें नेग दिया जाता था। स्त्रियों का विचार था कि खोपरा चबाकर बच्चे के मुंह में डालने से दांत आसानी के साथ निकल आते हैं। वर्तमान में गांव की स्त्रियां बच्चों के गले में मछली के दांतों की बद्धी डालती थीं ताकि बिना कष्ट के दांत निकल सकें।

वर्षगांठ या सालगिरह

अबुल फ़ज़ल ने लिखा है कि हिंदुओं में यह प्रथा थी कि प्रतिवर्ष जन्मदिन की तारीख को एक भोज दिया जाता था। और एक डोरी में एक नई गांठ लगा देते थे। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के मुसलमानों के हर वर्ग में यह प्रथा पाई जाती थी। बादशाहों और अमीरों के यहां हर्ष के इस अवसर पर बड़े जश्न मनाए जाते थे और बड़ी धूम-धाम होती थी। हर साल जन्म दिन पर आयु की गणना के उद्देश्य से डोरी में एक गांठ बढ़ा दी जाती थी। मिसेज़ मीर हसन अली ने लिखा है–

"हर ख़ानदान में हर एक लड़के की हमेशा सालगिरह मनाई जाती है। इस रस्म को मनाने की विधि यह है कि मां अपने पास एक डोरी रखती है। हर साल जन्म दिन पर उसमें एक गांठ बढ़ा दी जाती है। लड़कियों की उम्र की गिनती चांदी के एक तार में लगाकर या गर्दनी में हर साल एक छल्ले को बढ़ाकर करते हैं। मुसलमानों के बच्चों की उम्रशुमारी का सिर्फ यही तरीक़ा है।"

संक्षेप में, बादशाहों और अमीरों के यहां इस अवसर पर हर्ष मनाया जाता था। नृत्य और संगीत की महफिलें सजती थीं। आतिशबाज़ी छोड़ी जाती थी। बच्चे को उसकी आयु के अनुसार खिलौने दिए जाते थे। दावतें दी जाती थीं और इस अवसर पर गरीबों की उपेक्षा नहीं की जाती थी। इस दिन दरबारी शायर सालगिरह पर अपनी रचनाएं लेकर हाज़िर होते थे और उन्हें विभिन्न प्रकार के पुरस्कारों से उपकृत किया जाता था।

यह बात अतिश्योक्ति लगती है। लेकिन 'तारीख़-ए-अहमदशाही' के लेखक ने लिखा है कि क़ुदसिया बेग़म (अहमदशाह बादशाह की माता) ने अपनी सालगिरह के मौक़े पर दो करोड़ रुपये खर्च किए थे। वह आगे लिखता है, "इस तरह की मजलिस-ए-ऐश मुनाक़िद (आयोजित) हुई थी कि बादशाहों की सालगिरह के मौक़े पर ऐसा जश्न मुमकिन न था।"

शाह आलम द्वितीय ने 'नादिरात-ए-शाही' में अपने बेटे अकबर शाह की सालगिरह के जश्न का कई जगह ज़िक्र किया है।

शुभ दिन शुभ मुहूरत काज भए घर अब सनवारे के
देओ मुबारक सब मिल आज बरसी गांठ भई अकबरशाह के प्यारे की

पालना

आमतौर पर बच्चे को लगभग साल-डेढ़ साल की उम्र तक पालने पर ही सुलाया जाता था। यह पालना छूछक के साथ उसकी ननिहाल से आता था।

बेगम जान के पुत्र भयो सुन मोद से गोद खिलावत नाना
लोरी दे चूम झुलावत पालना नानी जिया बड़वई सुख माना।

दूध बढ़ाना

परिस्थितियों को देखते हुए बच्चे के दूध बढ़ाने (छूटाने) का समय निश्चित नहीं था। समय और आवश्यकता के अनुसार बच्चे का दूध बढ़ाया जाता था। प्राय: आजकल भी बच्चे को उस समय तक मां का दूध पिलाया जाता है जब तक उसकी मां दोबारा गर्भवती नहीं हो जाती। और इसके बाद तुरंत दूध छुड़ा दिया जाता है। मीर हसन देहलवी के बयान से ऐसा मालूम होता है कि अगर एक स्त्री के एक बार बच्चा हो जाए और फिर वह कई सालों तक गर्भवती न हो तो ऐसी स्थिति जब बच्चे की उम्र तीन या चाल साल की हो जाती थी तो मां का दूध छुड़ा दिया जाता था-

वो गुल जब कि चौथे बरस में लगा
बढ़ाया गया दूध उस माह का।

इस अवसर की रस्मों का ज़िक्र करते हुए सैयद अहमद देहलवी लिखते हैं-

''इसमें खजूर तलते हैं। ननिहाल और ददिहाल के लोग जमा होते हैं। एक बर्तन में खजूरें भरकर बच्चे के आगे रखते हैं ताकि वह उसमें से उठा ले। अगर बच्चे ने एक खजूर उठा ली तो सब खुश हो गए और कहा-बस हमारा नन्हा सिर्फ एक दिन ज़िद करेगा-और जो दो-चार खजूरें उठा लीं तो कहा कि यह तो बड़ा ही जिद्दी होगा। कम से कम चार दिन तो जरूर मचलेगा।''

ख़त्ना की रस्म

मुसलमानों की यह एक शरई (धार्मिक) रस्म है। लेकिन भारतीय मुसलमानों ने इस अवसर के लिए भी दूसरी रस्में अपना ली थीं। मसलन जिस बच्चे की ख़त्ना की रस्म अदा होती थी तो उसे पहले शादी में भाइयों की तरह पीले कपड़े पहनाए जाते थे, घोड़ी पर चढ़ाते और उसे फ़र्ज़ी दूल्हा बनाते थे। तराशी हुई खाल एक कपड़े की धज्जी में रखकर बच्चे के बाएं पैर में बांध देते थे ताकि किसी का परछावां न पड़े और कुछ ज़माने पहले तो साथ ही मोर का पंख भी बांध दिया करते थे। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक शरीफ़ घरानों से यह रस्म जाती रही, निचले तबक़े में मुसलमानों में अब भी बाकी है। जब बच्चे का ज़ख्म अच्छा हो जाता तो पांव में से खाल खोलकर फेंक देते थे। और इसके बाद घोड़ी चढ़ाने की रस्म होती थी।

घोड़ी चढ़ाना

इस दिन फिर सगे संबंधी इकट्ठे होते थे। बच्चे को नहलाते-धुलाते, नया जोड़ा पहनाते और उसे दूल्हा बनाते थे। लड़के को घोड़ी पर चढ़ाकर बाजे-गाजे के साथ किसी बुजुर्ग की मज़ार पर ले जाते। दिल्ली वाले जामा मस्जिद के अंदर आसार शरीफ में बच्चे को ले जाकर सलाम कराते और मलीदा चढ़ाते थे। दूसरे इलाक़ों में किसी बुजुर्ग की मज़ार या मस्जिद में ले जाकर यह रस्म अदा की जाती थी। ख़त्ना के बाद मेहमानों को खाना खिलाया जाता था। नाच-गाने की महफिलें होती थीं और स्त्रियां 'सुहाग घोड़िया' गाती थीं। यह रस्म कश्मीरी हिंदुओं के जनेऊ संस्कार से मिलती जुलती थी। लेकिन मुग़लों में उन शहज़ादों का ख़त्ना नहीं होता था जो तख्तोताज़ का वारिस होने वाले होते थे। इसके कारण पर प्रकाश डालते हुए सैयद अहमद देहलवी ने लिखा है:

''जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर बादशाह ने अपनी प्रजा से मेल-मिलाप की गरज से हिंदू विश्वासों और रीतियों को अपना लिया था। लोगों में इनका यहां तक प्रचलन हो गया था कि अब इस अंतिम दौर में भी जो शहज़ादा तख्त का हकदार माना जाता था, वह तख़्त-ए-हिंद के प्रति सम्मान रखने के कारण ख़त्ना नहीं कराता था। जिनके विरसे में तख़्त नशीनी नहीं आ सकती थी, वे शरीयत के अनुसार ख़त्ना कराते थे।''

मीर हसन देहलवी ने एक मुगल शहजादे के जन्म से लेकर विवाह तक के सभी संस्कारों का ज़िक्र किया है लेकिन उसमें ख़तने की रस्म का कहीं ज़िक्र नहीं है क्योंकि वह तख़्तोताज का वारिस होने वाला था। इससे ी यही सिद्ध होता है कि तख़्तोताज के वारिस शहज़ादे का ख़तना नहीं होता था।

नाक-कान छिदवाने की रस्म

लड़कियों के नाक-कान छिदवाए जाते थे ताकि वे आभूषण पहन सकें! कर्णछेदन के समय पर खोपरा और मिस्री ननिहाल और ददिहाल वालों में बांटे जाते थे। कनबंधे अर्थात् कान छेदने वाले को उसका नेग दिया जाता था। कान छेदने वाले आमतौर पर हिंदू होते थे। इससे स्पष्ट होता है कि यह संस्कार हिंदुओं से लिया गया है।

बिस्मिल्लाह ख़्वानी

हिंदुओं के यहां यह प्रथा थी कि जब लड़के की आयु चार वर्ष की हो जाती थी और पांचवां वर्ष शुरू होता था तो उसे पाठशाला भेजा जाता था। इस अवसर पर उत्सव मनाया जाता था। मुसलमानों में भी यह रस्म पाई जाती थी। इस अवसर पर लड़के को नहला-धुलाकर नए कपड़े पहनाये जाते थे और उसे दूल्हा बनाया जाता था। हर वर्ग के

लोग अपनी हैसियत के अनुसार इस उत्सव को मनाते थे। शाह आलम द्वितीय ने अपने बेटे अकबर शाह द्वितीय की बिस्मिल्लाह ख़्वानी की रस्म और तक़रीब (उत्सव) का वर्णन किया है।

मेंहदी रचाना

शादी ब्याहों की तरह इस अवसर पर भी मेंहदी रचाई जाती थी, नया जोड़ा पहनाया जाता था। सिर पर सेहरा बांधा जाता, गले में हार डाले जाते, कान में गोशवारा या तुर्रा लटकाया जाता और पूरी तरह से उसे दूल्हा बनाते थे।

मूंछों का कूंडा

जब लड़के की आयु सत्रह या अठारह वर्ष की हो जाती थी और उसकी मसें भीगने लगती थीं तो मूंछों का कूंडा किया जाता था। अर्थात् पैग़ंबर साहब की नियाज़ बतौर शुकराना दिलवाई जाती थी क्योंकि लड़का सलामती से जवान हो गया है। यह नियाज़ सुइयों पर होती थी। प्रथानुसार इस अवसर पर चंदन घिस कर लड़के की मूंछों पर अंगुलियों की बजाय एक रुपये के सिक्के से लगाते थे। इस नियाज़ के भोजन को स्त्री और पुरुष दोनों ग्रहण कर सकते थे जबकि बीबी की फ़ातिहा का खाना सिर्फ स्त्रियां ही खा सकती थीं।

रतजगा

रतजगा का शब्दार्थ जागने की रात है। इसे जागरण भी कहते हैं। इसमें रातभर जाग कर इबादत की जाती है लेकिन भारत की मुसलमान स्त्रियों ने खुशी की तकरीबों के मौक़ों पर रात भर जागने और नियाज़ दिलाने का नाम रतजगा रख लिया है। लखनऊ में इसको 'ख़ुदाईरात' भी कहते हैं। यह रतजगा पांच उत्सवों पर होता है-छठी, दूध छुड़ाई, सालगिरह, बिस्मिल्लाह ख़्वानी और शादी। इस अवसर पर सारी रात गुलगुले तले जाते थे और अल्लाह मियां का रहम बनाया जाता था। नियाज़ दिलवाई जाती थी और बीबी फ़ातिहा की नियाज़ भी इसके साथ है। खुश्के या ज़र्दे पर दिलवाई जाती थी। बीबी की नियाज़ या सहनक[5] में सात प्रकार की तरकारियां और सात ही प्रकार के मेवे रखे जाते थे। नियाज़ का खाना कोरे बर्तनों में निकाला जाता था। बीबी की नियाज़ के लिए सवा पांच सेर चावल पकाए जाते थे। इस पर ढाई सेर खांड और ढाई सेर दही डाला जाता था। इसमें मिस्सी, तेल, सुरमा, मेंहदी, कलावा, चंदन और पांच आने चिरागी के भी रखे जाते थे। नियाज़ का खाना सिर्फ परहेज़गार औरतें खाती थीं। शाह आलम सानी ने अकबर शाह की सालगिरह के अवसर पर रतजगा का वर्णन इन शब्दों

में किया है–

गावत मंगलचार सबई तिए आपस में मिल रात जगाई,
बाजत ताल महचंग पखावज गाए गुनी न्यौछावर पाई।
लाखों साल हुलास बिलास सों राज करों सुखसों सुखदाई,
अकबर शाह की सालगिरह, शाह आलम को सब देत बधाई।

वैवाहिक संस्कार

पहले तो यह बात अपने चित्त में स्थित कर लेनी चाहिए कि भारतीय मूल के मुसलमान और उनकी स्त्रियां न केवल इस देश की प्रथाओं का पालन करती थीं बल्कि उन्हें सुरक्षित रखते हुए उनमें अपनी ओर से कुछ नई रस्में जोड़ने की भावना रखती थीं। इस कारण वे मुसलमान होने के बावजूद भारतीय रीति-रिवाज और विश्वासों को इस ढंग से अपनाए रहे कि उन्हें इस बात का आभास तक भी न रहा कि इन रीति-रिवाजों और विश्वासों का इस्लामी जीवन पद्धति से दूर का संबंध भी नहीं है। संक्षेप में यह कि कुछ स्थानीय और मामूली अंतरों के अलावा समूचे उत्तर भारत में शादी ब्याह के रस्मों-रिवाज हर वर्ग के मुसलमानों में एक समान पाए जाते थे। केवल बाहरी सजधज और टीम टाम में अंतर मिलता था। कुछ रस्मों को छोड़कर शेष सभी वैवाहिक संस्कार हिंदू और मुसलमानों में एक जैसे थे। यदि कोई अंतर था तो केवल नामों का। मिर्ज़ा क़तील, जो दोनों समुदायों की रस्मों से बखूबी थे, लिखते हैं–

"हिंदुस्तान के मुसलमान बेटे और बेटी की शादी में कुछ रस्मों को छोड़कर (जैसे अग्नि के फेरे लगाना) बाकी सब रस्में हिंदुओं की तरह करते हैं। जैसे लड़की और लड़के को पीले कपड़े पहनाना, कलाई पर रेशमी कलावा बांधना। शादी हो जाने तक दूल्हे के हाथ में लोहे के हथियार का होना और औरतों का शादी के लोक-गीत गाना, बड़े ठाट-बाट के साथ दूल्हे का दुल्हन के घर साचिक़[6] ले जाना इन रस्मों का संबंध हिंदुस्तानियों से है।[7]"

शादी मुसलमानों में एक बहुत ही महत्वपूर्ण अवसर था। देहातों में विशेष रूप से तथा शहरों में सामान्यतया बाल विवाह का रिवाज था। लेकिन शहर के बड़े घरानों में शादी उस समय होती थी जब लड़के की उम्र अठारह वर्ष और लड़की की उम्र चौदह वर्ष हो जाती थी। शादी के मामले में लड़की और लड़के को किसी प्रकार की आजादी नहीं दी जाती थी। और न लड़का और लड़की शादी से पहले एक दूसरे को देख सकते थे।

शादी ब्याह की बातें प्राय: इस पेशे से जुड़ी स्त्रियों के माध्यम से तय होती थीं लेकिन संभ्रांत घरानों में वयोवृद्ध और अनुभवी स्त्रियां अपने लड़के या लड़की के

लिए स्वयं उचित वर या वधू तलाश करती थीं। दोनों पक्ष एक दूसरे के विषय में समुचित जानकारी प्राप्त करते थे और इसके बाद संबंध पर विचार किया जाता था। कई बार ऐसा भी होता था कि उचित कुल गोत्र न मिलने पर तीस-तीस, चालीस-चालीस वर्ष की उम्र तक लड़की को बैठाए रखते। बल्कि कई औरतें तो इस आशा में बूढ़ी होकर बिन ब्याही मर जाती थीं। यद्यपि इस्लाम का सामाजिक दृष्टिकोण समानता का पक्षधर है और इसमें वंश या कुल को कोई महत्व नहीं दिया गया है, लेकिन भारतीय मुसलमानों ने इस बात को बहुत अहमियत दे रखी है और आज भी दे रहे हैं। वंश या कुल की श्रेष्ठता की भावना का आधार यह था कि भारतीय मूल के जो लोग धर्मान्तरण के बाद मुसलमान हो गए थे, उन्होंने मुसलमान होने के बाद भी अपने पारंपरिक रिवाजों को नहीं छोड़ा। वे हिंदू सामाजिक ढांचे के नियमों का पालन करते रहे। धीरे-धीरे भारतीय मुसलमानों में जाति पर आधारित एक समाज बनने लगा। विशेष रूप से यह भारत में ही विद्यमान है।

संक्षेप में यह कि हिंदू रीति के विपरीत उत्तर भारत के कुछ क्षेत्रों में विवाह का प्रस्ताव वर पक्ष की ओर से रखा जाता है लेकिन विशेष रूप से बिहार और बंगाल में अब भी यह प्रस्ताव लड़की वालों की ओर से रखा जाता है।

मंगनी

इस रस्म का उद्देश्य किसी लड़की को किसी लड़के के लिए मनोनीत करना होता था। इस रस्म को मंगेवा, मंगनी और रोकना भी कहते थे। और शहरों में इसे 'निस्बत' कहा जाता था। इस रस्म के अनुसार दूल्हे के यहां से कुछ पुरुष और निकट के संबंधों की स्त्रियां दुल्हन के घर मिठाई की थालियां और चढ़ावे लेकर जाती थीं। मिठाई की मात्रा हैसियत पर निर्भर करती थी। मिस्री के पात्रों में कम से कम एक, ज़्यादा से ज़्यादा चार-पांच चांदी के वर्क लगाए जाते थे। इन्हीं में से दुल्हन को सात या नौ डलियां तोड़कर खिलाई जाती थीं और फिर यह पात्र दूल्हे के यहां वापस आ जाता था। इसके अलावा पांव के आभूषण भी दुल्हन को चढ़ाए जाते थे। ये आभूषण चांदी या सोने के पत्तों से मढ़े हुए होते थे। मिस्री के बाद दुल्हन को एक निवाला खिलाया जाता था। आभूषणों से सजे हुए पात्र, जिनमें छल्ला, अंगूठी आदि पांच आभूषण होते थे, रख दिए जाते थे। इस पात्र में पानदान भी होता था। इन पात्रों की संख्या बीस-पच्चीस हुआ करती थी। इन्हें स्वच्छ कपड़ों से ढक कर कतार-सी बनाकर रखा जाता था। फूलों के गहनों में सेहरे के अलावा सब कुछ होता था जैसे-चंपाकली, जगनी, कर्णफूल, झुमके, बाजूबंद आदि। कारचोबी का बटुआ होता था। जब समधनें दरवाजे पर उतरती थीं तो दुल्हन की तरफ की औरतें हर एक समधन के माथे

पर चंदन लगातीं और एक हार उनके गले में डालती थीं। इसके बाद दुल्हन को गोद में उठाकर लाते थे और मेहमानों के सामने बिठा देते थे। इस अवसर पर दुल्हन की पोशाक सुर्ख़ होती थी। इसके बाद दुल्हे की बहनें उसे फूलों के गहने और चढ़ावे के ज़ेवर पहनाती थीं। इसके बाद चांदी के पत्तों से जड़े हुए पात्र में से मिस्री की सात डलियां तोड़कर सात सुहागिन स्त्रियां बारी-बारी से दुल्हन के मुंह में देती थीं। पान खिलाने के बाद दुल्हन के दोनों हाथों में रुपये और अशर्फियां रख देते थे और इसको 'रूपदर्शन' कहा जाता था। फिर कारचोबी का बटुआ रूमाल सहित दुल्हन के हाथ में रख दिया जाता था। इसके बाद गोद में उठाकर दुल्हन को अंदर ले जाते थे और मंगल गीत गाए जाते थे।

उसी दिन या उसके बाद दुल्हन की ओर से कुछ आदमी मिठाई और मिस्री के पात्र, अंगूठी और छल्ला, फूलों की लड़ी और तुर्रा आदि लेकर दूल्हे के घर आते थे और निशान चढ़ाकर चले जाते थे। मुगलों के यहां दुल्हन वाले दूसरे दिन आते थे। मंगनी की रस्म में अंगूठी का बड़ा महत्व होता था। लड़की और लड़के दोनों को इस अवसर पर अंगूठी पहनाई जाती थी। इस रस्म के बाद शादी तक हर तीज त्यौहार पर परस्पर आदान-प्रदान चलता रहता था। मिसाल के तौर पर शबे-बरात को दूल्हे के यहां से दुल्हन के लिए आतिशबाजी, मेंहदी, चूड़ियां और मिठाई के ख़्वान जाते थे। इसी प्रकार दूसरी ओर से दूल्हे के लिए आतिशबाजी और मिठाई वगैरह आती थी। दूसरे त्यौहारों, जैसे रमजान, ईद, बक़र-ईद, मुहर्रम और फूलों की सैर के दिनों में परस्पर चीज़ें भेजी जाती थीं।

पंजाब क्षेत्र में इसके बाद कुछ और रस्में भी होती थीं। जैसे, सियालकोट में मीरासी, नाई और पंडित लड़के के घर जाते थे और जब उसके घर पहुंचते थे तो थोड़ा सा तेल देहरी पर डाला जाता था फिर वे घर में प्रवेश करते थे। इस रस्म को तेल डालना कहते थे। मुंह जुठलाने की रस्म के बाद खिचड़ी की रस्म होती थी और इस अवसर पर नगाड़े बजाए जाते थे। उपस्थित लोग लड़के के बाप को नेग के रूप में एक-एक रुपया देते थे, जो लड़की का हक़ होता था। मीरासी और नाइन आदि को विदाई दी जाती थी।

गुजरांवाले के संपन्न घरानों में 'टीका' की रस्म अदा की जाती थी। इस प्रथा के अनुसार लड़की वाले, एक नाई, मीरासी, पंड़ित और दर्ज़ी को एक घोड़े और ऊंट पर भेजते थे। ये लोग लड़के और उसके बाप के लिए कपड़े ले जाते थे। इसके अलावा लड़के के लिए एक अंगूठी, इक्कीस रुपये नक़द, मिस्री के पांच कटोरे और कुछ सूखी खजूरें भी होती थीं।

शादी की लगन धरना

जब दोनों पक्ष शादी की तैयारियां कर लेते तो दूल्हे की मां, बहनें और निकट संबंधियों की स्त्रियां मिठाई के थाल साथ लेकर और अगर बड़ा घर होता तो बाजे के साथ, दुल्हन के घर जातीं और तारीख ठहरा कर वापस चली जातीं। इस रस्म को शादी की लगन धरना कहते हैं।

मीर हसन देहलवी ने लिखा है कि इस दिन लड़की वाले एक थाल में कुछ चीज़ें लड़के वालों के यहां एक पर्चे के साथ भेजते थे, जिसमें शादी की तारीख़ लिखी होती थी। भारतीय मुसलमान भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रथाओं से बंधे थे और अब भी बंधे हैं। अतएव इस कारण वे लोग साल के कुछ महीनों और दिनों (जैसे मुहर्रम आदि) में शादी करना अशुभ मानते हैं। तारीख़ ठहराने में शुभ महीना, शुभ दिन और शुभ घड़ी का विशेष ध्यान रखा जाता था और नुजूमियों (ज्योतिषियों) के परामर्श से तारीख़ ठहराई जाती थी। मिसाल के तौर पर एक बादशाह ने अपने बेटे की शादी के अवसर पर नुजूमियों को तलब किया और उनसे तारीख़ मालूम की:–

> एक अच्छी सी तारीख़ ठहराइऐ
> दिया हुक्म हमने, तुम्हें आइए
> बुला शगुनियों को बता साल-ओ-सन्
> मुक़र्रर किया नेग सायत का दिन।

यदि तारीख़ के ठहराने में शकुन और अपशकुन का विचार न रखा जाता और दुर्भाग्य से शादी के दिन या बाद में कोई दुर्घटना हो जाती तो उन्हें यही भ्रम होता था कि यह सब कुछ बुरी साइत और अशुभ घड़ी के कारण हुआ था।

माइयों बैठाना

वास्तव में यह पंजाबी प्रथा थी और इसके अनुसार दुल्हन को मांझे (चारपाई) पर बैठाया जाता था। धीरे-धीरे मांझा बैठाने को माइयों बैठाना कहने लगे। संक्षेप में यह कि शादी की तारीख़ निश्चित होने के बाद दस-पन्द्रह दिन रोज़ दुल्हन को पीले कपड़े पहनाकर माइयों बैठाते थे और लड़के को सिर्फ एक दो दिन पहले। इस अवसर पर संबंधी स्त्रियां जमा होती थीं और दुल्हन के कपड़े पीले रंग में रंगे जाते थे। उसे नहला धुलाकर, सिर की चोटी गूंथ कर माई बैठाया जाता था। पहले दिन चौकी पर बैठाते थे। फिर बहनें मलीदा के साथ उसे निवाले खिलातीं और फिर उसके हाथ पर उबटन रखती थीं। इसके बाद उसकी मां उसके दोनों हाथों में एक रुपया, एक पान का बीड़ा और सात पिंडियां रखतीं और कहती "बेटी हम तुम्हारे फर्ज़ से अदा हुए।" इसके बाद दुल्हन को ले जाकर एक कोठरी में एक पलंग पर बैठा देते और फिर उसके कहीं

आने-जाने पर प्रतिबंध लगा दिया जाता। रोज़ाना उसके शरीर पर उबटन लगाया जाता। दुल्हन का बचा और गुंधा हुआ उबटन लगन में रखकर और ढ़ाई सेर उबटन थालियों में रखकर कम से कम सवा सौ और ज़्यादा से ज़्यादा पांच सौ पिंडियां अन्य सामान के साथ दूल्हे के घर भेजी जाती थीं। उबटन के साथ यह सामान होता था-उबटन की लगन, कटोरा, तश्तरी, सिलंची, आफ़ताबा, लोटा, तीतड़ा, रकाबी का जोड़ा, वर्क लगी हुई पिंडियों से भरे हुए दो सिरपोश, ग्यारह रूमाल, नहाने की चौकी, दो सोज़नी[6], दो लुंगियां, पीले कपड़े यानी माइयों का जोड़ा, तेल की शीशी और चादर आदि। जिस दिन से लड़की को माइयों बैठाया जाता था, उसी दिन से नौजवान लड़कियां और स्त्रियां सुहाग छोड़ियां गाना शुरू कर देती थीं।

उबटन खेलना

दूल्हा और दुल्हन को माइयों बैठाने के बाद अंदर पुरुषों तथा बाहर स्त्रियों के बीच उबटन खेला जाता था। इस अवसर पर बिल्कुल होली के रंग जैसा दृश्य होता था। दुल्हन के सगे-संबंधी दुल्हन के यहां और दुल्हा के सगे संबंधी दुल्हे के यहां उबटन खेलते थे। इसके विपरीत दिल्ली के लाल किले में दूल्हे वाले दुल्हन के यहां और दुल्हन वाले दुल्हे के यहां उबटना खेलने जाया करते थे। बहादुर शाह ज़फ़र के बाद मुगल खानदान में यह रस्म जारी रही थी।

साचक़

असल रस्म हिनाबंदी का नाम साचक़ है। मिर्ज़ा क़तील ने इस रस्म का विस्तार के साथ वर्णन किया है। वह लिखते हैं कि इस अवसर पर मटकियों को पूजा जाता था और उन पर बेल बूटे बनाए जाते थे, उनमें एक खाद्य पदार्थ भरा जाता था, जो शकर और चने से तैयार होता था। इसके साथ पिश्ता, बादाम और मिसरी से उन्हें लबालब भरा जाता। चार मटकियों को एक तख्त पर रखते थे। प्रत्येक तख्त को चार पुरुष उठाते और इसी तरह सजावट के तख्त जमाते थे। इसके अलावा मेवे के कुछ थाल होते थे और दुल्हन के लिए फूलों के हार और बाजूबंद व दस्तबंद आदि जेवर होते थे। फिर अपनी हैसियत के अनुसार हाथी, घोड़ा या मियाने पर सवार होकर दुल्हन के घर जाते थे। औरतों को मियाना, चौपाल या डोली पर सवार करके और दूल्हे को हाथी या घोड़े पर सवार करके ले जाया जाता था। दुल्हन के घर पर दूल्हे को एक मसनद पर बैठाया जाता था। इसके बाद नाच गाने शुरू होते थे। जब दो पहर रात बीत जाती थी तो गुलाब की सुगंधयुक्त शर्बत पेश किया जाता था...पहले शर्बत दूल्हे को पिलाया जाता था और इसके बाद दूसरों को। दूल्हे के लिए यह जरूरी था कि शर्बत छकने के बाद पांच रुपये

या कम या एक अशर्फ़ी थाली में डाले और एक दो रुपये लगन में भी डालता था। दूसरे लोग भी कुछ न कुछ लगन में डालते थे।

इसके बाद पहले सी शानो-शौकत के साथ दूल्हा अपने घर वापस आता था। यह रस्म अमीर और गरीब सब में प्रचलित थी। अजीत सिंह राठौर से फ़र्रुखसियर बादशाह की शादी के अवसर पर यह रस्म की गई थी। और बादशाह ने बड़ी शानो-शौकत के साथ साचिक़ की चीज़ें दुल्हन के घर भिजवाई थीं। इसी प्रकार अपने बेटे मुग़ल अली खां की शादी में क़ासिम अली खां ने साचिक़ के उपहार में सूखे मेवे, मिठाइयां, पचास थाल, रंग-बिरंगे और किस्म किस्म के कपड़े, इत्र, हार और पान दुल्हन के घर भेजे थे।

हिनाबंदी

साचक़ के दिन या अगले दिन या उसके दो-तीन दिन बाद यदि कोई विशेष कारण न हो तो शब-ए-हिनाबंदी मनाई जाती थी। इसका तरीका यह था कि दुल्हन घर से उस तरफ के लोग दूल्हे के लिए मेंहदी उसी रूप में लाते थे जैसे कि साचिक़ के दिन दूल्हे के घर से भेजी जाती थी। दूल्हे के घर से भेजे गए सजावट के तख़्ते उसी जगह छोड़ दिए जाते थे। संक्षेप में यह कि मेंहदी पहुंचने के बाद दूल्हे को जनानख़ाने में बुलाते थे ताकि रिश्ते की सालियां उसके हाथ-पैरों में मेंहदी लगाएं और जब वे मेंहदी लगा चुकें तो दूल्हे के लिए आवश्यक था कि वह नेग के रूप में उन्हें कुछ रुपए दे।

इसके अलावा मेंहदी के साथ दूल्हे के लिए वह जोड़ा भी भेजा जाता था जिसे कि वह बरात वाले दिन पहन कर दुल्हन के घर जाता था। इस जोड़े में आमतौर पर ये चीज़ें होती थीं–मुगल शैली का शमला, चोग़ा, सरपेच और जड़ाऊ कल्गी। मोतियों का हार और सेहरा भी होता था। मेंहदी के बर्तनों के अलावा सौ पचास बर्तनों में मलीदा भी होता था जो सूखे मेवों को कूट कर बनाया जाता था।

नाच-गाने

हिनाबंदी की महफिल में दूल्हे वालों के यहां दोनों ओर की नर्तकियां नृत्य करती थीं। औरतों की महफिल में डोमनियां बधाइयां गाती थीं। इस अवसर पर तथा शादी के दूसरे अवसरों पर सिठनियां भी गाई जाती थीं। इस रात को महफिल की हर औरत अपनी इच्छानुसार जी भर कर दूल्हे को अश्लील बातें सुनाती थीं। आवश्यक रीतियों के बाद शर्बत पिलाया जाता था..और थाली में रुपये रखकर समधन को वह थाली दे दी जाती थी।

शाह आलम सानी ने मुग़ल खानदान में प्रचलित शादी की अन्य रस्मों में 'ब्याह की मेंहदी' के नाम से इस रस्म के महत्व पर प्रकाश डाला है:

बाजत नौबत द्वारे गावत गुनीजन
देखने चलो सोभा हज़रत पीर दस्तगीर की
नीके जवाहर के ख्वान न में बनाए धरी
रोशन भई क्या ऐसी ज़िंदा पीर की
मुक्ता की झालरें लगी हैं, ख़्वानपोश में
तीसी बनी है बहार ज़रन के चीर की
कैसा ही प्यार आज शाह आलम बादशाह ने
मेंहदी बनाए किया अच्छी तदबीर की।

बरात

दूल्हे की तैयारी और बरात के प्रस्थान से पहले बहुत सी रस्में की जाती थीं।

बंधवार-दूल्हे और दुल्हन के घरों के दरवाजों पर आम के पत्तों की मालाएं बनाकर शगुन के लिए बांध दी जाती थीं–

"ये बंधवार शादी की बंधी दूल्हा-दुल्हन के घर।"

मंडप-लड़के को शादी के कपड़े पहनाने और दूल्हा बनाने से पहले मंडप के नीचे बैठा कर नहलाया जाता था। इस काम को नाई करता था, जो मीरासी कहलाता था–

"मुंडे के नीचे नोशा को नहाने की न दी फ़ुरसत।"

तेल चढ़ाना-नहाने से पहले दूल्हा जो कपड़े पहने होता था वे नाई को दे दिए जाते थे। नहाने से पहले दूल्हे के शरीर पर तेल मला जाता था। इस रस्म को तेल चढ़ाने के नाम से जाना जाता है–

नाइन कहे के शर्म से दूल्हा है सरनंगे[9]
अब क्यों कर तेल रू-ए-मुकद्दसे[10] को मैं मलूं।

इसके बाद गर्म पानी से दूल्हे को स्नान करा दिया जाता था।

कंगन बांधना-दूल्हे और दुल्हन की बांई कलाई में कंगन बांधा जाता था, इसको शादी का डोरा भी कहते थे–

"बांधा कंगन तेरे सुख करने को हाथ।"

सेहरा-पुरानी प्रथा के अनुसार दूल्हे का शादी का जोड़ा दुल्हन के घर से आता था और अब भी आता है। और यही जोड़ा पहन कर वह शादी के लिए जाता था। उस जमाने में जोड़े का रंग पीला होता था। सेहरा बांधने के बाद दूल्हे के गले में फूलों के हार और गजरे डाले जाते थे। सिर पर पगड़ी और कंधों पर शाल होती थी।

आभूषण-प्रतिष्ठित और संपन्न घरानों में दूल्हे को आभूषण भी पहनाए जाते थे। फर्रूख़सियर बादशाह ने अपनी शादी में तरह-तरह के आभूषण, पुखराज और हीरे, भुजबंद, गुलूबंद और अंगूठियां पहनी थीं। निम्न और मध्य वर्ग तथा दूसरे पेशावरों के यहां दूल्हे के गले में तोक़ या हंसली और हाथों में कड़े डाले जाते थे। उसके हाथ में लोहे का कोई हथियार या कटार होती थी।

जब बरात का प्रबंध हो जाता था तो धार्मिक नियमानुसार घोड़े या हाथी (सामान्यतया घोड़े[11]) पर बड़े ठाठ-बाट अर्थात् कागज़ के बने फूलों, झाड़ों और गुलदस्तों की सजावट, रोशनी, आतिशबाज़ी और गाने-बजाने की दूसरी चीज़ों के साथ दुल्हन के घर के लिए प्रस्थान किया जाता था। आमतौर पर आधी रात के बाद ही बरात रवाना होती थी। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हिंदू परिवारों में रात के अंतिम पहर में फेरे डाले जाते थे। इस दृष्टि से मुसलमानों के यहां भी निकाह सुबह होता था। देहातों में अब भी यह रस्म पाई जाती है।

मीर हसन देहलवी ने एक शहज़ादे की बरात का बहुत ही रोचक और रमणीय दृश्य प्रस्तुत किया है। दृष्टव्य है:

करूं इस तजम्मुल का क्यों कर बयां
के बाहर है तक़रीर से वो सम़ां।
वो दूल्हा के उठते ही एक ग़ुल पड़ा
लगा देखने उठ के छोटा बड़ा।
कोई दौड़ घोड़े को लाने लगा
कोई हाथियों को बिठाने लगा।
लगा कहने कोई इधर आइयो
अरे रथ शिताबी मेरी लाइयो।
किसी ने किसी को पुकारा कहीं
न लाने पे मियाने के मारा कहीं।
कोई पालकी में चला हो सवार
प्यादों की रख अपने आगे क़तार।
जो कसरत में देखा कि गाड़ी नहीं
कोई मांगे तांगे में बैठा कहीं।
सिपर[12] और कब्ज़े खड़कने लगे
सवारों के घोड़े भड़कने लगे।
टिकोरे वो नौबत के और उनके बाद
गरजना वो घोंसों[13] का मानिंद राद।[13]

वो शहनाइयों की सुहानी धुनें
जिन्हें गोरा-ए-ज़ोहरा[14] मुफस्सल[15] सुनें।
हज़ारों तमामी के तख़्त-ए-खां[16]
और अहले निशात[17] इन पे जलवा कना[18]
वो तबलों का बजना और उनकी सदा
वो गाना कि अच्छा बना लाडला।
ठहर कर वो घोड़ों का चलना संभल
हुमां[19] के वो दोनों तरफ मोर छल।
चिराग़ों के तिरपोलिया जा बजा
और उनमें वो बाज़ारियों की सदा।
वो आराइश[20] और गुल कई रंग के
वो हाथी के दो देव थे जंग के।
वो अबरक की टट्टी, वो मीने के झाड़
कहे तो कि तिनके की ओझल पहाड़।
दो रस्ता बराबर बराबर वो तख़्त
किसी पर कंवल और किसी पर दरख़्त।
अनारों का दग़ना, भचंपे का ज़ोर
सितारों का छुटना, पटाख़ों का शोर।
उड़ाया सितारों को जो आग ने
तो हाथी लगे बन को फिर भागने
वो महताब का छूटना बार-बार
हर एक रंग की जिससे दूनी बहार।
सरासर वो हर तरफ मशअल के झाड़
कि ज्यों नूर के मुश्तअल[21] हों पहाड़।

दूसरे साज़ों के अलावा रोशन चौकी का होना भी आवश्यक था। दुल्हन के घर का रूप भी बरात की शोभा से किसी तरह कम न होता था। वहां भी बड़ी सजावट होती थी और नाच-गाने का प्रबंध होता था। बरात के पहुंचने से पहले दुल्हन को नहला-धुलाकर तैयार कर लेते थे। उसके स्नान के पानी को बाहर ला कर दूल्हे के घोड़े या हाथी के पैरों में डाल दिया जाता था। दुल्हन को सात दिन के बासी ठंडे पानी से स्नान कराया जाता था। इसे कलश का पानी कहते थे। चौकी पर पान बिछा कर उसे नहलाया जाता था और यही पान उन इक्कीस पानों वाले बीड़े में शामिल कर दिए जाते

थे जो सबसे पहले ससुराल में खिलाए जाते थे। इस अवसर पर दुल्हन को शादी का सुर्ख जोड़ा पहनाया जाता था। मेंहदी और फूलों के हारों से उसे सजाया जाता था–

उरसी[22] वो गहना वो सोहा लिबास
वो मेंहदी, सुहानी वो फूलों की बास।
भला सुर्ख़ जोड़े पर इत्र-ए-सुहाग
खुले मिल के आपस में दोनों के भाग।

मीर हसन देहलवी ने एक शहज़ादी की शादी के अवसर पर उसके घर का दृश्य इन शब्दों में प्रस्तुत किया है–

जब आई वो दुल्हन के घर पर बरात
कहूं वांके आलम की क्या तुमसे बात।
हवा वां की सुहबत की रश्क-ए-बहिश्त[23]
धरे लख़लख़े[24] गिर्द अम्बर सरश्त
खड़े बादलों के वो खेमे बुलंद
करें आलम-ए-नूर जिसको पसंद
अजब मस्नद इक जगमगी और फ़र्श
तमामी के आलम का चौकोर फ़र्श
बिलोरें धरे शमादान बेशुमार
चढ़ीं मोम की पत्तियां चार-चार।
नए रंग के और नए तौर के
धरे हर तरफ झाड़ बिल्लोर[25] के।

नृत्य और संगीत

दो ज़ानू[26] ज़री बैठे तमाम
शराब-ए-खुशी के लिए नोश जाम।
वो दूल्हे का मस्नद पे जा बैठना
बराबर रफीक़ो[27] का आ बैठना
तवायफ का उठना इक अंदाज से
दिखाना वो आ सूरतें नाज़ से।
वो अरबाब ए इशरत[28] का आपस में मिल
जमाना धरक राग का दे के दिल।
वो इस सफ से इक छोकरी का निकल
जताना हुनर अपना पहले पहल।

उलटना दुपट्टे का दे दे के ताल
वो बूटा सा क़द और कहरबे की चाल।
कभी पर मिलू में दिखानी अदा
कि ज्यूं लूट कर होवे बिजली हवा।
कभी गत सरी नाचना ज़ौक[29] से
कि तेवरा के आशिक़ गिरे शौक़ से।
अंगूठे की ले सामने आरसी
वो सूरत को देख अपनी गुलज़ार सी
वो शादी की मजलिस वो गाने का रंग
वो जो की खुशी और वो दिल की तरंग

धनगाना-जब दूल्हा, दुल्हन के दरवाजे पर पहुंचता था तो इस अवसर पर दुल्हन के भाई या दूसरे निकट के संबंधी या नौकर दूल्हे को सावधान करके आगे बढ़ने से रोकते थे और अपना नेग मांगते थे। इस अवसर पर दूल्हा अपनी सामर्थ्य के अनुसार नकदी या भेंट दिया करता था। इस रस्म को धनगाना कहते थे। और जो पैसे दिए जाते थे उसको नेग कहते थे। मनूची ने इस रस्म का सविस्तार वर्णन करते हुए लिखा है:-

''जब बराती बढ़ते-बढ़ते दुल्हन के दरवाजे पर पहुंच जाते हैं तो यहां आदमियों का एक झुंड हाथों में डंडे लिए ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता हुआ आता है-''कि अब इसके आगे न बढ़ना।'' दूल्हे के साथ चलने वाले जब रास्ता रुका हुआ देखते हैं तो वहीं ठहर जाते हैं। वे कन्या पक्ष के लोगों से आगे बढ़ने की इजाज़त मांगते हैं क्योंकि उनका संबंध दूल्हे से है। इस पर भी वे लोग बरातियों को अपना प्रतिद्वंद्वी समझते हैं और उन्हें रोकने का प्रदर्शन करते हैं। नाशपाती, शलजम और इस प्रकार की दूसरी चीज़ें उनकी तरफ फेंकते हैं। जब उनकी यह क्रिया बंद हो जाती है तो हाथों में बेंत लेकर वे शोरगुल मचाते हैं। और इस प्रकार बड़ी अफरा-तफरी की हालत पैदा हो जाती है। धक्का-मुक्की में लोगों की पगड़ियां सिर से गिर जाती हैं और कई लोगों के कपड़े फट जाते हैं लेकिन वे लोग दूल्हे को हाथ नहीं लगाते।

''उनके प्रवेश की कोशिश के दौरान दुल्हन की तरफ से कुछ और लोग मौक़े पर आ जाते हैं और बड़ी बुलंद आवाज़ में जंग को खत्म करने की दरख्वास्त करते हैं। अब बिल्कुल ख़ामोशी छा जाती है और वे लोग उनकी बात सुनने लगते हैं। रस्म यह है कि दूल्हा बंद दरवाजे को खुलवाने के बदले में कुछ नेग देता है। नेग की बात सुनते ही फिर कुछ झगड़ा सा शुरू हो जाता है। इस अवसर पर बरातियों में से एक सम्मानित व्यक्ति आगे बढ़कर आता है और कहता है कि दूल्हे के पास देने को कुछ भी नहीं है।

लेकिन उसकी तरफ से वह एक तोहफा पेश करता है। वह कुछ रुपये बांटता है और दरवाज़ा खोल दिया जाता है।''

धनगाना के बाद दूल्हे को घर में प्रवेश की अनुमति मिल जाती है। उसके साथ चलने वाले संबंधी और नौकर-चाकर भी अंदर जाते हैं। और बाक़ी बराती बाहर ही रुक जाते हैं। अंदर जाकर दूल्हे को अभी कुछ देर पहले की तरह फिर से औरतों का सामना करना पड़ता है। मनूची ने लिखा है:

''अपने बरातियों के साथ दूल्हा आगे बढ़ता चला जाता है और एक ऐसा मुक़ाम आता है जहां औरतों की एक फौज हाथों में फूलों के गजरों से मढ़े हुए डंडे लिए सामने आ खड़ी हो जाती हैं। जब यह नेग ख़त्म हो जाता है तो वे औरतें एक बड़े कमरे तक दूल्हे को ले जाती हैं। सजे हुए एक बड़े तख्त पर उसे बिठा दिया जाता है और साज़ों के साथ गाने वाली औरतें उसके चारों तरफ़ आकर खड़ी हो जाती हैं।''

संक्षेप में यह कि अंदर ले जाकर जब दूल्हे को मस्नद पर बैठा दिया जाता था तो नृत्य और संगीत शुरू हो जाता था। इसके बाद निकाह होता था। बरातियों का पान और शर्बत से आतिथ्य किया जाता था। पानों पर चांदी और सोने के वर्क़ चढ़े हुए होते थे। आनंदराम 'मुख्लिस' ने 'बीड़ा पान' शीर्षक से इस रस्म पर प्रकाश डालते हुए लिखा है:

''भारत में विवाह के उत्सवों के अवसर पर इस पत्ते अर्थात् पान के ऊपर बड़े संकोच और शालीनता से काम किया जाता है और पान के बीड़े के बराबर सोने-चांदी के वर्कों से उसे सुसज्जित किया जाता है और इसका नाम मकरौना है।''

निकाह के बाद दूल्हे को ज़नानखाने में बुलाया जाता था और वहां बहुत सी रस्में पूरी की जाती थीं।

आरसी मुसहफ़[30]-इस रस्म के अनुसार दूल्हे-दुल्हन को सिर जोड़कर आमने सामने बिठा दिया जाता था। बीच में तकिए पर कुर्आन शरीफ रखकर दूल्हे से 'सूरा-ए-इख़्लास' निकाल कर पढ़ने और दुल्हन के मुंह पर फूंकने को कहा जाता था। अतएव कुर्आन शरीफ पर आईना रखकर दूल्हे और दुल्हन-दोनों के ऊपर कपड़ा डाल देते थे। और वहां दूल्हा, दुल्हन के चेहरे को देखता था।

रुख़्सती-रुख़्सती अर्थात विदा के समय भिन्न-भिन्न प्रकार के टोने और टोटके किए जाते थे। कि अल्लाह दूल्हे और दुल्हन को बुरी नज़र से बचाए-

सहर का वो होना वो टोने का वक़्त
वो दुल्हन की रुख़्सत वो रोने का वक़्त।

इस अवसर पर सामान्यतया दुल्हन का भाई उसे अपनी गोद में उठाकर पालकी

या डोली पर सवार करता था। मगर किसी-किसी जगह दूल्हा खुद ही दुल्हन को सवार करता था-

वो दूल्हे का दुल्हन को गोदी उठा
बिठाना मुहाफे[31] में आख़िर को ला।

जब दुल्हन को मुहाफा, डोली या पालकी में सवार कर चुकते थे और कहार डोली उठाकर रवाना होने लगते थे तो दुल्हन के घर से लेकर दूल्हे के घर तक की यात्रा के दौरान वर पक्ष के लोग पालकी के ऊपर रुपया-पैसे न्यौछावर करते चलते थे-

चले लेके चंडूल जिस दम कहार
किया दो तरफ से ज़र उस पर निसार।

विदा के समय रंग डालना-निम्न वर्ग के मुसलमानों में आज भी विदा के समय रंग खेलने का आम रिवाज पाया जाता है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में यह रीति खूब प्रचलित थी-

रंग खेलने का शादी के देखा ये अजब तौर
मालूम हुआ तब तो बराती में किए गौर
रंग खेलने की जा[32] इन्हें मैदान था रण था।

जहेज़ (दहेज)-दहेज कन्या पक्ष की हैसियत पर निर्भर करता था। कई लोग एक हाथी या दो हाथी चांदी के हौदे सहित, चार-पांच घोड़े ज़ीन और सामान सहित और कुछ ऊंट भी दहेज में देते थे, जिन पर बर्तन, आफ्ताबे, मटके, चांदी की ढिलियां, अच्छे सामान से भरे हुए संदूक और सोने या चांदी के छपरकट लदे रहते थे। यह सब सामान दूल्हे के घोड़े और दुल्हन की पालकी के आगे-आगे रवाना किया जाता था।

लेकिन कंबोह फिरके के मुसलमान दहेज नहीं देते थे और दुल्हन के घर साचिक़ भी नहीं भेजते थे। और निकाह में या हिनाबंदी के मौके पर शर्बत पिलाने के बाद बरातियों से न्यौता या नेग भी नहीं लेते थे क्योंकि ये लोग शालीनता की दृष्टि से इन कामों को निषिद्ध समझते थे। शादी के बाद लाख-दो लाख जो कुछ भी उन्हें प्राप्त होता था, नक़द या वस्तुओं के रूप में, दामाद को पहुंचा देते थे। लेकिन दामाद के साथ दहेज नहीं भेजते थे ताकि दुकानदार, राहगीर और दूसरे तमाशबीन घरों की छतों से इस माल को जाते देखें। इस बात को ये लोग अच्छा नहीं समझते थे। इसी तरह शर्बत पिलाने के बाद नेग इस कारण नहीं लेते थे कि कई गरीब और मजबूर उपस्थित जन इसे देखकर लज्जित होंगे या कई लोग कर्ज़ लेकर देंगे और उन पर बोझ पड़ेगा। यद्यपि वे लोग रस्मों को अनुचित मानते हैं लेकिन दूसरों की शादियों में इन रस्मों पर रुपये खर्च करने में कंजूसी नहीं करते थे।

वापसी बरात-जब बरात वापस दूल्हे के घर पहुंचती थी तो आनंद और मंगलकारी संगीत की धुनें बजती थी और डोमनियां पहले ही पहुंचकर 'बनड़े' गाना शुरू कर देती थीं। बनड़े शादी के विशेष अवसर पर गाए जाने वाले लोकगीत होते हैं। इस कोलाहल में दुल्हन पालकी से उतारी जाती थी। कई परिवारों में स्वयं दूल्हा ही उसे गोद में लेकर उतारा करता था और कहीं-कहीं दूल्हे की मां, बहनें आकर उतारती थीं। अंदर ले जाकर उसे मस्नद पर बैठा दिया जाता था और दूल्हा उसके दामन पर 'नमाज़-ए-शुक्र' अदा करता था। दुल्हन के पांव धुलाकर पानी मकान के चारों कोनों में डाल दिया जाता था।

मुंह दिखाई-यह रस्म अब भी होती है। इस अवसर पर सभी परिवार जन और संबंधी रुपये, आभूषण या उपहार देकर दुल्हन का मुंह देखते हैं।

वलीमा-वलीमा की हैसियत शरई है। लेकिन इस अवसर पर जो प्रीति-भोज दिया जाता था वह हिंदू प्रथाओं का प्रभाव था। देहाती और निचले वर्ग के मुसलमानों में अब भी यह प्रथा प्रचलित है। इसके अनुसार आमतौर पर मेहमानों को ज़मीन पर बिठाया जाता था और मिट्टी के बर्तनों में खाना खिलाया जाता था। एक बार प्रयोग में लाने के बाद वे बर्तन फेंक दिए जाते थे। यही प्रथा हिंदुओं में है। वे मेहमानों को पत्तलों में खिलाते हैं, और एक पत्तल को दोबारा प्रयोग में नहीं लाया जाता था। विश्वसनीय सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि बीस-पच्चीस वर्ष पहले तक शाह तुराब अली कलंदर काकोरवी के यहां यह तरीक़ा था कि शादी के अवसर पर एक थालनुमा मिट्टी के बर्तन और शकोरों में सालन निकाल कर हर व्यक्ति को अलग-अलग खाना दिया जाता। एक बार खाना खिलाकर थाल को फेंक दिया जाता था। यह तरीक़ा अवध के दूसरे कस्बों में भी पाया जाता है।

चौथी-शादी की रस्मों में चौथी की रस्म अंतिम रस्म समझी जाती थी। जब शादी के चार दिन बीत जाते तो दुल्हन के घर वाले उसे वापस लेने आते थे। इस अवसर पर मेहमानों का स्वागत-सत्कार किया जाता था और दोनों परिवारों के लोग होली खेलते थे। फल-तरकारियों से एक दूसरे को मारते थे। और इस खेल से कई लोगों को सख़्त चोटें भी आ जाती थीं। पुराने समय में शादी के बाद दुल्हन बहुत दिनों तक ससुराल में नहीं रहती थी। बल्कि वह कभी ससुराल में और कभी मायके में रहा करती थी।

एक और प्रथा है जो हिंदू व मुसलमान दोनों में समान रूप से पाई जाती थी। प्राय: सम्मानित परिवारों के लोग-चाहे वे हिंदू हो या मुसलमान-जब उस शहर, कस्बे या गांव में जाते थे जहां उनके इलाके की लड़की ब्याही जाती थी तो वे लोग वहां किसी के घर पानी तक नहीं पीते थे।

मृत्यु के संस्कार

जब किसी व्यक्ति के जीवन के अंतिम क्षण समीप आने लगते तो उसे चारपाई से उतार कर जमीन पर लेटा देते थे। उसकी मृत्यु के बाद विलाप किया जाता था और शोक मनाया जाता था। शाह इस्माइल शुहेद ने लिखा है कि जब किसी की मृत्यु हो जाती थी तो लोग, विशेष रूप से उसके संबंधी, चिल्ला-चिल्ला कर रोते थे। और औरतें सिर पीटतीं और आर्त्त पुकारें करती थीं। फिर जो स्त्री पुरसे (शोक संवेदना) को आती वह भी उसके साथ रोने-पीटने में शामिल हो जाती। किसी के यहां तीन दिन, किसी के यहां सात दिन, किसी के यहां चालीस दिन और किसी के यहां छः महीने तक ऐसा ही शोकमय वातावरण रहता था। स्त्रियां दायरा बनाकर खड़ी हो जातीं और एक स्त्री उस मृतक के गुणों का बखान करती जाती कि फ़लां ऐसा था और ऐसा था। वे सब स्त्रियां अपने घुटनों और अपने मुंह पर तमाचे मारतीं और हाय-हाय करतीं। कई लोगों के यहां तो यह इस क़दर होता था कि हर सुबह और शाम औरतें इक्ट्ठी बैठकर चिल्लाकर रोतीं। फिर किसी के यहां चालीस दिन तक, किसी के यहां छः महीने तक, किसी के यहां एक साल तक और किसी के यहां बरसों तक यही बात जारी रहती थी।

जिस स्त्री के पति की मृत्यु हो जाती थी फिर वह शेष जीवन में रंगीन, सुर्ख़ कपड़े और नथ आदि आभूषण, जो सुहाग की निशानी होते थे, नहीं पहनती थी। किसी प्रकार की सुगंध का प्रयोग भी नहीं करती थी और घर में बोरिया चटाई वगैरह बिछाकर रहा करती थी। कई लोगों के यहां चालीस दिन या छः महीने या एक साल तक फ़र्श बिछा रहता था। लोग इसे शोक का प्रतीक समझते थे। इसके अलावा इन दिनों में किसी का निकाह या ख़त्ने नहीं होते थे। स्त्री और पुरुष दोनों मुद्दतों तक शोक में रहा करते थे। कोई सुर्ख़ कपड़ा न पहनता, सुरमा न लगाता, पान न खाता, खुशबू न लगाता। स्त्रियां चूड़ियां न पहनतीं, कपड़े न सिलतीं, घर या रिश्तेदारों में किसी के यहां शादी न होती। उसके घर में कड़ाही न चढ़ती, पकवान न बनते, बहुत दिनों तक गोश्त न पकता, कोई चारपाई पर न सोता, बरस-दिन तक घर में सिरके का अचार न पड़ता, बिरियां या सिवैयां न बनतीं।

उपर्युक्त रस्मों के अलावा तीजा, दसवां, चालीसवां, छःमाही, बर्सी और ईद व शब बरात के दिनों में मृतकों की स्मृति को ताज़ा किया जाता था। और उनके नाम की फ़ातिहा दिलवाई जाती थी।

विधवाओं का पुनर्विवाह

प्राचीन समय में हिंदुओं में विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं होता था। इसी प्रकार

मुसलमानों में भी दूसरे विवाह को बुरा और अनुचित समझा जाता था। शाह वली अल्लाह का कथन है:

''हिंदुओं की एक बदतरीन रस्म यह है कि बेवा की शादी नहीं करते। यह बदतरीन रस्म अरबों में कभी न थी। न आन हज़रत सल्लाह अलेह वसल्लम से पहले, न आपके ज़माने में और न आपके बाद।''

जब कभी किसी स्त्री का पति मर जाता तो उसके संबंधी उसे दूसरी शादी से मना करते क्योंकि दूसरा निकाह उनकी दृष्टि में वर्जित था। और यदि उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ कोई स्त्री दूसरा विवाह कर लेती तो लोग उस पर तरह-तरह के लांछन लगाते। इसका परिणाम यह हुआ कि आमतौर पर विधवा स्त्री अपने शेष जीवन को रंडापे में काटती थी। फ़िरका कंबोह के बारे में लिखते हुए मिर्जा क़तील ने लिखा है:

''आज से पहले इस फिरक़े के मुसलमानों में यह रस्म थी कि अगर उनमें से किसी का दामाद निकाह के बाद और रुख़सती होने से पहले ही मारा गया या किसी बीमारी के कारण गुज़र गया तो लड़की बेवा औरतों का लिबास पहन लेती थी।''

इस सिलसिले में मिर्ज़ा क़तील ने एक बहुत ही रोचक घटना का वर्णन किया है। वह लिखता है कि एक हिंदुस्तानी मुसलमान हज के लिए गया हुआ था। अरब के किसी शहर में, किसी कारणवश उसे छ: माह तक ठहरना पड़ा। वहां के एक शहरी से उसकी दोस्ती हो गई। और ये दोस्ती बहुत बढ़ गई। दोनों सुबह शाम साथ रहते और दोनों में बहुत दांत-काटी थी। संयोग से ऐसा हुआ कि वह अरब जवान कुछ दिनों तक उस हिंदुस्तानी के घर न आया और हिंदुस्तानी ने उसकी जुदाई को बहुत महसूस किया। हफ़्ता-दस दिन के बाद वह मिला। हिंदुस्तानी ने उससे शिकायत की। अरब ने जवाब दिया कि ''मैं क्या करूँ? मेरी मां का फ़लां (अमुक) अरब से निकाह था और मेरे सिवा वहां कोई ऐसा आदमी न था जो मजलिस का इंतज़ाम करता। इसलिए निकाह की रात को मजलिस में मौजूद लोगों को शर्बत पिलाने में व्यस्त रहा। पहले तीन-चार दिन जरूरी सामान इकट्ठा करने में लगा रहा था।'' हिंदुस्तानी व्यक्ति ने यह बात सुनकर 'लाहौल'[33] पढ़ी। उसका दोस्त इस बात से बहुत शार्मिंदा हुआ। उसने दोस्ती को ताक में रख दिया और क़ाज़ी के सामने जाकर इस बातचीत की सच्चाई बयान कर दी। क़ाज़ी के हुक्म से हिंदुस्तानी को गिरफ्तार कर लिया गया। क़ाज़ी ने कहा, ''ए शक़्स। ख़ुदा को हाज़िर और नाज़िर जानकर कह कि क्या यह सच है कि इसकी मां के निकाह की ख़बर सुनकर तूने लाहौल पढ़ी थी।'' हिंदुस्तानी ने जवाब दिया, ''बिल्कुल सच है। और मैंने ठीक ही पढ़ी थी मैं पैंतालीस साल का होने को हूं। इस मुद्दत में कभी हिंदुस्तान में ऐसा किस्सा मेरे सुनने में नहीं आया था।''

आज के ज़माने में इतनी सख़्ती तो नहीं रही जितनी कि अठारहवीं और

उन्नीसवीं शताब्दी में थी। उस समय शाह इस्माइल शुहेद की विधवा बहन का दूसरा निकाह न हो सका था। लेकिन अब भी यह रस्म जारी है। अहमद अली ने अपनी कृति 'दिल्ली की शाम'[34] में एक घटना का वर्णन किया है जिससे अनुमान होता है कि आम मुसलमानों में विधवा के दूसरे निकाह को कितना बुरा समझा जाता था–

''हमीदा बेगम असगर की सबसे बड़ी बहन थी। कमसिनी में ही उनकी शादी भोपाल में सैयद वहीद-उल-हक़ से हो गई थी। जो बिल्कुल ग़ैर थे। अभी दूसरा बच्चा गोद में ही था कि भरपूर शबाब में हाथों की चूड़ियां ठंडी हो गईं। हालांकि इस्लाम ने दूसरे निकाह की इजाज़त दी है मगर उन्होंने अपने ऊपर रंग और रेशम हराम कर दिया। इसकी वजह शायद यही थी कि हिंदुओं के यहां बेवा की शादी मज़हबन मना है। और हिंदुस्तान में रहने-बसने वाले मुसलमानों पर भी उनके रस्मों-रिवाज़ का असर होना लाज़मी था।''

1. देखिए रसूम-ए-देहली: मौलवी सैयद अहमद देहलवी, रामपुर, 1956, पृष्ठ 37-38
2. मज्मूआ मस्नवियात मीर हसन, नवल किशोर प्रेस, 1945, पृष्ठ 18-19
3. पंजरी में खरबूजे के बीज शक्कर और घी के साथ भूनकर मैदा या सूजी में मिलाए जाते थे। हफ़्त तमाशा-पृष्ठ 152
4. रसूम-ए-देहली पृष्ठ 52
5. हज़रत फ़ातिमा की नियाज़ का खाना।
6. बरात से एक दिन पहले की रस्म जिसमें दूल्हा के घर से दुल्हन के लिए मिठाई आदि लेकर जाते हैं।
7. हफ़्त-तमाशा, पृष्ठ 139
8. ओढ़ने की दोहर, जिस पर सुई का काम होता था।
9. सिर झुकाना
10. पवित्र आत्मा
11. दूल्हे को घोड़े पर सवार करने की रस्म विशुद्ध भारतीय थी। शाह अब्दुल रज़्ज़ाक ब्रांसवी का कथन है, ''हिंदुस्तान की रस्म के मुताबिक दूल्हे को घोड़े पर सवार करते थे।''-मलफूज़-ए-रज़्ज़ाकी पृष्ठ 85
12. ढाल
13. बिजली
14. सितारों का समूह
15. विस्तार के साथ
16. चलता हुआ रथ या वाहन
17. खुशी में डूबे लोग
18. शोभायमान
19. एक प्रसिद्ध पक्षी

20. सजावट
21. स्थित
22. दुल्हन से संबंधित
23. जन्नत से होड़ लगाता हुआ
24. सुगंधित चीज़ें
25. एक बेशकीमती शीशा
26. दोनों घुटनों के बल
27. मित्रगण
28. खुशी में डूबे हुए लोग
29. आनन्द, रुचि
30. दर्पण और कुर्आन की रस्म
31. पालकीनुमा एक चीज़
32. स्थान
33. नफ़रत और हिक़ारत कल्मा
34. इस पुस्तक की रचना 1901 में की गई थी।

चौथा अध्याय

उत्सव और पर्व

होली

फाल्गुन की पूर्णिमा को होली का पर्व मनाया जाता है। यह त्यौहार त्रयोदशी से द्वितीया तक मनाया जाता है। इस दिन लकड़ियों और उपलों के ढेर लगाए जाते हैं। धार्मिक विधि-विधान से अग्नि प्रज्जवलित की जाती है। अगली सुबह तक ये ढेर पूर्णत: भस्म हो जाते हैं। इस क्रिया को होली जलाना कहते हैं।

होली के पर्व के दो महीने पहले से ही हिन्दू लोग डफ बजाना, गीत गाना और नाचना शुरू कर देते थे। और जब एक महीना शेष रह जाता तो उनका हर्षोल्लास और ज्यादा बढ़ जाता था। जब केवल 15 दिन शेष रह जाते थे तो ढाक और टेसू के फूलों को पानी से भरे मटकों में डालकर चूल्हों पर चढ़ा देते थे ताकि उबलते हुए पानी में इनका पीला रंग उतर आए। इसके बाद रास्ते से गुजरने वाले हर व्यक्ति पर, चाहे वह परिचित हो या अपरिचित, रंग डालते थे और ऊंची आवाज में कहते थे ''यह आदमी होली का भडुवा है।'' फिर वह आदमी भी उन लोगों के लिए यही शब्द दोहराता था। रंग डालने के बाद उस आदमी के मुंह पर गुलाल मल देते थे। इसी तरह उसके मुंह पर अम्बर भी छिड़कते थे। छोटे बच्चे और कुछ नवयुवक भी चमड़े और पीतल की पिचकारी हाथ में लेकर रास्तों पर खड़े जो जाते और राहगीरों के कपड़ों को दूर से रंग देते थे।

मुगल दरबार

मुगल दरबार में होली का त्यौहार बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था। किंतु औरंगजेब ने दरबार में इस त्यौहार के आयोजन को निरस्त कर दिया था। जब तक औरंगजेब जीवित रहा, हो सकता है उसके हुक्म पर पूरी तरह से अमल किया गया हो और दरबार में यह उत्सव आयोजित न हुआ हो, लेकिन उसकी मृत्यु के बाद मुगल दरबार में होली का त्यौहार पुन: अपनी पारंपरिक शैली में मनाया जाने लगा। शहजादा अज़ीमुश्शान हिन्दुओं की तरह होली का जश्न मनाता था।

मुहम्मद शाह का बेटा अहमद शाह (1748-1754) अपने दरबार में होली का उत्सव आयोजित किया करता था और रंग खेलने तथा इससे संबंधित दूसरी गतिविधियों में बड़ी रुचि लेता था। मुंशी मित्रसेन ने लिखा है कि होली के दिन बादशाह नाचता था और मदिरा-पान किया करता था। दरबार में नृत्य संगीत की महफिलें सजती थीं और शराब के दौर चलते थे। बादशाह के दरबारी उमराव भी इन जलसों में शरीक होते थे और महल के कर्मचारीगण भी बड़ी खुशियां मनाते थे। शाह आलम सानी (1759-1806) ने शाही महज में होली के जश्न का अपनी पुस्तक 'नादिरात-ए-शाही' में सविस्तार वर्णन किया है। दो अंतिम मुगल बादशाह अकबर शाह सानी और बहादुर शाह ज़फर के दरबार में भी होली का त्यौहार बदस्तूर मनाया जाता था। बहादुर शाह ज़फर ने अपने कलम और अपने अनोखे अंदाज से दरबार में होली का दृश्य इन शब्दों में प्रस्तुत किया है-

क्यों मुंह पर रंग की मारी पिचकारी
देखो कंवर जी दूंगी मैं गारी

भाग सकूं मैं कैसे मोसूं भागा नहीं जात
ठाड़ी अब देखूं और को सन्मुख आत

बहुत दिनन में हाथ लगे हो कैसे जाने दूं
आज फगवा तोसूं का था पीठ पकड़ कर लूं

शौक रंग ऐसे ढिठ के उनसे खेले कौन अब होरी
मुख मोरे और हाथ मरोड़े लेकर के वह बरजोरी

राजनीतिक और आर्थिक अव्यवस्था से तंग आकर शहजादा सुलेमान शिकोह ने दिल्ली को छोड़ दिया और लखनऊ जाकर बस गया। और उसने वहां मुगल दरबार की शैली पर अपना अलग दरबार सजाया था। उसके दरबार में दिल्ली के दरबार की रीतियों का पालन होता था। लखनऊ की संपन्नता ने उसे विलासप्रिय बना दिया था। और वह अपना जीवन उदासीनता, मदिरापान और रंगरलियों में बिताता था। 'इन्शा' ने उसकी मजलिस-ए-होली का चित्र निम्नलिखित शेरों में प्रस्तुत किया है-

सांग होली में हुजूर अपने जो लावें हर रात
कि कन्हैया बनें और सर पे वो धर लेवें मुकट

गोपनें होके पड़ीं ढूंढें कदम की छांय
बांसरी धुन में दिखा देवें दो ही जमना तट।
''गांव गोकल का है, पेंडा है निराला,'' ये कहें
ग्वालिनें बन की कहें हंस के ''वो है बंसी वट''।
गागरें लेवें उठा और ये कहती जावें
देखत धुंदरी जो दम आवती हैं पनघट।
सोने रुपये में जो लद जाए गमारों की तरह
'धाम' धर को कहें नजदीक को बोलें दो 'नखट'।

अमीर और होली की मजलिस

मुगल दौर के उमराव अपने हुक्मरानों और बादशाहों की रुचियों और उनकी अच्छी बुरी बातों का अनुसरण करना बड़े गर्व और सौभाग्य की बात समझते थे। प्रोफेसर ख़लीफ़ अहमद निज़ामी ने लिखा है:

''मुगल बादशाहों के पथभ्रष्ट होने का आम जनता के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। भोग-विलास की जो महफिलें दराबारों में सजती थीं उनके विषैले कीटाणु झोपड़ियों तक पहुंच गए।''

विलियम ह्यूज का कथन है कि:

''जब मुगल सल्तनत अपने चरम उत्कर्ष पर थी तो अमीरों और बड़े दरबारियों का वही शगल रहता था जो कि वे दरबार में देखते थे।''

उमदतुल मुल्क अमीर खान 'अंजाम' मुहम्मद शाह के शासन काल का एक प्रभावशाली और प्रतिष्ठित अमीर था। अब्दुल हई 'ताबां' ने उसकी होली की महफिलों का वर्णन इस प्रकार किया है-

मचाता था जब वो गह होली तईं
तो रंगीन थे सब आसमां व जमीं।
कोई जाफरानपोश सुर ता ब पा
कोई अरगवां पोश सर ता ब पा।[1]
किसी का भरा रंग से पैर हन
कोई सरापा बहार-ए-चमन।
जबस रंग की छुटती पिचकारियां
जमी रश्क गुलजार होती थी वां।
बरसते थे पिचकारियों से जो तीर
तो दफ ढाल करते सगीरो कबीर।

उड़ाते थे ले लेके अज बस अबीर
भरे झोलियां सब सगीरो कबीर।[2]

औरंगजेब के अंतिम युग से ही मुगल सल्तनत का ह्रास शुरू हो चुका था और उसकी जड़ें खोखली होने लगी थीं। लेकिन उसने अपनी राजनीतिक सूझबूझ, साहस और पराक्रम, ऊपरी ठाठ-बाट, शानो-शौकत और अपने आतंक से सल्तनत के पतन को तात्कालिक रूप से बचा लिया था। नई राजनीतिक शक्तियां जो उभर रही थीं और देश के राजनीतिक वातावरण को आंदोलित कर रही थीं, औरंगजेब ने उनको अपनी तलवार के बल पर दबाए रखा और साथ-साथ सूबाई हुकूमतों को स्वाधीन नहीं होने दिया। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद ही तेजी के साथ सल्तनत का पतन होने लगा।

बादशाहों की उदासीनता, विलासिता, कायरता और मदिरापान की आदत का परिणाम यह हुआ कि सूबाई हाकिमों ने इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर केन्द्रीय हुकूमत से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया और अपनी स्वाधीन सत्ता की घोषणा कर दी। इस प्रकार अवध, बंगाल और दक्कन की स्वाधीन हुकूमतें अस्तित्व में आईं। फलत: दिल्ली का सांस्कृतिक केन्द्र टूट गया और लोग दूसरे-दूसरे सूबाई दरबारों में पहुंच गए।

अवध की राजधानी लखनऊ थी। लखनऊ आर्थिक दृष्टि से एक वैभवशाली केन्द्र भी था। नवाब विलासिताप्रिय थे, जिसका प्रभाव वहां के समाज पर भी पड़ता था और सब लोग शासकों के रंग में रंगे हुए थे।

नवाब आसफुद्दौला बड़ी धूमधाम से होली का त्यौहार मनाता था। वह इस त्यौहार से संबंधित सभी रीतियों का पालना करता था। मीर तकी 'मीर' ने नवाब आसफुदौला और नवाब सआदत अली खां के युग की होली का बड़ा ही सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है-

दस्ता दस्ता रंग में फैले जवां
जैसे गुलदस्ता थे जूओं पर रवां।
जाफरानी रंग से रंगी लिबास
इत्रयाबी से सभों में गुल की बास।
कुमकुमें जो मारते भरकर गुलाल
जिसके लगता आनकर फिर मुंह है लाल।
टट्टियां दरिया के बांधे दो तरफ
क्या चिरागां आसमां की हो तरफ।
एक आलम देखता था दूर से
रात, दिन थी रोशनी के नूर से।

स्वांग क्या-क्या बनके आए दरमयां
देखने का स्वांग था सारा जहां।
काश्तियों में जो दिए भरकर जले
पानी में शोलों के रेले ही चले।
क्या हवाई घूटने का है बयां
जू ज़नब[3] जैसे सितारे हों अयां।
कैसी-कैसी देखें शक्लें ताजियां
सहर करते थे के सूरत बाजियां।

इसके बाद मीर ने तरह-तरह की आतिशबाजियों के छूटने का वर्णन किया है।[4] इंशाहल्लाह खां 'इंशा' ने नवाब सआदत अली खां की होली की मजलिस का वर्णन इन शब्दों में किया है-

''जो आदमी इस बात से यह गुमान करता हो कि मैं उनकी खुशामद कर रहा हूं तो उसके लिए होली के जमाने में खासतौर से हुजूर की खिदमत में हाजिर होना शर्त है। ताकि वह खुद देख ले कि राजा इंद्र परियों के बीच में ज्यादा खुशनुमा मालूम होते थे या वलीनैमत हूरों के दरम्यान।''[5]

संक्षेप में यह कि नवाब सआदत अली खां की होली की सभा राजा इंद्र के अखाड़े का दृश्य उपस्थित करती थी। रंग खेला जाता था, मदिरा और नृत्य-संगीत की महफिलें होती थीं। स्वांग रचाये जाते थे और रंग-रलियां मनाई जाती थीं। यही हाल बंगाल के सूबेदार का था। वह होली के त्यौहार का बड़ा ध्यान रखता था। फकीर और कलंदरों को उस दिन खाना खिलाता था और हर एक फकीर को बतौर खैरात एक रुपया देता था। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मुसलमानों ने हिंदुओं के तीज-त्यौहार और दूसरी प्रथाओं को अपनाने के साथ-साथ उनको इस्लामी रंग देने की कोशिश भी की थी। मिसाल के तौर पर हिंदू खैरात वगैरह नहीं बांटते लेकिन मुसलमानों ने इस त्यौहार को इस्लामी रंग देने के लिए इसमें फकीरों की सेवा करने और खैरात देने की एक नई रीति को जोड़ दिया।

इस सूबेदार की होली की सभा के सिलसिले में 'तबातबाई' का यह कथन उल्लेखनीय है:

''फकीरों और कलंदरों का हुजूम किया और अच्छा-अच्छा खाना खिलवाया व हर फकीर को एक-एक रुपया भेंट किया और इसके बाद होली के जश्न की तैयारी हुई। कपड़े रंगीन पहने और हंसी-मजाक शुरू किया...और होली का जोर-शोर और कोलाहल शुरू हो गया। इस पवित्र त्यौहार के अंतिम दिन तक वे अबीर-गुलाल और खाक उड़ाते हैं, जैसा कि हिंदू करते हैं, और एक दिन खाक या धूल वगैरह उड़ाने का

नाम 'धलैंडी' रखा है। इस तरीके से खुशियां मनाने में किसी तरह की कोई कमी नहीं रखी और जैसे कि हिन्दुस्तान में स्वांग वगैरह रचाते हैं उन्होंने भी बड़ी खुशी और कमाल के साथ स्वांग रचाए और एक दूसरे पर धूल और रंग डालने की खूब तारीफ की।''

यह प्रवृति उस युग के तमाम अमीरों में पाई जाती थी। लिखा गया है, ''होली का त्यौहार तो खुद बड़े-बड़े अमीरों को बहुत पसंद है। इस त्यौहार में अपनी क्षमता के अनुसार खर्च करते हैं। हास्य-व्यंग्य और अपेक्षाकृत अश्लील रचनाओं को सुना-सुनाया जाता है और बड़े-बड़े आदमियों के नाम लेकर गालियां सुनाते हैं।''

नज़ीर अकबराबादी के नीचे उद्धृत किए गए शेरों से ज्ञात होता है कि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के सभी मुसलमान, उमराव बड़े सम्मान के साथ होली का उत्सव आयोजित करते थे। और आर्थिक तंगी के बावजूद दिल खोलकर रुपये खर्च करते थे।

अमीर जितने हैं सब अपने घर में हैं खुशहाल
कबाएं पहने हुए तंग-तंग गुल की मिसाल
बना के गहरी तरह हौज मिल के सब फिलहाल
मनाते होलियां आपस में ले अबीरों गुलाल
बने हैं रंग से रंगी निगार होली में

अवाम और होली

जब बादशाह और अमीरों का यह हाल था तो अवाम का क्या पूछना। वे लोग भी अपनी हैसियत के अनुसार इस त्यौहार में बड़े हर्षोत्साह से भागीदारी करते थे। अठारहवीं शताब्दी के लगभग सभी शायरों ने अपनी रचनाओं में होली के बहुरंगी चित्र खींचे हैं। शाह आलम ने लिखा है:

मुहैया सब है अब असबाब-ए-होली
उठो यारो भर लो रंगों से झोली
इधर यार और उधर खूबां सफ आरा
तमाशा है, तमाशा है, तमाशा
चमन में धूमो-गुल चारों तरफ है
इधर ढोलक उधर आवाज-ए-दफ है
इधर आशिक उधर माशूक की सफ
नशे में मस्त व हर एक जाम बरकफ
गुलाल अबरक से भर भर के झोली
पुकारे यकबयक होली है, होली।

शाह आलम ने रंग छिड़कने, गुलाल और अबीर लगाने और दीपक जलाने के दृश्यों का बड़ा ही मनभावन चित्रण किया है।

उस दौर में होली पर लिखी गई मस्नवियों को पढ़कर बहुत सी बातों का पता चलता है। पहली बात तो यह है कि मुसलमानों के यहां बाकायदा होली की महफिलें सजती थीं, जहां सब मिलकर होली खेलते थे। दूसरे, इन महफिलों में नृत्य संगीत का प्रबंध होता था और गाने के साथ उस दौर में प्रचलित सभी वाद्य यंत्रों का प्रयोग होता था। उस जमाने में डोमनियों, राजपातुरनियों और कंचनियों के अलावा सुंदर और दिखाऊ लड़के भी नृत्य के लिए आमंत्रित किए जाते थे। यह बात बड़ी अहमियत रखती है कि अठारहवीं शताब्दी के मुसलमानों में तवायफों के नृत्य का रिवाज धीरे-धीरे खत्म हो रहा था और वे लोग सुंदर किशोरों के नृत्य में रुचि लेने लगे थे। मिर्जा क़तील के इस बयान से इस बात की पुष्टि होती है:

''हिंदुस्तान में एक फिरका 'कथक' के नाम से मशहूर है। जिसका काम बच्चों को नाच और गाने की तालीम देना है। चाहे वह बच्चा बेटा हो या भतीजा,भानजा हो या धवेता, पोता हो या गुलाम का लड़का, जिसे गरीबी के कारण बाप ने उनके सुपुर्द कर दिया हो। वे उसे संगीत की शिक्षा देते हैं ताकि वे दौलतमंदों की महफिलों में उसको नचवाएं और जी भर कर इनामात हासिल करें। अमीरों की मजलिसों के अलावा दूसरे लोगों का हाल यह है कि लोग एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं और इन लड़कों को नाचने के लिए उकसाते हैं। नृत्य के बीच में दर्शकों में से अगर एक आदमी अपनी जेब से एक रुपया निकाल कर उसके हाथ पर रख देता है तो वह लड़का उस आदमी के सामने आकर बैठ जाता है, तरह-तरह की अदाओं के साथ बैठे-बैठे ही नाचता रहता है, यह देखकर अन्य दर्शकों को ईर्ष्या होने लगती है क्योंकि उनकी दृष्टि में नाचने वाले का सामने आकर बैठना रुतबे की बात मानी जाती थी...मुसलमान इस बात का बड़ा ध्यान रखते हैं...कई चिनारी, बाजारी और हक्कानी कस्बों में रहते हैं और मलकियों के नाम से जाने जाते हैं। शुरू में जिस फिरके की बात कही गई है, उस फिरके के लोग शेख, सैयद, मिर्जा और खास सभी लड़कों के नाच के बड़े शौकीन होते हैं। अगर किसी मित्र के घर उत्सव में वे किसी तवायफ के नृत्य की खबरं पाते हैं तो वहां नहीं जाते, चाहे दावतनामा ही क्यों न आया हो, कोई न कोई बहाना बना लेते हैं लेकिन अगर किसी से सुन ले कि फलां बाजार में फलां दुकान के सामने किसी हिन्दू या मुसलमान लड़के का नाच हो रहा है तो कुछ इकटठे होकर बड़ी खुशी से वहां जायेंगें, चाहे रास्ते में कीचड़, पानी, गड्ढे और भारी बारिश ही क्यों न हो?''

दिल्ली के बाजार चौक सादुल्लाह खां में सरे आम लड़कों के नाच गाने की

महफिलें सजती थी। दरगाह कुली खां ने लिखा है कि ''हर तरफ खुश-रू कयामत बरपा करने वाले अमरदों[6] का रक्स[7] होता था।''

सारांश यह है कि मुस्लिम समाज के हर वर्ग के लोगों की अलग-अलग महफिलें आयोजित होती थीं। राजा और रंक सभी होली खेलते थे।

होली जलाना

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि हिन्दू होली के दो महीने पहले से लकड़ियों के ढेर लगाना शुरू कर देते थे और होली की रात को इन में आग लगाई जाती है, इसे होली जलाना कहते हैं। इसी प्रकार मुसलमान भी होली जलाने का आयोजन करते थे।

मुसलमान औरतें उन दिनों लड़कियों और बहनों के यहां रंग से भरे मटके और लाल रंग से चावलों को रंग कर भेजा करती थीं और इस अवसर का बड़ा ध्यान रखती थी।[8]

लखनऊ में आम मुसलमानों की होली के प्रति रूचि को लेकर मिर्जा क़तील का यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है:

''इस जमाने में दिन रात बहुरूप भरे जाते हैं, कभी खूबसूरत नाजुक अंदाज लड़के, औरतों के लिबास और जेवरात पहने हैं और कभी औरतों को मर्दाना लिबास पहनाते हैं। विशेष रूप से हरम-सरा की औरतें मुगल और अंग्रेज का रूप धरती हैं और मुगलों की तरह फारसी अल्फाज व अंग्रेजों की तरह टूटे-फूटे अल्फाज बोलती हैं। कभी एक सब्जी फरोश बनती है और दूसरी जोगन। जोगियों के बहुरूप के अलावा बंदर, कुत्ता, भेड़िया, गाय, रीछ, शेर और दूसरे जानवरों की शकलें बनाकर आदमियों का पीछा करती हैं। अक्सर ऐसा संयोग होता है कि गांव और शहर के छोटे बच्चे और जवान बनावटी शेरों और रीछों को असली जानकर जमीन पर लौटने लगते हैं। और डर के मारे मदद के लिए पुकारते हैं। बहरहाल इस जमाने में हर मुसलमान के घर रोजाना रंडियों का नाच होता था और रात में इसमें बहुरूपों और नक्लों का इज़ाफ़ा कर दिया जाता था।''

सारांश यह है कि कुछ परहेजगार मुसलमानों के सिवा सभी मुसलमान दिल खोलकर होली खेलते थे। नीच लोग, नीचों के साथ, दौलतमंद दौलतमंदों के साथ और जवान जवानों के साथ मिलकर होली मनाते थे।

दीवाली

दीवाली या दीपावली का पर्व हिन्दी महीना कार्तिक की अमावस्या को होता है।

इस त्यौहार से पहले मकानों की रंगाई-पुताई और सफाई कराई जाती है। जो कि स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत आवश्यक है दीवाली के अवसर पर पहले धन की देवी लक्ष्मी की पूजा की जाती है फिर दीपमलाएं प्रज्जवलित की जाती हैं। प्रायः अतिशबाज़ी भी छोड़ी जाती है और परस्पर मिठाइयों का आदान-प्रदान होता है।

इस रात को जुआ खेलना शुभ माना जाता है। एक भ्रांत धारणा थी कि जिस व्यक्ति ने कभी जुआ न खेला हो उसे धन-धान्य से भरपूर होने के लिए जुआ खेलना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता था तो उस पर ताने कसे जाते थे और उसे लोग गलती पर समझते थे। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो इस रात को एक-दो घड़ी के लिए यह शगल न करता हो इस तरह एक शहर में हजारों घर बर्बाद और दूसरी तरफ हजारों घर आबाद हो जाते थे।

अकबर बादशाह सिर्फ इस त्यौहार से संबंधित आवश्यक वस्तुओं में रूचि लेता था। जबकि जहांगीर खुद भी जुआ खेलता था और अपने मुलाजिमों को अपनी मौजूदगी में दो-तीन रातें जुआ खेलने का हुक्म देता था।

कहा जाता है कि औरंगजेब ने होली की तरह दीवाली के त्यौहार को भी वर्जित कर दिया था। उसकी मृत्यु के बाद शायद मुगल दरबार में दीवाली के उत्सव का चलन हुआ। क्योंकि शाहआलम सानी, अकबर शाह सानी और बहादुर शाह जफर के दरबारों में दीवाली के त्यौहार मनाने के प्रमाण मिलते हैं। शाहआलम सानी ने शाही महल में दीवाली का त्यौहार मनाने का खुद जिक्र किया है। शाही महल दीपकों से आलोकित होता था। सरस्वती की पूजा होती थी। शाही बेगमें ज़री के कपड़े पहन कर, सोलह सिंगार कर, मेंहदी लगाकर, पूरी-कचौरी और समोसे के थाल भरकर नाचते गाते-बजाते सरस्वती की पूजा के लिए जाया करती थी।

सरस्वती के पूजन को सब ले ले आई भर भर थाली
पूरी, कचौरी, समोसा, पापरी और करें नेकी सहाली
आनंद से गाये, बजाये सभी नर-नारी दे दे ताली
क्या नीको मचोरी आज माई कमी बन के बनो हार दिवाली

शाही महल में नाच और गाने की महफिलें सजती थी और दीवाली भरी जाती थी।

खील, बतासे, चिखे कर सों
दीवाली की भरी हठरी जो घड़ा
खेलत नके सभी भाई इत हैं
आनंद सूं घर भरा।

शाही महल के नौकर उस दिन बादशाह को मुबारकबाद देते और नज़रें पेश करते थे-

आज दीवाली आई शुभ शाह आलम घर है आनंद बधाई
नर-नारी गावत देने मुबारकबाद की सब मिल बधाई।

मुंशी फ़ैयाजुद्दीन ने दिल्ली के अंतिम दो बादशाहों के सामाजिक व्यवहार को बड़े अच्छे ढंग से चित्रित किया है। महल में दीवाली के जश्न का वर्णन इन शब्दों में किया है:

''लो आज पहला दिन आया है। महल में सबकी आमद-रफ्त बंद हो गई। धोबिनें, मालिनों, कहारने, हलाल खोदियां तीन दिन तक महल के बाहर न निकलने पायेंगी और न कोई साबुत तरकारी महल में आ पायेगी। बैंगन, मूली, कददू, गाजर आदि अगर किसी ने मंगाई भी तो बाहर से कटी हुई आई, इसलिए कि कोई जादू न करें। तीसरे दिन को देखो, आज बादशाह सोने-चांदी में तुलेंगे। एक बड़ी सी तराजू खड़ी हुई। एक तरफ पलड़े में बादशाह बैठे, दूसरी तरफ चांदी सोना वगैरह तौलकर गरीबों में बांट दिया। एक भैंसा, काला कंबल, कड़वा तेल, सतनजा, सोना-चांदी और नगदी आदि बादशाह पर न्यौछावर किये गये। किले की बुर्जो की रोशनी का हुक्म हुआ। खील, बताशे, खांड और मिट्टी के खिलौने और हाथी-घोड़े और गुनों की फांदियों और नीबू आदि को कहार स्त्रियां सिर पर रखे घर-घर बांटती फिरती हैं। रात को बेटों के हाथी, बेटियों की हटड़ियां खीलों, बताशों से भरी गई। उनके आगे दीपक जलाये गये। चौकी रोशन हुई और बाजे बजने लगे। चारों कोनों पर एक-एक गन्ना खड़ा किया गया। नीबूओं में डोरे डालकर इनमें लटका दिये। सुबह को वे गन्ने और नीबू हलाल खोरों को दिये। रथवान बैलों को बना संवार पांव में मेंहदी लगा उनपर रंग-बिरंगे चित्र बनाते। सीगों पर कलई और सिंगोइयां, हाथियोंपर कारचोबी पट्टे और शंख, गलों में घंटियां, ऊपर कारचोबी बनाती झूलें पड़ी हुई, छमछम करते चले आते हैं ये लोग बैलों को दिखा और इनाम व इकराम ले अपने कारखानों में आये।''

दीवाली के दूसरे दिन गोवर्धन की पूजा होती थी। शाह आलम के महल में इस पूजा से संबंधित रस्में अदा होती थी। शाह आलम ने निम्नलिखित शेरों में इन रस्मों की ओर स्वयं संकेत किया है-

चलो री सखी गोवर्धन पूजन जाये
शाह आलम प्यारे, राज दुलारे के गेहा।
आंज त्यौहार के दिन मुबारकबाद दीजिये
अपने प्यारे संग लगाइये नेहा।

मुगल अमीर भी दीवाली का त्यौहार बड़ी धूमधाम से मानते थे। आम मुसलमानों को दीवाली के त्यौहार में उतनी ही दिलचस्पी थी जितनी की बादशाहों और अमीरों को। वे लोग भी दीवाली की सभी रीतियों का पालन करते थे। नज़ीर अकबरावादी ने

एक कविता में आम जनता की स्थिति का वर्णन किया है। इसका पहला छंद यह है:

हर मकान में जला फिर दिया दीवाली का
हर एक तरफ को उजाला हुआ दीवाली का।
सभी के दिल में समा था गया दीवाली का
किसी के दिल वो मजा खुश लगा दीवाली का।
अजब बहार का है दिन बना दीवाली का।

इस कविता में नजीर ने रोशनी, खिलौने, खील, बताशे, मकान की सफाई और जुआ आदि का विस्तृत वर्णन किया है।

दीवाली के महीनें में दिल्ली के सभी निवासीगण हजरत शेख नसीरउद्दीन चिराग देहलवी के मज़ार पर ज़ियारत के लिये थे। और दरगाह के पास स्थित एक झरने के चारों तरफ अपने खेमे लगाते थे और इसमें स्नान करते थे।

आमतौर पर मुसलमान और विशेष रूप से कम पढ़ी लिखी मुसलमान औरतें दीवाली से संबंधित सभी रीति-रिवाजों को मानती थीं। दीवाली के प्रति आम मुसलमानों की रूचि के सिलसिलें में मिर्जा क़तील का यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है-

''इस दिन की शोभा सिर्फ हिंदुओं पर निर्भर नहीं करती है...बहुत से मुसलमान भी हिंदुओं के साथ मिलकर दीयों की रोशनी में जुआ खेलतें है। जो मुसलमान जुआ खेलने से परहेज करते हैं वे कम से कम अपने घरों में दीपक जलाते हैं। दीवाली की रात में औरतें सब बच्चों के नाम से अलग-अलग मिट्टी के खिलौने मंगवाती हैं। और तरह-तरह की मिठाइयां और खांड के खिलौने मंगवाती हैं। पहले घर को रोशन करती हैं फिर उस हिस्से को जहां के खिलौने और मिठाइयां रखी हैं दीपकों की पंक्ति से सजाती हैं, इसे दीवाली भरना कहते हैं। रस्म यह है कि हर एक लड़के और लड़की के नाम से दीवाली भरना छूट जाये तो आने वाले साल उसे कष्ट उठाना पड़ता है। वे यह सोचते हैं कि यह साल हमारे लिये शुभ नहीं है। ज़ाहिर है कि इस क्रिया को वे बच्चों की सलामती के लिये अच्छा समझतें हैं क्योंकि इस क्रिया का तर्क से कोई संबंध नहीं हैं। इसलिये कोई आदमी अपने अनुभव और ज्ञान से घर की औरतों को ऐसा करने से रोकता है और देवीय प्रकोप से उस साल में कोई बच्चा मर जाये तो वह आदमी औरतों के उलाहनों का निशाना बन जाता है और उसे अपने किये पर लज्जित होना पड़ता है। आखिरकार उन्हें इस मामले में औरतों को पूरी आजादी देनी पड़ती है। अतएव कई लोगों ने औरतों के तानों से डरकर और कइयों ने इस भावना से कि अगर हम औरतों को इन कामों के रोकेंगें तो सारा साल मनहूस गुजरेगा, दीवाली भरने की रस्म को अपना लिया है। आमतौर पर इस देश के मर्द इन मामलों में हिंदू विश्वासों के अनुयायी हैं और औरतों के मुरीद हैं।''

दशहरा

विजयदशमी, जिसे आमतौर पर दशहरा कहा जाता है, क्षत्रियों के लिये विशेष रूप से महत्व रखता था। आश्विन की दशमी को रामचन्द्र जी की रावण पर विजय के उपलक्ष्य में यह पर्व मनाया जाता है। हमारे जमाने की तरह उस ज़माने में सारे भारत में यह त्यौहार मनाया जाता था। राम-रावण युद्ध की स्मृति में लीलाएं की जाती थीं। फौजी हमले के लिये ये दिन बहुत ही शुभ माना जाता था।

मुगल दरबार में दशहरे का उत्सव आयोजित होता था। उस दिन की सुबह तमाम शाही हाथी-घोड़ों को नहलाया-धुलाया जाता था इनको आभूषण और रंगीन झूलों से सजाया जाता था और बादशाह के निरीक्षण के लिये पेश किया जाता था। जहांगीर बादशाह ने महर की चौबीसवीं (1619) के जश्न का हाल इस तरह बयान किया है:

''हिन्दुस्तान की रस्म के मुताबिक उन्होंने घोड़ों को सजाया और मेरे सामने पेश किया। जब मैं घोड़ों का मुआयना कर चुका तो वे हाथी लाये।''

औरंगजेब के उतराधिकारियों के युग में यह त्यौहार दरबार में मनाया जाता था। जहां दारखां के शासन काल में लकड़ियों के ढांचे से एक लंका बनाई जाती थी और उसका दहन किया जाता था। बादशाह इस दृश्य को देखने में बड़ी रूचि रखता था। अकबर शाह सानी और बहादुरशाह ज़फ़र के दरबार में यह जश्न इस प्रकार मनाया जाता रहा था:

''दशहरे के दिन बादशाह ने दरबार किया। पहले एक नीलकंठ बादशाह के सामने उड़ाया गया। बाजखाने का दारोगा बाज और शिकरा लेकर आया। बादशाह ने बाज़ लेकर हाथ पर बिठाया। दरबार बरखास्त हुआ। तीसरे पहर अस्तबल खास का दरोगा खास घोड़ों को मेंहदी से रंगकर, उनपर तरह-तरह के चित्र बनाकर, सोने-रूपे के साज लगाकर झरोखों के नीचे लाया। बादशाह ने घोड़ों का मुलाहिजा किया। दारोगा को इनाम देकर रूख्सत किया।''

उमराव और आम मुसलमान भी नीलकंठ देखने मैदानों में शहर से बाहर जाया करते थे।

वसंत

कहा जाता है कि बहार राग और मेला वसंत ने भी हजरत अमीर खुसरों की तबीयत को प्रभावित किया था लेकिन इतिहास की पुस्तकों से यह पता नहीं चलता कि मुसलमानों ने इस त्यौहार को मनाना कब से शुरू किया। इस सिलसिले में ख्वाजा हसन निज़ामी ने इस परम्परा का उल्लेख किया है-''सातवीं शताब्दी हिज़ारी के अंत में हजरत सुल्तानुल मशायख शेख निज़ामुद्दीन औलिया के सगे भानजे मौलाना तकी

उद्दीन 'नूह' का, जो ख्वाजा रफीउद्दीन हसन के छोटे भाई थे, दिल की बीमारी से निधन हो गया। हजरत सुल्तानुल मशायख को इस लायक, होनहार, खुशनसीब और नेक भानजे से बहुत स्नेह था। हजरत को इस युवक की मृत्यु से इतना दुःख पहुंचा कि संज्ञा शून्य हो गये। यहां तक कि छः महीने तक इस मानसिक आघात के कारण आप हंसे तक नहीं। हजरत के मिलने-जुलने वालों के अलावा तमाम दिल्ली शहर इस नवयुवक की मृत्यु के शोक में डूबा हुआ था। विशेष रूप से अमीर खुसरो अपने श्रद्धेय हजरत निजामुद्दीन औलिया के मानसिक कष्ट को लेकर बहुत बेचैन थे। वे हर क्षण इस कोशिश में रहते थे कि हजरत के मन बहलाव का कोई साधन और उपाय खोजा जाये। एक दिन अपने चंद दोस्तों के साथ जंगल में सैर करते फिरते थे। वसंत ॠतु का आरंम्भ था। हरे-भरे खेतों में सरसों के पीले फूल वसंत के आगमन की सूचना दे रहे थे। सामने पहाड़ पर कालका जी का मंदिर था। वसंत पंचमी का दिन था। मंदिर पर मेला लगा हुआ था। और मूर्ति पर सरसों के फूल बरसाये जा रहे थे। अधिकांश लोग बड़ी तन्मयता के साथ राग अलाप रहे थे। जब अमीर खुसरो ने यह हाल देखा, इन रमणीय दृश्य ने उनके मन को मोह लिया। इसी समय फारसी और हिंदी के कुछ शेर कहे। जंगल से सरसों के फूल तोड़े और पगड़ी को जरा तिरछा करके उस तर्ज से बांधा कि मस्ताना शान मालूम होती थी। इस मनोदशा में शेरों को पढ़ते हुए हजरत सुल्तानुल मशायख[7] (औलिया साहब) की सेवा में उपस्थित हुए।''

हजरत सुल्तानुल मशायख इस समय अपने दस्तूर के मुताबिक स्वर्गीय भानजे के मजार पर तशरीफ़ लाये थे। और पास ही एक बुर्जी में बैठे हुए थे। आप खुसरो की यह मस्ताना अदा देखकर और फारसी व हिंदी के शेर उस रंग में सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। पूरे छह महीने के बाद आपके होठों पर हंसी देखी गई। उस दिन से आज तक वसंत पंचमी के दिन जब हिंदू कालका जी के मंदिर जाते हैं तो दिल्ली और आस-पास मशहूर सूफी अपने साथ कुछ कव्वालों को लेकर सरसों के फूल हाथ में लिये और शेर पढ़वाते हुए पहले उस मुकाम पर जाते हैं, जहां कि शेखों के सुल्तान उस दिन तशरीफ रखते थे। इसके बाद आपके भानजे मौलाना तकीउद्दीन 'नूह' के मज़ार पर होते हुए हज़रत की पवित्र दरगाह पर आते हैं। क़व्वाल हिंदी की ठुमरियों को पढ़कर इस शेर को बार-बार पढ़ते हैं:

अश्क रेज़ आमद अस्त अब्रे बहार
साक़िया गुल बरेज़-ओ-बादा ब यार।

वसंत का मेला माघ महीने की पंचमी को आयोजित होता है। यह बड़े जश्न का दिन माना जाता था। एक दूसरे पर रंग डाला जाता और अबीर छिड़का जाता था। वासंती परिधान पहना जाता था। गायन, वादन और नृत्य की सभाएं होती थीं। यह भारत

में वसंत ऋतु के आगमन का समय होता है।

मुगल दरबार में यह त्यौहार बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था। औरंगजेब के शासन काल में दरबार से इसका रिवाज़ उठ गया था। लेकिन उसके उत्तराधिकारी इसमें गहरी रूचि लेते थे। शहजादा अजीमुश्शान इस दिन पीले वस्त्र पहनता था। शाह आलम सानी और बहादुरशाह जफर के शासन काल में शाही महल में जिस मान-प्रतिष्ठा के साथ यह उत्सव मनाया जाता था, उसका चित्रण शाहआलम सानी ने स्वयं 'नादिरात-ए-शाही' के शेरों में किया है:

आज ले ले आई सब सखी मिल ये नीको रंग
नये-नये फूलन सौ खेलन वसंत शाह आलम के संग।

फूलों के गड़वे बनाकर, उन्हें सिर पर रखकर वसंत गाते हुए बादशाह को मुबारकबाद दी जाती थीं। महलों की औरतें और नौकर-चाकर केसरिया परिधान पहनते थे और हर्ष मनाते थे। नाच-गाने होते थे, बादशाह की प्रशंसा में गीत गाये जाते थे और बादशाह की दीर्घ आयु की कामना की जाती थी।

बादशाहों का अनुसरण करते हुए अमीर लोग भी इस उत्सव का आनंद उठाते थे और उनके महल की स्त्रियां भी इस दिन की रस्में अदा करने में अपनी हिंदू बहनों से किसी तरह पीछे नहीं रहती थीं। तबातबाई ने लिखा है कि नवाब सौलतजंग (नाजिम बंगाल) के महल की स्त्रियां वसंत पंचमी का जश्न मनाया करती थीं। नवाब ग़ाज़ीउद्दीन खां हैदर लखनवी वासंती परिधान पहना करता था और महल में हर तरफ केसरी रंग की भरमार ही होती थी।

आज मुसलमान भी इस त्यौहार में बड़ी दिलचस्पी लेते थे। सात दिन तक यह जश्न मनाया जाता था। दरगाह कुली खां ने दिल्ली में वसंतोत्सव का आंखों देखा हाल इस प्रकार बताया है:

"वसंत के मेले दिल्ली के तमाम मेलों में अपनी विशेषताओं के लिहाज़ से निराले होते हैं। वसंत के महीने की पहली तारीख को दिल्ली के तमाम बाशिंदे हजरत सरवरे कायनात के कदम शरीफ पर आते हैं और सुबह से शाम तक वहां ठहरते हैं। कदम शरीफ के आसपास के बागान, मैदान और मकानात आदमियों से भर जाते हैं। तमाम लोग जाफरानी पोशाक में सज-धज कर बड़ी शालीनता के साथ आते हैं। कदम शरीफ के सेहन में आसपास की जगह पर खेमे और डेरे लगाकर रहते हैं। अपने साथ खाने-पीने का सामान भी लाते हैं और अच्छे व कीमती फर्श बिछाते हैं। जिस कारण कदम शरीफ के आसपास के बागों और मैदानों में रंग-बिरंगें फर्श दिखाई देते हैं। जिन पर दिल्ली वाले टोलियों के साथ बैठे हुए हास, परिहास और मनोरंजन में डूबे रहते हैं। लोग सुबह-सवेरे इस ख्याल से आते हैं ताकि वे अपना डेरा कदम मुबारक के

सेहन में डाल सकें। इस पर भी बड़ी कोशिश करनी पड़ती है। क्योंकि हज़ारों लोग इस तमन्ना से आते हैं और अच्छा हुजूम सुबह-सवेरे हो जाता है। कदम शरीफ के अंदर और बाहर तमाम दिन कव्वालों का गाना होता रहता है और मुजरा करने वाले जगह-जगह नजर आते हैं। गाने चहचहाने का ऐसा मंजर दिखाई देता है जिससे मन अभिभूत हो जाता है। सुबह की नमाज से अस्र[10] तक यही हाल रहता है। इसके बाद फातिहा व दरुद[11] पढ़कर अपने घरों को वापस चले जाते हैं। दूसरे दिन इसी तरह दिल्ली वाले ख्वाजा दूसरे दिन इसी तरह दिल्ली वाले ख्वाजा कुतबुद्दीन बाख्तियार "काकी" के मजार पर हाजिर होते हैं और तमाम दिन मजार की जियारत करने और फातिहा पढ़ने और घूमने-फिरने में बिता देते हैं। यहां का मंजर भी बिल्कुल कदम शरीफ की तरह होता है। लोग शाम को वापस होते हैं। और रास्ते में हजरत नसीरूद्दीन चिराग देहलवी के मजार पर दीये जलाते हैं और फातिहा पढ़ते हैं। तीसरे दिन सुल्तानुल मशायख़ की दरगाह पर लोग बड़ी तादाद में जमा होते हैं। चूंकि हजरत की दरगाह शहर के करीब है इस कारण यहां बेइंतहा लोग आते हैं और इसलिए भी कि सुल्तान के प्रति तमाम दिल्ली वाले बड़ी श्रद्धा रखते हैं। नामी-गरामी क़व्वाल जमा होते हैं। सूफी और सुरूचि संपन्न लोग दिन-भर आनंद विभोर रहते हैं। शेख और फकीर भी समाधि में लीन रहते हैं। और वह दिन भी बड़े हर्षोत्साह के साथ बीत जाता है। चौथे दिन हजरत रसूल नुमा के मजार पर, पांचवें दिन हजरत शाह तुर्कमान के मजार पर, छठे दिन किला-ए-मुअल्ला (लाल किला) और सातवें दिन हजरत अजीजी के मजार पर मेले लगते और लोग जमा होते थे।

"कुल मिलाकर वसंत का एक पूरा हफ्ता बहुत दिलफरेब और दिलचस्प होता था। इसमें सैरो-तफरीह, दिलचस्पी और हुस्नपराती के पूरे सामान मौजूद होते थे। वे पूरे एक साल में भी हासिल होना मुश्किल हैं। वे वसंत का इतना शानदार और रंगीन मंजर सिर्फ देखने से ही ताल्लुक रखता था।"

उत्तर भारत के तमाम बड़े शहरों और देहात के लोग इस दिन बुजुर्गों के मजारों पर जाते थे। पंजाब के इलाके में इस दिन पतंगबाजी होती थी।

फ़ाइज़ देहलवी का वसंत-वर्णन देखने योग्य है:

आज है रोज़-ए-वसंत ऐ दोस्तान
सर्व कद हैं बोस्तां के दरमियान
बाग में है ऐशो-इशरत रात दिन
गुल रखां बिन नहीं गुजरती एक छिन
सब के तन पर है लिबास-ए-केसरी
करते हैं सद बर्ग सौं सब हमसरी

हर छबीली आज बस है केसरी
ताजा करती है बहार-ए-जाफरी
बैठ हिंडोले झूलती गाती हिंडोल
ले गुलाल नित गल मिल करती ठिठोल।

वास्तव में 1857 तक आगरा और दिल्ली के मुसलमान, सामान्यतया उत्तर भारत के मुसलमान वसंत का मेला बड़ी धूम-धाम और जोशी-खरोश से मनाते थे। 'हयात-ए-जावेद' में लिखा है कि दिल्ली में जो वसंत के मेले होते थे, सर सैयद अहमद खां भी उनमें शिरकत करते थे। खुद उनके नाना ख्वाजा फ़रीद के मजार पर चौसठ खंभे में जो वसंत का मेला होता था, उसमें वे अपने दूसरे भाईयों के साथ प्रबंधक होते थे।

उसी जमाने में ख्वाजा मुहम्मद अशरफ़ नामक एक बुजुर्ग दिल्ली में रहते थे। इनके घर पर वसंत का मेला होता था। शहर के खास लोग वहां आमंत्रित होते थे। मशहूर से मशहूर नर्तकियां वासंती परिधान पहन कर वहां नृत्य के लिए आती थीं। मकान में पीला फर्श होता था और दालान के सामने एक चबूतरा था जिसमें एक हौज़ था। इससे ज़र्द पानी के फव्वारे छूटते थे। बाग में ऋतु के अनुरूप पीले फूल खिले होते थे और तवायफें बारी-बारी से नाचती थीं।

सैयद अहमद मारहरवी अपने ज़माने का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं कि पंद्रह दिन तक अलग-अलग मज़ारों पर बसंत के इस्लामी मेले निहायत धूम के साथ होते थे। इन पर हज़ारों रुपये खर्च होते थे। आगरा में भी शहर के तमाम पेशेवर मुसलमान झुंड जंगलों में बसंत मनाने और हलवा पूड़ी उड़ाने जाते थे। और घरों में औरतें भी बसंती कपड़े पहन कर कढ़ाइयां चढ़ाकर पकवान बनाती थीं, मिल-मिलकर गीत गाती थीं। उत्तर भारत के अधिकांश शहरों और कस्बों के मुसलमानों में कमोबेश बसंत की रस्में जारी थीं।

सलोनो

इस त्यौहार को रक्षा बंधन भी कहते हैं। अकबर बादशाह ने इसे एक राष्ट्रीय त्यौहार की हैसियत दे दी थी। और स्वयं उसने अपनी कलाई पर भी राखी बांधी थी। बादशाह के अनुसरण पर अमीरों ने भी बादशाह की कलाई पर राखी बांधनी शुरू कर दी और वे लोग खुद भी अपने मुलाजिमों से राखी बंधवाते थे। जहांगीर ने अपने शासन काल में एक हुक्म जारी किया था कि तमाम हिंदू अमीर उसकी कलाई में राखी बांधा करें। इसके बाद यह त्यौहार मुगल दरबार में जश्नों में शुमार किया जाने लगा। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के युग में 1857 ईस्वी तक दरबार में इस त्यौहार की रीतियों का पालन किया जाता था। शाह आलम सानी अकबर शाह सानी और

बहादुरशाह जफर को इस त्यौहार में बड़ी रूचि थी। कभी बादशाह स्वयं या कभी उसके बेटे इस उत्सव का निरीक्षण हाथी पर सवार होकर किया करते थे। यह जुलूस शाही महल से कुतुबुद्दीन बाख्तियार 'काकी' के मजार तक जाता था। सवारी के मौके पर नौकर-चाकर बादशाह और शहज़ादों को पंखा झला करते थे।

मुंशी फैमाजउद्दीन ने मुगल दरबार में इस उत्सव के मनाने का यह कारण बताया है कि-

''अजीजउद्दीन आलमगीर सानी से उसके वज़ीर गाज़ीउद्दीन खां को दुश्मनी थी। एक दिन ढकोसला बनाकर अर्ज़ किया कि हुजूर पुराने कोटले में एक फकीर साहिब-ए-कमाल आए हैं। बादशाह ने हुक्म दिया-अच्छा बुलाओ। उसने कहा, बहुत खूब। दूसरे दिन पुराने कोटले में एक मौके का मकान ढूंढकर दो आदमी ख़ंजर लेकर वहां छुपा दिए गए और बादशाह से झूठमूठ कहा कि साहिब-ए-कमाल फकीर कहते हैं-कि हम आज बादशाह हैं। बादशाह को ग़रज़ है तो आप हमारे पास चले आएं। बादशाह फकीरों के प्रति श्रद्धा रखता था। फरमाया, हम आप चलते हैं। जब कोटले में पहुंचे तो वजीर ने अर्ज किया कि-जहांपनाह फकीर साहब ये भीड़भाड़ देखकर नाराज़ होंगे। बादशाह ने हुक्म दिया-अच्छा सब यहां ठहरेंगे।

बादशाह अकेले ही वजीर के साथ अंदर गए। जाते ही दोनों धोखेबाजों ने बादशाह को खंजरें घोंप दी। और काम तमाम करके लाश को नदी की तरफ फेंक दिया। उधर नदी की तरफ से कोई हिंदू स्त्री (रामकंवर) चली आ रही थी। कहीं उसकी निगाह पड़ी...पास आकर पहचाना कि ये तो हमारे बादशाह हैं। शाह आलम ने उस हिंदू स्त्री की करूणा पर प्रसन्न होकर उसको अपनी बहन बना लिया क्योंकि उसने शाह आलम के पिता के शव की रखवाली की थी। उसे बहुत कुछ दिया। उससे बहनों की तरह व्यवहार करते रहे। वह भी भाई समझकर हिंदुओं की प्रथानुसार रक्षा बंधन के दिन बहुत सी मिठाई थालों में लेकर आती थी और बादशाह के हाथों में सच्चे मोतियों की राखी बांधती थी। बादशाह उसे अशर्फियां और रुपये देते थे। शाह आलम के बाद अकबर शाह सानी उसके साथ ये संबंध निभाता रहा। इसके बाद बहादुर शाह जफर उस स्त्री की संतान के साथ भाई बहन के संबंध को मानता रहा।

हिंदुओं की भांति मुसलमान भी रक्षा बंधन का त्यौहार मनाते थे और बहनें अपने भाइयों की कलाइयों में राखी बांधकर नकद पैसे लेती थीं। बकौल रामप्रसाद, राखी वास्तव में हिफाजत का तावीज है। इस ज़माने में भी हिंदू और मुसलमान माएं अपने बच्चों के गले में इस तरह की तावीज डाल दिया करती हैं और देहातों में हिंदू व मुसलमान दोनों मौजूदा दौर में भी अपनी बहनों से राखी बंधवाते हैं।

इस त्यौहार में विशेष रूप से लड़के नाचते थे। सलोनों के नाच की महफिलें या

तो मुसलमान खुद अपने घर सजाते या दूसरों के घर जाकर उसका आनन्द लेते थे।

नजीर अकबराबादी ने अपने खास अंदाज में राखी के त्यौहार पर एक कविता लिखी हैं। और उस युग में इस त्यौहार की गरिमा का वर्णन किया है-

चली आती है अब तो हर कहीं बाजार की राखी
सुनहरी, सब्ज, रेशम, जर्द और गुंलनार की राखी
बनी है गो कि नादिर खूब हर सरदार की राखी
सलोनो में अजब रंगी है उस दिलदार की राखी
न पहुंचे एक गुल को यार जिस गुलजार की राखी

मची है हर तरफ क्या-क्या सलोनो की बहार अब तो
हर इक गुल रू फिरे है राखी बांधे हाथ में खुश हो
हवसजो दिल में गुजरे हैं कहूं क्या आह मैं तुमको
यही आता है जी में बनके बाम्हन आज तो यारो

मैं अपने हाथ से प्यारे के बांधू प्यार की राखी

1947 ईस्वी के बाद मुसलमानों में यह त्यौहार बंद हो गया था। पंडित नेहरू ने फिर से इस उत्सव की शुरूआत की और अब हर साल इस अवसर पर 'फूलवालों की सैर' का आयोजन होता है।

जन्माष्टमी

जन्माष्टमी के बारे में कहा जाता है कि इस रात्रि को कृष्ण का जन्म हुआ था। हर वर्ष इस रात्रि को हिंदू कन्हैया जी की झांकियां लगाते हैं। इन झांकियों में कृष्ण जन्म की लीलाओं का प्रदर्शन किया जाता है। अपनी हैसियत के अनुसार लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की मिठाइयों, खरबूजे के बीज शकर में भून कर विशेष रूप से कांसे या पीतल के बर्तन में रखकर श्रीकृष्ण की मूर्ति के आगे रखते हैं। स्त्रियां और पुरुष रात भर कृष्ण भक्ति के गीतों का गान करते हैं। रास लीलाएं करते हैं, नाचते हैं, गाते हैं। कंस का पुतला बनाया जाता है। एक मैदान में मामा और भांजे के युद्ध के दृश्य को दिखाया जाता है। कंस वध दिखाया जाता है। कृष्ण के हाथों कंस वध का रूपकर हर वर्ष पेश किया जाता है।

मुसलमान भी जन्माष्टमी का त्यौहार मनाते थे। मिर्जा क़तील का कथन है-

''कई मुसलमान भी एक निश्चित दिन कंस का पुतला बनाकर उसके पेट को

चाक करते हैं और जो शहद उसमें पहले से भर देते हैं उसे उसका रक्त समझकर पीते हैं।''

इन त्यौहारों के अलावा मुसलमान कुछ ऐसे जश्न भी मनाते थे, जिनकी बुनियाद हिंदु आस्थाओं पर टिकी थी, आगे इनकी चर्चा की जा रही है।

फातिहा ख्वाजा ख़िज्र

मुसलमान ख्वाजा ख़िज्र की जीवनी और कथा को कुरान और अदीस की रोशनी में बयान करते हैं। जबकि हिंदू राजा ख़िज्र के नाम से उनकी पूजा करते हैं। हिंदुओं ने उन्हें अपने देवताओं की पंक्ति में खड़ा कर दिया है। भारत में ख्वाजा ख़िज्र या राजा खिज्र को पानी का खुदा या जल का देवता माना जाता है। मुसलमानों में इस जश्न की शुरूआत कब हुई और क्योंकर हुई इसका सही अनुमान लगाना मुश्किल है। यह जश्न इस प्रकार मनाया जाता था कि बरसात के दिनों में कागज की नावें बनाई जाती थीं। इनके तले में अमरूद और केले के पत्ते बिछे रहते थे। इनमें दीए जलाकर नदी में छोड़ा जाता था। इस अवसर पर भिश्तियों में मलीदा बांटा जाता था ताकि वे लोग ख्वाजा ख़िज्र की फातिहा करें।

बंगाल, दिल्ली, लखनऊ और पंजाब में यह त्यौहार आमतौर पर मनाया जाता था। इस बात से अनुमान होता है कि उत्तर भारत के दूसरे मुस्लिम आबादी वाले क्षेत्रों में भी इस जश्न की रस्में अदा होती होगी। मिसेज मीर हसन अली ने लखनऊ के बारे में लिखा है कि बिगुल और ढोल बजाकर उपस्थित लोगों की भीड़ के कोलाहल के बीच इन नावों को गोमती नदी में प्रवाहित किया जाता था। पहले और फिर बहाव की तरफ बहा दिया जाता था। जब वे थोड़ी दूर निकल जाती थी तो दर्शक गण इस दृश्य को देखकर आनन्दित होते थे। इसके अलावा लखनऊ की जनता 'हजरत इल्यास की कश्ती' का जश्न भी मनाती थी। इस जश्न की शुरूआत प्रायः ख्वाजा ख़िज्र की कश्ती के अनुसरण पर हुई थी।

दिल्ली के भिश्ती ख्वाजा ख़िज्र की फातिहा करते थे। खिज्रबाद (यह गांव आज भी इसी नाम से जाना जाता है) के पास यमुना नदी के किनारे एक गुम्बद था। शायद अब यह गुम्बद गिर चुका है। जहां ये लोग भादों के महीने में जमा होते थे। घास फूस की नौकाएं बनाकर यमुना में छोड़ा करते थे और दलिया पकाकर फकीरों में बांट दिया करते थे। संक्षेप में भारत के मुसलमानों में यह प्रथा प्रचालित थी।

झरोखा दर्शन और तुलादान

हिंदुओं के अनुसरण पर मुग़ल बादशाहों ने झरोखा दर्शन और तुलादान की

प्रथाओं को अपना लिया था। अकबर बादशाह इनका प्रर्वतक था। अबुल फजल का कथन है–

"कोरनिशा[12] के बाद सुबह को किबला-ए-आलम पर्दे से बाहर बरामद होकर हर खासोआम को दर्शन दिया करते थे। और हर तबके का आरजूमंद आदमी चोबदारों की रोक-टोक के बिना बादशाह के दर्शन का सुख प्राप्त करता है। इस दीदार को आम बोलचाल में दर्शन कहते हैं।"

इसका दूरगामी परिणाम यह हुआ कि अकबर बादशाह की हिंदू प्रजा में से एक ऐसा वर्ग उभरकर सामने आया जो बादशाह के दर्शन के बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करता था और न कोई काम काज ही शुरू करता था। जहांगीर और शाहजहां के युगों में भी इस दस्तूर पर पूरी तरह से ही अमल होता रहा और वह वर्ग जिसे 'दर्शनिया' कहा जाने लगा था, अकबर बादशाह की तरह इन बादशाहों के प्रति भी श्रद्धा रखने लगा। 1657 ईस्वी में बीमारी के कारण जब शाहजहां झरोखे में आकर न बैठे तो देश में अशांति फैलने के आसार दिखाई देने लगे और शहजादों ने तख्त हासिल करने की जंग की तैयारियां शुरू कर दी थीं। क्योंकि आम जनता को यह भ्रम हो गया था कि बादशाह अब दिवंगत हो चुके हैं। लेकिन आखिकार जब उनका स्वास्थ्य कुछ ठीक हुआ तो लोगों को उनके जीवित रहने का विश्वास दिलाने की लिए उन्हें झरोखे पर लाया गया। औरंगजेब ने इस रस्म को इसलिए खत्म कर दिया क्योंकि ये हिंदुओं की देखादेखी शुरू हुई थी और इसका इस्लाम से कोई संबंध न था।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद फिर से इस दस्तूर की शुरूआत हुई और 1957 तक इस पर अमल होता रहा। हर एक वर्ग के लोग झरोखे के नीचे एकत्रित होकर बादशाह के प्रति अपनी हार्दिक प्रकट करते थे। जहां दारशाह और मुहम्मद शाह दोनों झरोखे पर दर्शन देते थे।

अबुल फजल ने अकबर बादशाह के तुलादान के विषय में लिखा है–

"बादशाह के पराक्रम को बरकरार रखने और निर्धनों को उपकृत करने के उद्देश्य से जहांपनाह को तौलने की रस्म वर्ष में दो बार होती है। और हर प्रकार की मूल्यवान वस्तुएं तराजू में रखी जाती हैं। आबान की एक तारीख़ को जहांपनाह की शमसी सालगिरह का दिन है। इस बार किबला-ए-आलम नीचे लिखी गई चीजों में बारह बार तोले जाते हैं:-

सोना, चांदी, अब्रेशम, खुशबू, तांबा, रूह तूतिया, घी, लोहा, दूध, चावल सात किस्म का अनाज और नमक।

तथा जिन वस्तुओं की कीमत ज्यादा है उन्हें पहले तोला जाता है और जिनकी कीमत कम है उन्हें बाद में।

इसके अलावा जहांपनाह की उम्र गरामी का जो साल होता है उसी तादाद में बकरे, बकरियां, और मुर्गियां गरीब लोगों को (जो जानवरों को पालते और उनकी नस्ल बढ़ाकर फायदा उठाते हैं) दी जाती हैं और पिंजरे से बेशुमार परिंदों को आजाद किया जाता है।

पांचवीं रजब की दूसरी तारीख को (जो जहांपनाह की कमरी सालगिरह का रोज़ है) किबला-ए-आलम आठ चीज़ों में अलग-अलग तोले जाते हैं:

चांदी, रांगा, सीसा, मेवा, पारचा, शरीनी, रोगन, कंजद और सब्जी।''

इसी तरह शहजादों को भी उनकी सालगिरह के दिन तौला जाता था। अबुल फ़ज़ल ने लिखा है:-

''शाहजादान बंलंद इकबाल और उनके फर्जनदानों[13] साअदातामंद[14] साल में एक बार यानी शम्सी सालगिरह के दिन तोले जाते हैं। हर साल एक चीज़ का इज़ाफा होता है। जवान होने के बाद सात या आठ चीजों में तोलने की नौबत आती थी। मगर बारह से ज्यादा चीजों में कभी नहीं तोले जाते थे।[15]''

जहांगीर और शाहजहां के युग में भी कुछ हेर-फेर के साथ इस पर अमल होता रहा। औरंगजेब ने भी अपने आरंभिक काल के शासन वर्षों में इस पर आचरण किया। बर्नियर का कथन है:-

''मुझे याद है कि यह देखकर कि औरंगजेब का वजन पिछली साल की तुलना में एक सेर ज्यादा हो गया है, तमाम दरबार ने बहुत खुशी जाहिर की थी।''

लेकिन 1870 में उसने इस रस्म को बंद कर दिया। कहा जाता है कि उसने अपने लड़के और पोतों को सलाह दी थी कि रूहे खबीशा[16] से बचने के लिए वे साल में दो बार अलग-अलग धातुओं से अपने आप को तुलवाया करें।

जिन चीज़ों से बादशाह को तोला जाता था उन्हें ब्राह्मणों, फकीरों और दूसरे जररूतमंद लोगों में बांट दिया जाता तो कई बार दरबारियों को भी कुछ हिस्सा दिया जाता था।

औरंगजेब के निधन के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने फिर से इस प्रथा को मानना शुरू कर दिया। बर्नीयर के एक बयान से ऐसा भी मालूम होता है कि सालगिरह के मौके पर अमीरों को भी तोला जाता था।

तख्तनशीनी का जश्न

हूमायं बादशाह ने तख्तनशीनी की सालगिरह मनाने और उस दिन बड़े पैमाने पर जश्न आयोजित करने की रस्म को शुरू किया था। उसके युग में इस जश्न को सात दिनों तक मनाया जाता था। इस जश्न में सरकारी कर्मचारी और सिपाहीपेशा लोग

हिस्सा लेते थे। बाजार और विशेष स्थानों को सुंदर ढंग से सजाया जाता था। पूरे देश में आतिशबाजी छुटाई जाती थी और बड़ी धूमधाम से यह जश्न मनाया जाता था। उस दिन तीरंदाजी का मुकाबला भी होता था विजेताओं को पुरस्कार दिए जाते थे। अमीरों को जागीरें दी जाती थी, गरीबों को रुपये-पैसे दिए जाते। उसके उत्तराधिकारियों के युग में भी इस रस्म का पालन होता रहा और बहादुरशाह ज़फ़र तक यह रस्म चलती रही।

अग्नि और दीपक का सम्मान

हिंदुओं में अग्नि और दीपक की पूजा की प्रथा प्राचीन समय से चली आ रही थी और आज भी प्रचालित है। अकबर बादशाह ने इसको भी अपना लिया था। अबुल फ़ज़ल लिखता है:-

''किबला-ए-आलम अकबर बादशाह आग और दीये की पवित्रता का खास ध्यान रखते हैं। आग हो या दीया सभी रोशन सितारे सबको वे खुदा या ईश्वर की ज्योति समझते हैं।

अकबर के अनुसरण पर मुसलमान अमीर भी अग्नि और दीपक का सम्मान करते होंगे और आगे भारतीय मुसलमान तो बहरहाल करते ही थे। क्योंकि यह प्रथा उन्हें विरासत में मिली थी।''

1. सिर से लेकर पांव तक
2. छोटे और बड़े
3. पुच्छल तारे
4. विस्तार के लिये देखिये-कुल्लियात-ए-मीर-78-79.
5. दरिया-ए-लताफत (फारसी), पृष्ठ 64
6. वह लड़का जिसकी दाढ़ी-मूंछ न आई हों
7. नृत्य
8. मक्तूबात-ए-इमाम रब्बानी, जीम 2, मक्तूब 41 में लिखा है कि यह रस्म दीवाली के त्यौहार में होती थी-नेज मालूमात मज्हरी, पृष्ठ 38
9. शेखों के सुल्तान अर्थात्, हजरत निजामुद्दीन औलिया
10. सूर्यास्त की नमाज़
11. रसूल के प्रति दुआ व सलाम
12. झुककर सलाम करना
13. बेटे
14. भाग्यशाली
15. आईने-अकबरी (उर्दू अनुवाद) जीम-अलिफ-हे400-401, आईन-18
16. अपवित्र आत्मा

पांचवां अध्याय

खेल-तमाशे और अन्य मनोरंजक क्रियाएं

भारतीय मुसलमानों के खेल-तमाशों और दूसरी मनोरंजक क्रियाओं की चर्चा करने से पहले यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि हर देश के खेल-तमाशों और मनोरंजक क्रियाओं तथा लोगों के आचरण का वहां की भौगोलिक और आर्थिक परिस्थितियों से गहरा संबंध होता है। ये परिस्थितियां ही उस देश के निवासियों के खेल-तमाशों को निर्धारित करती हैं। उदाहरण के लिए रेगिस्तानी क्षेत्र में गुल्ली-डंडा खेलना असंभव नहीं तो मुश्किल ज़रूर है। इसलिए ऐसे देशों में यह खेल मुश्किल से ही पाया जाता है। इसी प्रकार जिन देशों में हर समय हिमपात होता रहता है या अत्यधिक वर्षा होती रहती है वहां पतंगबाजी की क्रीड़ा असंभव है। अतएव भारतीय मुसलमानों के खेल तमाशों और मनोरंजक क्रियाओं का जायज़ा लेने से पहले हमें उन देशों के खेल-तमाशों का अवलोकन कर लेना चाहिए जहां से मुसलमान भारत आए थे। या भारत में प्रवेश से पहले जिन देशों से उनका गहरा संबंध था और मेल-मिलाप रहा था। और उन्होंने वहां के प्रभावों को स्वीकार किया था।

भौगोलिक दृष्टि से अरब द्वीप अनेक कठिनाइयों से भरा हुआ देश है। यहां की जलवायु एक दम शुष्क और भूमि नमक से युक्त है। समूचे देश में कोई ऐसी नदी नहीं पाई जाती जिसमें वर्ष भर पानी रहता हो और जो समुद्र में आकर गिरती हो। टापूनुमा अरब में नदियों की जगह पहाड़ी नालों का जाल बिछा हुआ है। अरब के तटों की हरी भरी जमीन पर कई हुकूमतें कायम हुई और नष्ट भी हो गई लेकिन इस जलहीन रेगिस्तान के निवासियों (बद्दुओं) के जीवन में आज तक कोई विशेष अंतर नहीं आया। इस कारण इस रेगिस्तान पर ऊंट, खजूर और रेत का राज है। बकौल प्रोफेसर 'हित्ती' के, अपने जुझारूपन, कर्मठता और दुस्साहसता के कारण ही खानाबदोश जंगली रेगिस्तान में जी रहा है। जहां कोई चीज़ पनप नहीं सकती। अकेलापन इस

जंगली जाति में इतना गहरा समाया हुआ है कि इसमें समाज बनाकर रहने की चेतना अब तक नहीं जाग सकी है। लोक-कल्याण के विषय में इसकी सोच अपने कबीले के हितों तक ही सीमित रहती है। राज्य तथा कानून और व्यवस्था के लिए उनके सोच में कोई स्थान नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से बद्दू पिछड़े हुए थे। रेगिस्तानी वतन के कारण ये मवेशी चराने का काम करते थे। खानाबदोशी की ज़िदगी बिताते थे। ऊँट बद्दुओं के आवागमन का एक साधन था। क्योंकि अरबिस्तान में ऊँट की नस्लें सबसे ज्यादा होती हैं। वह इसका सबसे बड़ा केन्द्र है इसीलिए ऊँट की तिराजत और ज़्यादा होती है। इसके अलावा अरब घोड़ों की तिजारत भी करते थे। यही कारण है कि आर्थिक बदहाली ने लूटमार को प्रतिष्ठा का प्रतीक बना दिया और यह लूट-मार बद्दुओं की चरवाही का आर्थिक आधार है। इसलिए अरबों की आर्थिक बदहाली का प्रभाव उनके सामाजिक जीवन, आचार-विचार और मनोरंजन की क्रियाओं पर भी पड़ा। वे आर्थिक अभावों में जीते थे, इसलिए उनके पास इतना समय कहां था कि वे खेल तमाशे में दिलचस्पी रखते।

अरबों के सामाजिक जीवन पर काम करने वाले अध्येताओं को इस कारण बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। क्योंकि अरब के इतिहासकारों ने अपनी तमाम ऊर्जा खलीफाओं की हालत, खानदानों के उत्थान-पतन की हृदय विदारक दास्तानों, फौज के अमीरों और राजनीतिक दृष्टि से प्रभावशाली लोगों की सफलताओं और असफलताओं के वर्णन में व्यय कर दी थी। इन इतिहासकारों की दृष्टि आम जनता के जीवन पर बिल्कुल नहीं गई। फिर भी इक्का-दुक्का वृत्तांतों, ऐतिहासिक स्रोतों और आजकल के इस्लामी जीवन की छवि के आधार पर वहां के आर्थिक परिवेश की रूपरेखा आसानी के साथ तैयार की जा सकती है।

प्रोफेसर 'हित्ती' का विचार है कि ललित कलाओं की तरह मनोरंजन की क्रीड़ा सामी सभ्यता की अपेक्षा हिंदू तथा यूरोपीय सभ्यता में अधिक पाई जाती हैं। खेलकूद से शरीर थकता है और शिथिल होता है। अरब का शायराना मिज़ाज शरीर की थकान को अच्छा नहीं समझता है। वह दिन की रोशनी की गर्मी में कड़े से कड़े कामों को करना अच्छा समझता है।

इसके बावजूद मैदानी खेलों की सूची में तीरंदाजी, चौंगाबाजी, गेंदबाजी, सलजान, तलवारबाजी, नेज़ाबाज़ी, घुड़दौड़ और सबसे ज्यादा शिकार के नाम मिलते हैं।

इस युग की पुस्तकों में यह उल्लेख मिलता है कि इस युग में किसी व्यक्ति को लोकप्रिय बनने के लिए या किसी अमीर या ख़लीफ़ा के निकट पहुंचने के लिए दूसरे गुणों के साथ-साथ तीरंदाज़ी, शिकार, गेंदबाजी और शतरंजबाजी में भी विशेष योग्यता

रखना आवश्यक था। शिकार, ज़ालंदाज़ी और शाहीनबाजी[1] पर अरबी भाषा में बड़ी संख्या में पुस्तकें लिखी गई हैं। इन पुस्तकों से ज्ञात होता है कि अरबों की इस प्रकार की क्रीड़ाओं में विशेष रूचि थी। लेकिन यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि शाहीनबाजी और बाज़नबाज़ी अरबों ने ईरानियों से सीखी थी।

इस पृष्ठभूमि में हमें भारतीय मुसलमानों के खेल-तमाशों और मनोरंजन की क्रियाओं का अध्ययन करना हैं। भौगोलिक दृष्टि से भारत एक समशीतोष्ण देता है। यहां बड़ी-बड़ी नदियां हैं अतएव जमीन उपजाऊ है। इसलिए यहां के निवासी आर्थिक दृष्टि से समृद्ध थे। धन-धान्य से भरपूर थे। कृषि मुख्य व्यवसाय था इसलिए खेतों को बो देने के बाद उनके पास इतना समय बचा रहता था कि वे दूसरी क्रियाओं में दिलचस्पी ले सकें। आज के युग में भी भारत के गांवों में शादी-ब्याह अप्रैल से जुलाई के महीने तक होते हैं क्योंकि फसल काटने के बाद और गल्ला तैयार कर लेने के बाद और वर्षा आरंभ होने से पहले, उनके पास काफी समय होता था। अतएव वे इस अवधि में विवाह रचाते हैं। विवाह की तैयारियों में काफी समय लगता है। बारात में भी मनोरंजन के साधनों की ज़रूरत होती है। बारात में नाच-गाने का विशेष प्रबंध किया जाता था।

जब मुसलमान भारत आए तो आरंभिक ज़माने में उन्हें इस देश में अपने पांव जमाने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा लेकिन बाद में जब वे अपनी हुकूमत बनाने में सफल हो गए और युद्धों का सिलसिला खत्म हो गया तो अपनी मनसबी से संबंधित कामों को पूरा करने के बाद उनके पास काफी समय बचा रहता था अतएव इस समय को व्यतीत करने के लिए उन्होंने मनोरंजन की ओर ध्यान दिया। कई मनोरंजक खेल तो वे अपने साथ लाए थे लेकिन उन्होंने इस देश के कई खेल तमाशों की चर्चा करेंगे जो विशुद्धरूप से भारतीय थे और मुसलमानों ने अपना लिए थे। उनके अरबी या फारसी नाम रखकर या कुछ मामूली हेर-फेर करके उन्हें इस्लामी बनाने की कोशिश की थी।

पतंगबाज़ी

मूल रूप से पतंग शब्द संस्कृत भाषा का है। उड़ाने के अर्थ में इसका प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए पतंग के विभिन्न अर्थ ये हैं:-सूर्य, टिड्डी, नौका, चिंगारी, अंगारा, भुनगा, एक प्रकार का धान, एक प्रकार का चंदन, गेंद, जैनियों के एक देवता का नाम। पतंग बड़े वृक्ष को भी कहते हैं, जो मध्य प्रदेश और कर्नाटक में बहुत पाया जाता है। इसके अलावा हवा में उड़ाने वाले मशहूर खिलौनों को भी पतंग कहते हैं, जो डोर के सहारे आसमान में उड़ाए जाते हैं। जिसको आम भाषा में गुड्डी या कनकौवा

कहते हैं। इस शब्द से कई मुहावरे भी बन गए हैं जैसे पतंग काटना और पतंग बढ़ाना आदि।

पतंगबाज़ी विशुद्ध भारतीय खेल है लेकिन यह बात विश्वास के साथ कही नहीं जा सकी कि भारत में यह खेल कब शुरू हुआ और क्यों हुआ? लेकिन अनुमान होता है कि भारत में मुसलमानों के आगमन से पहले यह खेल यहां विद्यमान था।

भारत में मुसलमानों की हुकूमत के आरंभिक ज़माने में मुसलमानों में पतंगबाज़ी के चलन की मिसालें नहीं मिलती हैं क्योंकि इस युग के इतिहासकारों ने मुसलमानों के सामाजिक जीवन पर बहुत कम प्रकाश डाला है। उन्होंनें अमीरों की जीवन-गाथाओं और उनके युद्धों के वर्णन में अपनी तमाम लेखकीय ऊर्जा व्यय कर दी है। इनके सोच में आम जनता के जीवन के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी लेकिन मुगल काल और अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहासकारों ने मुसलमानों के सामाजिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डाला। और उस युग के फारसी व उर्दू साहित्य में सामाजिक जीवन का भरपूर चित्रण है। कहने का अभिप्राय यह है कि मुगल काल में मुसलमानों में पतंगबाज़ी का आम रिवाज़ पाया जाने लगा। इस युग की आम जनता को राजनीतिक परिवर्तनों में कोई रूचि नहीं रही थी और यदि किसी शहर में बाह्य आक्रमण का खतरा होता तो इसका असर सिर्फ कुछ दिनों तक रहता था। इसके बाद वे अपनी सामाजिक गतिविधियों और मनोरंजन की क्रियाओं में मग्न हो जाते थे। आनन्द राम 'मुख्लिस' ने 'कागज़-ए-शब' शीर्षक से दिल्ली में पतंगबाज़ी के चलन पर प्रकाश डाला है।

दिल्ली में अब भी पतंगबाजी का आम रिवाज है। पतंगबाजी के मुकाबले भी होते हैं। आमतौर पर ये मुकाबले लाल क़िले के सामने के मैदान में होते हैं। लोग पेच लड़ाने में तरह-तरह की युक्तियों का प्रयोग करते हैं। अठारहवीं शताब्दी में रात के समय डोर में बारूद बांधकर आतिशबाज़ी का समां पैदा करते थे।

दिल्ली में ही नहीं बल्कि सारे उत्तर भारत में पतंगबाजी में बड़ी दिलचस्पी थी। लखनऊ में पतंगबाजी के बारे में मिसेज़ मीर हसल अली का कथन बहुत ही रोचक है। इस कथन से ज्ञात होता है कि हर आयु वर्ग के लोग इस खेल में दिलचस्पी रखते थे। वे लिखती हैं:-

''यहां के बाशिंदों में हर उम्र के लोग पतंगबाजी का शगल करते हैं। मैंने बूढ़े लोगों को भी इस प्रकार मनोरंजन में लीन होते देखा है जो खेल सिर्फ बच्चों को ही अच्छा लगता है। और उन बुजुर्ग लोगों को इस बात का ज़रा भी अहसास नहीं होता था कि वे अपना कीमती वक्त इस तरह जाया कर रहे हैं। मकानों की छतों से पतंग को हवा में उड़ाया जाता था। जहां लोग आमतौर पर सूरज डूबने तक बैठे रहते थे। पतंग

लड़ाने का तरीका यह था कि एक आदमी अपने साथी से मांझे की डोर से पतंग लड़ाता था। मांझा इस तरह बनाया जाता था कि कांच को बारीक पीसकर, लेई में मिलकार डोर सूंतते थे। हवा के जोर से पतंगे आसमान में एक दूसरे के पास लाई जाती थीं और ऊपर वाली डोर की रगड़ से जब नीचे वाली डोर कट जाती थी तो पतंग कट जाती थी। लड़के और गलियों में खड़े हुए तमाशबीन इस दृश्य का आनन्द उडाते थे। वे लोग शोर गुल करते हुए इस कटी पतंग को लूटने वालों की आपाधापी, आपसी होड़ और हर एक की उस पर काबिज होने की कोशिश के कारण किसी-किसी बार पतंग के पुर्जे-पुर्जे हो जाते ते। अपनी डोर को ऊपर रखने की कोशिश में हर एक गिरोह बड़ी कुशलता का प्रदर्शन करते थे। और इस प्रकार वे अपने प्रतिद्वंद्वी की पतंग काटने में सफल हो जाते थे।''

वास्तव में पतंगबाज़ी का शौक दिल्ली से लखनऊ पहुंचा था और दिल्ली में उजड़ने के बाद पतंगबाजी के शौकीन भी वहां पहुंच गए थे।

पतंगबाजी के नामी-गिरामी उस्ताद लखनऊ में मीर उम्दा, ख्वाजा मिट्ठन और शेख इम्दाद थे। एक जुलाहे ने भी इस फन में कमाल हासिल कर लिया था जिसकी वजह से उसे अमीरों की सोहबत हासिल हो गई थी।

आगरे में पतंगबाजी आम थी। नज़ीर अकबराबादी ने इस शहर की पतंगबाजी का बहुत ही आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया था। आगरे में पतंगबाजी के मेले को 'निर्जला' कहते थे। इस मेले में हर वर्ग जाति और व्यवसाय के लोग शरीक होते थे-

> यां जिन दिनों में होता है आना पतंग का
> ठहरे हैं हर दुकां में बनाना पतंग का
> होता है कसरतों से मंगाना पतंग का
> करता है शाद दिल को उड़ाना पतंग का।
> क्या-क्या कहूं मैं शोर मचाना पतंग का।

इस लम्बी कविता में पतंगबाजी की बहुत सी बारीकियों का वर्णन किया गया है।

आम जनता में ही नहीं बल्कि विशेष वर्ग के लोगों और अमीरों में भी पतंगबाजी का शौक पाया जाता था। इसका कारण यह था कि अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के अमीरों को जंग से कोई सरोकार न रहा था और जंग की बात को सुनना भी गवारा न करते थे। 'सौदा' का बयान है-

> जो कोई मिलने को उनके, उन्हों के घर आया
> मिले ये उससे, गर अपना दिमाग खुश पाया
> जो जिक्र सल्तनत उसमें वो दरम्यां लाया
> उन्होंने फेर के उधर से मुंह यह फरमाया
> खुदा के वास्ते बाबा, कुछ और बातें बोल।

और उनका जीवन भोग विलास तक ही सीमित होकर रह गया था। जैसा कि 'मुरक्का देहली' के अध्ययन से पता चलता है। बंगाल और अवध के नवाब भी पतंगबाज़ी से दिलचस्पी रखते थे। नवाब आसफ़ुद्दौला को दूसरे खेल तमाशों के अलावा पतंगबाज़ी का भी चस्का था।

भगतबाज़ी

'भगत' राजस्थान की एक जाति की उपाधि थी। इस जाति की लड़कियां नाचने-गाने का काम किया करती थीं। इसके अलावा होली के अवसर पर स्वांग रचाने वाले विदूषक को भी 'भगत' कहते थे। इस जाति के लोग स्वयं को वैष्णव बताते थे और बाद में गाने-बजाने का धंधा करने लगे। मुस्लिम शासन काल में इनके 'भगतबाज़' कहने लगे। यह एक पेशावर कबीला था जो नाटक करके या स्वांग रचाकर अपनी आजीविका चलाता था। हिन्दुओं में प्राचीन काल से 'रामायण' और 'महाभारत' आदि की कथाओं का मंचन करने की परंपरा रही थी। इसके पीछे केवल धार्मिक आस्थाएं थीं लेकिन मुसलमानों ने इस कला को अपनाकर इसे आजीविका का एक साधन बना लिया। क्योंकि आम लोग न सिर्फ धार्मिक भावनाओं से बल्कि मनोरंजन के लिए भी इन नाटकों में शामिल होते थे। हिंदू और मुसलमान बिना किसी भेद-भाव के स्वांग रचाते थे। जब 'महाभारत' के किसी दृश्य को प्रस्तुत किया जाता तो एक पुरुष कृष्ण का वेश धारण कर लेता और दूसरे लोग स्त्रियों के कपड़े पहनकर गोपियां बन जाते और नाटक के बीच में कबीरदास के दोहे गाये जाते थे।

दिल्ली में भगतबाज़ों का एक कबीला रहता था। तक़ी नामक व्यक्ति इस कबीले का सरदार था और अपनी कला में प्रवीण था। वह मुहम्मदशाह बादशाह का प्रिय पात्र था और मुगल दरबार से जुड़ा था। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित अमीर उसे बड़े सम्मान के साथ अपने घर आमन्त्रित करते थे और दो-चार घंटे उसके साथ बैठकर बहलाने के लिए लालायित रहते थे। दिल्ली के भगतबाज़ों की सारे भारत में तूती बोलती थी। क़ासिम ने उनकी प्रशंसा में यह शेर कहा था-

अंदाज़े भगत बाज़ान-ए-देहली
भगत का सांग लाया कोहकन[2] भी।

लखनऊ में भगतबाजी उन्नति के शिखर पर पहुंच गई थी। वाजिद अली शाह को 'रास' से बड़ा लगाव था। अतएव 'रास' की कथा के आधार पर उन्होंने अपना नाटक तैयार किया था। इसमें वे स्वयं कृष्ण कन्हैया बनते थे और बहुत सी रूपवती सुंदरियां गोपियां बनकर उन्हें ढूंढती फिरती थी। इसके अलावा जब कैंसर बाग का दरवाजा आम जनता के लिए खोल दिया गया तो शहर में रंगमंच की कला अपने आप

विकसित होने लगी। यहां अमानत लखनवी ने 'इन्दरसभा' लिखी जिसे स्टेज भी किया गया। उर्दू साहित्य में अपने प्रकार का यह पहला ड्रामा है।

शबबाज़ी और कठपुलियों का तमाशा

'कठ' एक संस्कृत शब्द है। इसका प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। जैसें एक ऋषि का नाम, एक प्राचीन वाद्य यंत्र, कहीं-कहीं काठ (काष्ट) लकड़ी का बनी हुई वस्तुओं के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है जैसे कठपुतली। पुतली शब्द हिंदी का है और अपने अनेक अर्थों के अलावा गुड़िया के अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार कठ और पुतली मिलाकर एक शब्द बना कठपुतली। इसका अर्थ है काठ की गुड़िया या पुतली जो धागे के सहयोग से नाचती है। मुसलमानों ने इस खेल का नाम शबबाज़ी रखा क्योंकि तमाशा आमतौर पर रात को होता है। ताकि दर्शकों को धागा नज़र न आए। मुगलकाल में शबबाज़ी मनोरंजन का एक महत्वपूर्ण साधन था।

मेले-ठेलों के अलावा लोग शबबाज़ी को अपने घर पर आमन्त्रित करके कठपुतली का तमाशा देखते और कलाकारों को पुरस्कार आदि देते थे। इटावा में मुसलमानों का एक कबीला था जो शबबाज़ी की कला में अच्छी पहुंच रखता था। अपने बनगढ़ के सफर के दौरान जब मुहम्मद शाह इटावा से गुजरा तो वहां के कलाकारों को बादशाह की खिदमत में पेश किया गया जिन्होंने अपने करतबों से बादशाह को गदगद कर दिया। बादशाह ने खुश होकर उन्हें पांच रुपये बतौर इनाम दिए।

नट

हिंदुओं की चार बड़ी जातियों के अलावा अलबरूनी ने दूसरे आठ धंधेगीरों का भी उल्लेख किया है। इनमें से एक नटों का समुदाय था। इनकी कला का जिक्र करते हुए उसने लिखा है-

''कभी खेल-तमाशों में खड़ी हुई लकड़ी और तनी हुई डोरियों पर फुर्ती दिखाने से भी इन लोगों की कला को जादूगरी समझ लिया जाता है।'' नट शब्द संस्कृत का है। इसका अर्थ होता है नाटक का अभिनेता या नाटक करने वाला। मनूची के अनुसार ये लोग क्षत्रियों की उपशाखा से संबंधित थे। अपने व्यवसाय की दृष्टि से ये लोग गा-बजाकर और खेल-तमाशे करके भरण पोषण करते थे। रस्सियों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की कलाओं का प्रदर्शन करते और रस्सियों पर कई तरह से चलते थे। अबुल फजल ने लिखा कि ये लोग तनी रस्सी पर खेल करते थे और विचित्र प्रकार के काम करते थे। खेल के साथ-लाथ मंजीरे और ढोल भी बजाते थे। इनकी स्त्रियां 'नटनी' कहलाती थीं।

और जब उनके पुरुष अपनी कला का प्रदर्शन करते थे तो स्त्रियां गाना गातीं और ढोलक बजाती थीं।

मुगल दरबार से भी नटों का एक समूह जुड़ा होता था। इनके अलावा दूसरे क्षेत्रों से भी आकर नट अपने करतब दिखाते थे बंगाल के नट इस फन में अपनी बड़ी महारत रखते थे।

अठारहवीं शताब्दी में मुसलमानों में नटों का फिरका मौजूद था। और इस फन में अच्छी खासी महारत रखता था। इस फन में दिलचस्पी इस हद तक बढ़ गई थी कि मुसलमान औरतें भी इस फन को सीखने लगी थीं। अपने करतबों से लोगों का मन बहलाती थीं। शहनाबाई का नटों के गिरोह से संबंध था। वह अपनी कला में बहुत दक्ष थी। कहा जाता है कि एक अवसर पर वह अपने साथियों के साथ शाह सादिक और शाह बेरियां की खालकाह में गई जो मारहरा के पास स्थित थी। उसने अपने होठों पर बांसुरी रखकर एक ऐसा राग अलापा कि उसको सुनकर शाह सादि समाधिस्थ और अचेत हो गए। बहुत देर बाद उनकी चेतना लौटी।

बहुरूपी या बहुरूपिया

बहुरूपिया शब्द हिंदी का है और यह दो शब्दों से मिलकर बना है। बहु अर्थात बहुत तथा रूप अर्थात शक्ल। दोनों को मिलकार समस्त पद हुआ बहुरूपिया अर्थात बहुत से रूप धारण करने वाला व्यक्ति। यह हिंदुओं का एक समुदाय था। इस समुदाय के लोग रोजाना बहुरूप धारण करते थे। एक नौजवान आदमी एक बूढ़े का रूप धारण करता था। अबुल फजल के अनुसार बड़े-बड़े बुद्धिमानों और चतुर लोगों को बहुरूपिये धोखे में डाल देते थे। मिर्ज़ा क़तील ने इस समुदाय का सविस्तार वर्णन किया है और उनसे संबंधित अनेक घटनाओं का जिक्र किया है। यहां सिर्फ एक घटना दी जा रही है। ये लोग अपनी इच्छानुसार हर रूप में प्रकट हो जाते थे। यहां तक कि वे पशुओं का रूप भी धारण करते थे। और तमाशाबीनों में से कोई भी उन्हें पहचान नहीं पाता था। इसी प्रकार चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, चाहे बूढ़ा हो चाहे बच्चा, चाहे सुन्दर हो चाहे बदसूरत। अक्सर ऐसा भी देखा गया था कि इस समुदाय का कोई भी आदमी किसी का रूप धारण करके आ जाता था और रात भर उसकी पत्नी के साथ सहवास करता था।

मुहम्मद शाह युग में एक हकीम था, उसे हकीम-उल-मुल्क का खिताब मिला हुआ था। उसके जमाने में इनायत नामक एक मशहूर बहुरूपिया था। एक दिन उसने हकीम-उल-मुल्क का हुलिया अख्तियार कर लिया और बादशाह की खिदमत में हाजिर हुआ। और अपने चेहरे पर दुख के भाव ले आया। बादशाह ने उसके कष्ट का

कारण पूछा। उस बुरूपिये ने अर्ज किया कि मैं पचास साल से आपकी और आपके बुजुर्गों की खिदमत करता चला आ रहा हूं और इस जमाने में बड़ी इज्जत की जिन्दगी बसर करता रहा हूं लेकिन अब ऐसी सूरत पैदा हो गई है कि इनायत नाम का बहुरूपिया मेरा हुलिया अख्तियार करके आपकी खिदमत में हाजिर होने का इरादा करता है। हुजूर से इस करम की उम्मीद करता हूं कि मुझे *अतबात ऐमा अलेहम अस्सलाम*[3] *की* जियारत के लिए रूखसत कर दें ताकि आखिरी उम्र में बाइज्जत इस दुनियां से रूख्सत हो जाऊं। यह सुनकर बादशाह को बड़ा रोष आया। उन्होंने हकीम उल मुल्क को सांत्वना देकर शांत किया और अपने नौकरों को हुक्म दिया कि जब इनायत बहुरूपिया हकीम उल मुल्क के वेश में दरबार में हाजिर होने की कोशिश करे तो बिना सोचे समझे उसकी खूब मरम्मत करें और महल से बाहर निकाल दें। बहरहाल हाजियों और दूसरे खिदमतगारों को शाही हुक्म मिलने के बाद हकीम-उल-मुल्क खुद अमीरों के दस्तूर के मुताबिक जब दरबार में हाजिर हुआ तो यारों ने चारों तरफ से उसे घेर लिया और खूब मारपीट की और उसे दरबार से बाहर निकाल दिया। उनके ख्याल में यह हकीम-उल-मुल्क बहुरूपिया था। बेचारा हकीम-उल-मुल्क अपमानित होकर घर वापस आया और उसने एक अर्ज़ी भेजकर कबीला-ए-मुअल्ला और नजफ़ अशरफ जाने की इजाजत चाही। इस अर्ज़ी को पढ़कर बादशाह हैरत में पड़ गया और तफतीश करने पर जब यह मालूम हुआ कि इससे पहले बादशाह की खिदमत में हाजिर होने वाला हकीम उल मुल्क खुद बहुरूपिया था। और दूसरा हकीम-उल-मुल्क जिसे इनायत समझकर मारा गया था वह असली हकीम-उल-मुल्क था तो बादशाह बहुत लज्जित हुआ और माफी मांगी। हकीम-उल-मुल्क को उचित पुरस्कार दिए गए और इनायत बहुरूपिये को जागीर अदा की गई।

बाज़ीगरी

प्राचीन काल से भारत में बाज़ीगरी की कला प्रचलित रही है। इस देश में भिन्न-भिन्न प्रकार के बाज़ीगर-जादूगर स्वांग रचाने वाले नट, भानमती, नाचने और कला बाज़ आदि पाए जाते थे। दिल्ली के सल्तनकाल में मदारियों का उल्लेख मिलता है। बाबर बादशाह ने भारत के मदारियों की बड़ी प्रशंसा की है क्योंकि इस देश के मदारियों ने कुछ ऐसे करतब दिखाए जो उसके देश के मदारियों के पास नहीं थे। हवा में गेंद फेंककर, तलवार निगलकर, अपने नथुनों में चाकू घुसेड़कर वे लोग अपने करतब दिखाते थे। कई कलाबाजों का जिक्र भी मिलता है जो रस्सी पर अपने करतब दिखाते थे। मदारियों के करतब के साथ-साथ नाच-गाने भी चलते रहे थे।

बाज़ीगरों के समूचे देश के कोने-कोने में फैले हुए थे। वे शहरों और कस्बों के

निवासियों का मनोरंजन किया करते थे। आगरे की गलियों और खुले मैदानों में बाजीगर अपना मजमा करते थे। डा. फ्रेयर ने अपनी यात्रा के दौरान जगह-जगह बाजीगरों की टोलियां देखीं जिनके साथ जोगियों का एक गिरोह भी होता था। बर्नियर के अनुसार इस तरह के तमाम बाजीगर और शौबदेबज़ दिल्ली के शाही महल सराय के पास बड़ी तादाद में जमा होते थे और करतब दिखाते थे।

कुछ विदेशी यात्रियों ने इन बाज़ीगरों की असाधारण कलाओं का उल्लेख किया है। कुछ ऐसे कलाकार भी थे जो सधाए हुए जानवरों की मदद से बाज़ीगरी के करिश्में दिखाते थे। मुसलमानों के भारत में आने के बाद इस फिरके के लोगों के लिए फ़ारसी शब्द बाज़ीगर का प्रयोग किया जाने लगा।

बाज़ीगरों का इतिहास अभी तक अंधेरे में हैं। भिन्न क्षेत्रों के बाज़ीगर अपने वंश और मूल की कथाएं सुनाते थे। अमृतसर के बाजीगरों का कहना है कि वे लोग वास्तव में मेवाड़ के ब्राह्मण थे और उनका काम चिता के लिए लकड़ियां उपलब्ध कराना था।

इस समुदाय के लोगों ने कब इस्लाम स्वीकार किया इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता लेकिन इतना निश्चित है कि उत्तर भारत में मुसलमान बाजीगर भी पाए जाते थे। अपनी प्राचीन प्रथा के अनुसार उत्तर भारत के बाजीगर मुसलमान जातियों में बंटे हुए थे। बंगाल के मुसलमान बाजीगर सात शाखाओं में बंटे हुए थे-चारी, पर्वती, कालकोर, दवारकनी, गनगौरा और अबथीबंसा। लेकिन इनमें नाम मात्र का अंतर था क्योंकि वे लोग साथ-साथ रहते थे और एक ही कबीले के सदस्य होने के नाते आपस में शादी-ब्याह करते थे। उनका कहना था कि वे लोग एक ही परिवार के लोग एक ही परिवार के चार भाइयों की संतान थे।

वे अपने आप को मुसलमान सिर्फ इस वजह से कहते थे कि उनके यहां खत्ना की रस्म होती थी। उनकी शादी और मौत की रस्में काजी और मुल्ला अदा करते थे, बस इस्लाम से उनका कोई सरोकार नहीं था। उनके शेष रीति-रिवाज़ हिंदुओं की तरह थे। अपने पेशे में कामयाबी के लिए तानसेन (अकबरी युग का एक प्रसिद्ध गायक) से प्रार्थना करते थे। क्योंकि तानसेन को वे लोग अपना गुरु, मार्गदर्शक, खुदा या देवता समझते थे।

अबुल फ़ज़ल का कहना है कि वे लोग अपने हाथ की सफाई से अजीबोगरीब काम दिखाते थे और अपनी मंत्र शक्ति से दर्शकों की नजर बांध देते थे। देखने में ऐसा लगता है कि खेल करने वाले के टुकड़े-टुकड़े हो गए हैं इसके बाद फिर वह असल हालत में आ जाता था और कभी एक बड़ा पत्थर उसके कंधे पर रखा हुआ दिखाई देता है। जहांगीर बादशाह को बाज़ीगरों का तमाशा देखने का बड़ा शौक था। दूर-दूर से बाजीगर दरबार में हाजिर होते और अपने करतब दिखाते थे। सुजान राय भंडारी और

दूसरे इतिहासकारों ने जहांगीर के दरबार की एक घटना का वर्णन किया है। हुआ यह कि बंगाल का एक बाजीगर एक बंदर लेकर दरबार में हाजिर हुआ। उस बंदर ने बादशाह के सामने आश्चर्यजनक दांवपेच दिखाएं। इसके बाद बादशाह ने अपनी अंगूठी उतारी और एक लड़के को दे दी ताकि वह उसे छुपा ले। उस बंदर ने फौरन उस लड़के को पकड़ लिया जिसके पास वह अंगूठी थी। जादूगरनियां जो भानमती कहलाती थी, जादू के करिश्मे दिखाया करती थीं। आनन्द राम मुख्लिस ने लिखा है कि बनगढ़ से वापसी के समय एक मुकाम पर उसने भानमती के जादू का चमत्कार देखा था।

शतरंज

यह फारसी शब्द है। शतरंज एक मशहूर खेल है जो चौसठ खानें की बिसात पर बत्तीस गोटियों से खेला जाता है। संस्कृत भाषा में इस खेल का नाम चतुरंग था। बदलते-बदलते यह फारसी का शतरंज हो गया। 'बहार-ए-अज्म' में इसके लिए तरंग शब्द मिलता है जिसका अर्थ आदमी की सूरत। क्योंकि इस खेल के मोहरों के नाम आदमियों के नाम पर होते हैं इसके लिए बोलचाल में इस खेल को सतरंग कहते हैं। 'बहार-ए-अज्म' में लिखा है कि यह एक हिंदी शब्द है-चतुर अंग। चतुर अर्थात चार अंग अर्थात शरीर के भाग। अतएव चतुरंग उस सैनिक दस्ते को कहते हैं जो चार भागों में विभक्त हो क्योंकि इस खेल में चार विभाग होते हैं। बादशाह और वजीर के अलावा ये चार विभाग हैं--हाथी, घोड़ा, ऊंट और प्यादा।

चतुरंग भारत का आविष्कार है और हमेशा से यहां के निवासी का एक प्रमुख खेल रहा है। अल बेरूनी ने लिखा है-

''वे लोग चार आदमी, एक वक्त में एक पांसे के जोड़े से खेलते हैं।''

दिल्ली सल्तनत के युग में यह खेल हर वर्ग के मुसलमानों में खेला जाता था। मुगल काल में बादशाह अमीर और आम जनता बिना भेद भाव के इस खेल का आनन्द उठाते थे। अकबर बादशाह के बारे में लिखा है कि उसने फतेहपुर सीकरी में फर्श पर शतरंज की बिसात बनवाई थी और मोहरों की जगह पर गुलाम लड़कियों को खड़ा करके यह खेल खेला करता था। विशेष रूप से अमीर इस खेल में गहरी दिलचस्पी लेते थे।

अकबर बादशाह को चौपड़ और शतरंज दोनों में विशेष दक्षता प्राप्त थी। मुगल शंहशाहों ने शतरंज की व्यवस्था के लिए एक अलग विभाग बना दिया था। शाह आलम सानी इस खेल का बड़ा शौकीन था और अपने हरम की औरतों के साथ शतरंज खेला करता था। अठारहवीं शताब्दी के कई मुस्लिम सूफी शतरंजबाजी की

कला में बड़े दक्ष थे। उन्होंने बड़ी शौहरत हासिल कर ली थी। शाह कलीम उल्लाह जहांबादी के मुरीद और खलीफा शाह निजामुद्दीन औरंगाबादी शतरंजबाजी के माहिरों में से थे। दूर-दूर से शतरंजबाज उनसे मुकाबले के लिए आते थे। ख़्वाजा कामगार का कथन है-

''शतरंज खेलने के मंसूबे में इस किस्म की महारत हासिल थी...अक्सर शतरंजबाजों के साथ बाजी बद कर खेलते थे। और चार व पांच दिनों तक मुसलसल बाजी चलती रहती थी। आखिकार प्रतिद्वंद्वी को मात दे देते थे। अतएव यह बात तमाम सूबे में फैल गई। हर तरफ से शतरंजबाज़ उनसे बाजी खेलने के लिए हाज़िर होने लगे।''

मौलाना फ़ज़ल हक खैराबादी को शतरंज से बड़ा लगाव था। हकीम मोमिन खां 'मोमिन' के साथ अक्सर उनकी बाज़ियां हुआ करती थीं। इस युग के शायरों ने शतरंज पर बहुत से शेर कहे हैं।

चौपड़, चौसरबाज़ी या पचीसी

चौपड़, चौसरबाज़ी या पचीसी एक प्राचीन भारतीय खेल था। इस बात पर विद्वानों की सहमति पाई जाती है। अबुल फ़ज़ल भी इस बात की पुष्टि करता है। वह लिखता है --

''भारतवासी प्राचीन समय से इस खेल के प्रशंसक और प्रेमी रहे हैं।''

'आईन-ए-अकबरी' में इस खेल के ब्यौरे मिलते हैं। चौसर में सोलह मोहरे होते थे। उन मोहरों का आकार-प्रकार एक जैसा होता था। हर चार मोहरे एक ही रंग के होते थे। सभी मोहरे एक ही तरफ की चालें चलते थे।

चौसर पांसों से खेली जाती थी। पांसे तीन होते थे और उनके छह पहलू होते थे। पांसों के चार अलग-अलग पहलुओं पर एक, दो, पांच और छह बिन्दुओं के चिन्ह होते थे। बिसात का आकार 'धन' के चिन्ह की तरह होता था। बिसात चारों ओर से बराबर होती थी। हर पट्टी में तीन कतारें और हर कतार में आठ खाने होते थे। बीच में एक चौकोर खाली जगह छोड़ दी जाती थी।

जहांगीर बादशाह के युग में अमीर खालखाना शतरंज का माहिर खिलाड़ी था। सत्रहवीं शताब्दी में चौसर दरबार में खासतौर पर खेली जाती थी। औरंगजेब की बड़ी बेटी ज़ैबुन्निसा को इस खेल से बड़ी दिलचस्पी थी और वह अपना अधिकांश समय अपनी सहेलियों के साथ चौसर खेलने में व्यतीत करती थी।

अठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी के मुसलमानों में यह खेल आनन्द के साथ समय बिताने का अच्छा साधन समझा जाता था। बादशाह और उनके मुहम्मद

शाह बादशाह इशा' की नमाज़ के बाद रोजाना चौपड़ खेला करता था। अक्सर उसके साथ चार खिलाड़ी होते थे और दो-दो आदमियों के जोड़े होते थे।

चंदल मंदल

अकबर बादशाह ने चौपड़ में गोटियों के स्थान पर मनुष्यों का प्रयोग करके इसका चंदल मंदल रखा। बकौल अबुल फ़ज़ल, अकबर ने स्वयं इस खेल का आविष्कार किया था। वस्तुतः यह खेल भी चौपड़ की तरह का एक खेल था लेकिन अकबर ने इसमें कुछ संशोधन कर दिया था। इसकी बिसात चौकोर की बजाए गोल होती थी जिसमें बराबर की सोलह पट्टियों में तीन कतारें और हर कतार में आठ खाने और चौसठ मोहरे इस्तेमाल किए जाते थे। चार पांसे होते थे जिनके चार लम्बे पहलुओं पर अलग-अलग एक, दो, दस और बारह बिन्दुओं के चिन्ह होते थे। सोलह आदमी इस खेल को खेलते थे और हर आदमी के पास चार मोहरे होते थे। मोहरे बीच में जमाए जाते थे। और चौसर की तरह चंदल में भी दाई ओर से चाल शुरू करते थे। हर मोहरे को पूरी बिसात तय करनी पड़ती थी। पंद्रह लोगों से शर्त की रकम वसूल करता वह खिलाड़ी जिसके मोहरे सबसे पहले बिसात तय कर लेते थे, और दूसरा खिलाड़ी जो खेल से फारिग हो जाता, चौदह लोगों से बाजी जीत लेता। सारांश यह है कि पहले खिलाड़ी को लाभ ही लाभ होता था और अंतिम खिलाड़ी को सबसे अधिक हानि होती थी। दूसरे खिलाड़ी हानि लाभ दोनों उठाते थे।

अकबर बादशाह यह खेल विभिन्न तरीकों से खेला करता था। एक तरीका यह था कि इसमें मोहरे इस तरह चले जाते थे जिस तरह कि अक्सर शतरंज में चले जाते हैं।

चंदल मंदल में पंद्रह या इससे भी कम लोग एक साथ शरीक हो सकते थे। जितने खिलाड़ी कम होते थे उसी अनुसार मोहरे भी कम कर दी जाती थी और इसी आधार पर पांसों की संख्या भी कम या अधिक कर जाती थी।

गंजफ़ा

मुगलों के भारत आगमन से पहले यहां ताश खेलने का आम रिवाज़ चला आ रहा था। डा. कमर मुहम्मद अशरफ़ की यह राय तर्कसम्मत नहीं लगती कि बाबर बादशाह ने भारत में इस खेल की शुरूआत की थी। कारण यह है कि उनकी यह राय अंत और बाह्य साक्ष्यों के विपरीत है। अकबर के युग तक बारह पत्तों के नाम फारसी भाषा के बजाय संस्कृत भाषा में थे। इस बादशाह ने इन नामों में तबदीलियां कीं और विशेष रूप से पांचवें पत्ते 'धनपत' को नया रूप दिया। इस खेल का विस्तृत ब्यौरों से पता चलता है कि यह एक विशुद्ध भारतीय खेल था। अबुल फ़ज़ल का कथन है कि पुराने

उस्तादों ने बारह के अदद को इस खेल का आधार बनाया था और हर रंग में बारह पत्ते निश्चित किए थे। लेकिन इन बुद्धिमान लोगों ने यह बात भुला दी कि बारह बादशाहों को अलग-अलग तरह के बारह फर्माखां (संदेशवाहक) जरूरी थे। अकबर बादशाह निम्नलिखित पत्तों से गंजफ़ा खेला करता था–

अश्वपति (घोड़ों का बादशाह)-इस रंग के सबसे बड़े पत्ते पर बादशाह की तस्वीर होती थी जो घोड़े पर सवार होता था। यह बादशाह दिल्ली के फ़र्माखां की तरह ताजोतख्त, झंडों, पताकाओं और नगाड़ों से सुसज्जित होता था। इसी रंग के दूसरे बड़े पत्ते पर वज़ीर घोड़े पर सवार होता था। इन दोनों पत्तों के बाद दूसरे दस पत्ते होते थे जिन पर एक से लेकर दस घोड़ों की तस्वीर बनी होती थी।

गजपति:- वह बादशाह जिसके पास बड़ी संख्या में हाथी हों जैसे शाह-ए-उड़ीसा। दूसरे ग्यारह पत्ते वजीर के रंग की तरह होते थे और उन पर दस हाथियों तक के चिन्ह होते थे।

नरपति:- वह बादशाह जिसके पास पदाती सेना (प्यादे) बहुत अधिक संख्या में होते थे जैसे शाह बीजापुर। सबसे बड़े पत्ते पर बादशाह की तस्वीर होती थी जो बड़ी शानो-शौकत के साथ तख्त पर बैठा होता था शेष दस पत्तों पर एक से लेकर दस प्यादों तक की तस्वीरे बनी रहती थीं।

गढ़पति:-इस पत्ते पर बादशाह किले के ऊपर तख्तनशीन था। दूसरे पत्ते पर वजीर संदली पर किले में बैठा हुआ था और शेष दस पत्तों पर एक से लेकर दस तक किलों की तस्वीरें बनी होती थीं।

धनपति:-अर्थात खजाने का बादशाह। इस रंग के सबसे बड़े पत्ते पर बादशाह तख्त पर बैठा हुआ था और उसके सामने चांदी और सोने के अंबार लगे हुए थे। दूसरे पत्ते पर वजीर चौकी पर इस तरह बैठा हुआ था जैसे कि खज़ाने का जायज़ा ले रहा हो। शेष दस पत्तों पर सोने और चांदी के ज़रूफ़ की एक से लेकर दस तक तस्वीरें बनाई गई थीं।

दलपति:-जंग का बादशाह। सबसे बड़े पत्ते पर सभी हथियारों से सुसज्जित बादशाह तख्त पर बैठा था और उसके आसपास सिपाही युद्ध की वेशभूषा पहने खड़े थे। दूसरे पत्ते पर वज़ीर कवच पहने हुए चौकी पर बैठा था। शेष दस पत्तों पर एक से लेकर दस तक सिपाहियों की तस्वीरें बनी थीं जो युद्ध की वेशभूषा में थे।

नाव पति:-जंगी बेड़ों का बादशाह, सबसे बड़े पत्ते पर बादशाह जहाज के अंदर तख्त पर बैठा था। दूसरे पत्ते पर वजीर जहाज के अंदर संदली पर बैठा था। दूसरे शेष पत्तों पर एक लेकर दस तक कश्तियों की तस्वीरें बनी हुई थीं।

ती पति:-'ती' अर्थात तिय या स्त्री। सबसे बड़े पत्ते पर मल्लिका तख्त पर बैठी

हुई थी। और उसकी सहेलियां चारों तरफ खड़ी हुई थीं। दूसरे पत्ते पर एक औरत बतौर वजीर चौकी पर बैठी हुई थी। और शेष दस पत्तों पर एक से लेकर दस तक औरतों की तस्वीरें बनी हुई थी।

सुरपति:-सबसे बड़े पत्ते पर देवताओं के राजा इन्द्र सिंहासन पर बैठे थे। दूसरे पत्ते पर वजीर चौकी पर बैठा हुआ था। शेष दस पत्तों पर एक से लेकर दस तक देवताओं की तस्वीरें बनी हुई थीं।

असुरपति:-अर्थात जिनों का बादशाह। सबसे बड़े पत्ते पर हजरत सुलेमान अलेह अस्सलाम के समान एक बादशाह तख्त पर विराजमान था। दूसरे पत्ते पर वजीर चौकी पर बैठा हुआ था। शेष दस पत्तों पर एक से दस तक जिनों की तस्वीरें बनी हुई थीं।

अहि पति:-अर्थात सांपों का बादशाह। सबसे बड़े पत्ते पर बादशाह अजगर पर सवार होता था। दूसरे पत्ते पर वजीर उसी तरह के दूसरे सांप पर सवार था। शेष दस पत्तों पर एक से लेकर दस तक सांपों की तस्वीरें बनी हुई थीं।

पहले छह रंग 'बेशबर' और दूसरे छह रंग 'कमबर' कहलाते थे। अकबर बादशाह ने गंजफे में निम्नलिखित परिवर्तन किए।

सुर्ख रंग के बादशाह की तस्वीर इस तरह बनाई गई थी कि जैसे तख्त पर बैठा हुआ धन बिखेर रहा है। दूसरे पत्ते पर वजीर चौकी पर बैठा हुआ था और खजाने का जायज़ा ले रहा था और दूसरे दस पत्तों पर संपत्ति से जुड़े विभिन्न लोगों की तस्वीरें बनाई गई थीं। जैसे सुनार, गुदाज़गर[5] मतलसाज़[6] वज़्ज़ान[7], नेकची, मुहरबुन[8] तबकची, मन, खरीदार, फरोशंदा[9] और क़र्ज़गीर।

बादशाह की तस्वीर ऐसी थी कि तख्त पर विराजमान था। साथ-साथ फ़र्मानों, सनदों और काग़ज़ात की गौर से देख रहा था। वज़ीर चौकी पर बैठा हुआ था। दफतर का काम कर रहा था। शेष दस पत्तों पर अमले की तस्वीरें थीं, जैसे मुहरकश मिस्तरकश, नवेंदा-ए-दफ्तर, मुसव्विर, नक़्क़ाश, जदूलकश, फ़र्मानवीस, मुजल्लिद और रंगरेज़।

बादशाहों के नाम इस तरह थे-बादशाहे क़माश, बादशाहे जंग, बादशाहे ज़रसफेद, बादशाहे शमशीर, बादशाहे ताज और बादशाहे ग़लामान।

अकबर बादशाह गंज़फा और शतरंज के नए पुराने दोनों खेलों को बड़े चाव से खेलता था और बादशाह का उद्देश्य सिर्फ यह था कि वे इस खेल के द्वारा सभी प्रकार के लोगों के चरित्र और स्वभाव को समझ सकें और उनमें एकता कायम कर सकें। पत्तों का यह खेल अब भी भारत में प्रचलित है।

क़मार बाज़ी

इस्लाम में जुआ खेलना हराम है। लेकिन भारत के मुसलमानों में इसका रिवाज पाया जाता था जो लोग चौसर के खेल में बाज़ी लगातेथे। गुलबदन बानो ने लिखा है कि जिस जमाने में हुमायूं काबुल में था वह खिलाड़ी औरतों और मर्दों को बीस दीनार क़मार बाज़ी अर्थात जुआ खेलने के लिए दिया करता था। दीवाली के अवसर पर भी मुसलमान जुआ खेला करते थे।

परिंदों की लड़ाइयां

परिंदों की लड़ाई का शौक हर वर्ग के मुसलमानों में पाया जाता था। लोग मुर्ग, बटेर, तीतर, गुलदुम, लवा और तोतों की लड़ाइयां करते थे। दरिंदों की लड़ाइयां, जिसका जिक्र बाद में किया जाएगा सिर्फ बादशाहों तक सीमित थी लेकिन परिंदों की लड़ाई में हर गरीब और अमीर रूचि लेता था और हर शौकीन आदमी मेहनत करके मुर्ग या बटेर को लड़ाई के योग्य बना सकता था।

अस्पियर ने लिखा है कि शाम के चार बजे महल के सामने कई सुल्तान जमा होते थे मुर्ग लड़वाकर बादशाह (बहादुरशाह ज़फ़र) का मन बहलाया करते थे। प्राय: यह रोज़ का क्रम रहता था। पीनांट का कथन है कि, ''भारतीय मुर्ग लड़ाने के बहुत शौकीन हैं और हम लोगों की तुलना में लोग इन जानवरों को खिलाने और शिक्षित करने में काफी ध्यान देते हैं। वे मुर्ग के एक पैर में एक नुकीला कांटा बांधकर लड़ाते हैं। मुर्गों के पर नहीं काटते और उनको पूरे परों के साथ लड़ाया जाता है।''

अवध के नवाबों और उनकी प्रजा को बटेर बाज़ी और दूसरे परिंदों की बाज़ियों का बड़ा शौक था।

लम्सनडीन ने लखनऊ में परिंदों की लड़ाई का जिक्र किया है और लिखा है कि इस देश के निवासी मुर्ग पालने और उनकी तरबियत करने में और उनके लड़ाने का बहुत शौक रखते थे। वे बाज़ी बंद कर रात भर मुर्ग लड़ाते थे। अवध के नवाबों की मुर्गबाज़ी पर टिप्पणी करते हुए पीनांट ने लिखा है कि कई बार वे अंग्रेजों से मुर्ग लड़ाते थे और बाज़ी लगाते थे और कभी-कभी यह बाज़ी एक लाख रुपये तक पहुंच जाती थी। जॉन जोफ़ेनी ने एक चित्र इंग्लैंड भेजा था जिसमें नवाब आसफुद्दौला को मुर्ग लड़ाते हुए दिखाया गया था। इस चित्र की पृष्ठभूमि में नृत्य और संगीत की महफिल जमी हुई थी। जब मीर तक़ी 'मीर', नवाब आसफुद्दौला से मिलने दरबार गए थे तो उस समय नवाब मुर्गबाजी में डूबे हुए थे।

अवध के नवाब परिंदों के पालन-पोषण में काफी रूपये खर्च कर देते थे। लखनऊ के मुर्गबाजों के लेकर मीर ने एक लम्बी हिजू[10] लिखी है। कहने का अभिप्राय

यह है कि लखनऊ के हर वर्ग के लोग अपना अधिकांश समय परिंदों को लड़ाने और उस तमाशे को देखने में व्यतीत करते थे।

मुर्गबाज़ी में रूचि की पराकाष्ठा का अनुमान इस घटना से हो सकता है कि जैनुल आबिदान (शायद फैजाबाद के निवासी थे) के बेटे ने मुर्गबाज़ी में अपनी तमाम पैतृक सम्पत्ति नष्ट कर दी थी।

मुर्गबाज़ी के अलावा बटेरबाज़ी का भी आम रिवाज था। मिसेज मीर हसन अली लिखती हैं-

''बटेर, जो कोयल की एक किस्म है, बहुत ही लड़ाकू परिंदा है। बड़े ध्यान से इन्हें सिखाया-पढ़ाया जाता है। इनके आहार का विशेष ध्यान रखा जाता है। ये गरीब और छोटे परिंदे जब एक बार लड़ने के लिए छोड़ दिए जाते हैं तो वे अपनी जान देकर ही बाज़ी के मैदान से हटते हैं।''

कोयलों को भी लड़ाना सिखाया जाता है।

गिलहरियों ने भी मुसलमानों का ध्यान आकर्षित किया और विशेष रूप से नौजवान इनमें दिलचस्पी लेने लगे थे। वे गिलहरियों को अपनी कलाई पर बैठाकर मेले-ठेलों में जाया करते थे। परिंदों के अलावा सांपों से भी मुसलमान अपना मनोरंजन करते थे। अजगर की अदाकारियों से भी वे लोग खुश हुआ करते थे।

संक्षेप में यह कि बुलबुल, तोता, मैना, कोयल, लटूरा, बया, अब्लका, तीतर, बटेर और शिकरा आदि पक्षी पाले जाते थे और इनके करतबों से मनोरंजन किया जाता था। बया चिड़िया सबके मन को भाती थी। प्रेमी जन (आशिक़) अक्सर इसे पाला करते थे। बया के बारे में पीनांट लिखते हैं:-

''यह बहुत ही चालाक और होशियार परिंदा है। इसको आसानी से कागज का पुर्जा या कोई दूसरी छोटी सी चीज़ एक जगह से दूसरी जगह ले जाने की तालीम दी जाती है। यह बात अनुभवसिद्ध है कि अगर कुंए में एक अंगूठी गिर पड़े और बया का मालिक उसे इशारे से कहे तो वह गहरे पानी में घुस जाती थी और उस अंगूठी को बाहर निकाल लाती थी। यह एक आश्चर्यजनक काम था। इससे भी आगे इस बात का भी बढ़-चढ़ा कर दावा किया जाता था कि अगर इस चिड़िया को कोई मकान दो एक बार दिखा दिया जाए तो वह इशारा पाते ही वहां खत पहुंचा सकती थी।''

आनन्द राम 'मुख्लिस' ने लिखा है कि कई आशिक मिज़ाज नौजवानों ने बया चिड़िया को मेले-ठेलों के अवसर पर नौजवान औरतों को तंग करने की तालीम दी थी। और इन औरतों के माथे के टीके उतरवाकर मंगा लेते थे।

क्योंकि परिंदों को पालना और उन्हें सिखाना-पढ़ाना एक आम बात हो गई थी। इसलिए परिंदों की नस्ली पहचान अपनेआप में एक कला बन गई। लोग इस कला में

भी दक्षता प्राप्त कर लेते थे। अख़्तर अली ख़ां देहलवी सभी परिंदों के नामों, नस्लों और भेदों को बड़े अधिकार के साथ जानते थे और वे लोगों को परिंदे खरीदते वक़्त सलाह भी देते थे।

दरिंदों की लड़ाई

मुगल काल में जानवरों को लड़ाना मनोरंजन का एक रोचक साधन रहा है। निम्न और मध्य वर्ग के लोग बकरों, भेड़ों, कुत्तों, सांडों और बारहसिंहों को लड़ाते थे और खुश होते थे। मुगल शहंशाह और उनके अमीर हाथी, शेर, हिरन, चीते, सुअर, तेंदुए, सांड और बहुत से दूसरे जानवरों को लड़ाते थे। जहांगीर के युग में एक शेर और सांड की लड़ाई का उल्लेख मिलता है। ऊंट भी लड़ाये जाते थे और इस काम के लिये अजमेर, गुजरात, जोधपुर, बीकानेर से ऊंट मंगाए जाते थे।

जानवरों को लड़ाने के अवसर पर बाज़ी भी लगाई जाती थी। जब शाहीं अस्तबल के हिरन लड़ाये जाते तो अमीर लोग दो रुपये से आठ मोहरों तक की बाज़ी लगाते थे।

आगरा और दिल्ली के किलों के नीचे रेतीले मैदानों में हाथियों को लड़ाया जाता था और मुगल शहंशाहों में यह शगल अंतिम बादशाह बहादुर ज़फ़र तक पाया जाता रहा था। बहादुर शाह और मुहम्मद शाह बादशाह को विशेष रूप से हाथियों की लड़ाइयां देखने का शौक था। इसके अलावा मुहम्मद शाह सुबह-सवेरे रीछ, बकरे, भेंड़े और जंगली सुअर को शेर की खाल पहनाकर हाथी से लड़ाता था। जब वे हाथी पर आक्रमण करते थे तो वह आनंदित होता था।

हाथियों की लड़ाई का अवलोकन करना केवल शहंशाह के अधिकार में आता था लेकिन मुगल सल्तनत के ह्रास और शाही रौब व दबदबे में कमी आ जाने के बाद अमीर भी यह शौक करने लगे थे।

पीनांट का कथन है कि "भारत के निवासी बहुत ही दयावान मालूम होते हैं लेकिन यहां के अमीर हाथियों, भैंसों, शेरों, हिरनों, बारहसिंहों, भेंड़ों और बकरों को आपस में लड़ाकर मनोरंजन करते हैं। उन्होंने इन जानवरों को बाकायदा शिक्षित किया है।" नवाब शुजाउद्दौला और नवाब आसफुद्दौला दोनों को हाथियों की लड़ाई देखने का बड़ा शौक था। और नवाब सआदत अली खां के ज़माने तक यह शग़ल जारी रहा। हरचरण दास ने 1184 हिज़्री के रमज़ान की एक घटना का उल्लेख किया है कि नवाब शुजाउद्दौला ने हाथियों की लड़ाई का आयोजन किया था। और शहजादा आलीगुहर (शाह आलम सानी) ने भी एक तमाशबीन की हैसियत से इसमें शिरक्त की थी। इस हंगामें में छः लोग मारे गये थे।

बंगाल का सूबेदार महाबतजंग हाथियों की लड़ाई देखने का शौकीन था। हाथियों

के अलावा अमीर लोग दूसरे जानवरों के करतब देखने में भी बड़ी रूचि रखते थे। अमीर हिरनों कों जंग के लिये तैयार करवाते थे। हिरनों की लड़ाई में हर खास और आम की रूचि का अनुमान इस घटना से बखूबी हो सकता है कि दिल्ली के कुछ शिकारियों ने हिरनों को ऐसा अभ्यास कराया था कि वे भिन्न-भिन्न प्रकार के खेल कर सकते थे। दिल्ली के बाहर रमना नामक स्थान पर इन हिरनों के तमाशे होते थे। इस तमाशे को देखने के लिये धनी-निर्धन और आवाल वृद्ध सभी एकत्रित होते थे। एक बार निज़ाम-उल-मुल्क आसफजाह (मुहम्मद शाह बादशाह का वज़ीरेआज़म) भी तमाशा देखने गये थे।

दिल्ली से ज़्यादा लखनऊ में जानवरों को लड़ाकर मनोरंजन किया जाता था। गाजीउद्दीन हैदर के जमाने में जंगली जानवरों के लड़ाने के लिये बड़े-बड़े मैदानों के आसपास बांस की टट्टियां या लोहे की सलाखों की चारदीवारी बनाई जाती थी, सुरक्षा को ध्यान में रखकर ऐसा किया जाता था। नवाब के अलावा आम जनता भी तमाशा देखने जाती थी। यहां शेरों को अक्सर तेंदुओं से लड़ाया जाता था। नवाब अवध ने बहुत से शेर जमा कर लिये थे। कई बार शेर और घोड़े को भी लड़ाया जाता था। साथ ही लखनऊ में चीते, तेंदुये, ऊंट, गेंडे, बारहसिंहे और मेंढे भी लड़ाए जाते थे।

नज़ीर अकबराबादी ने विशेष रूप से रीछ के बच्चे के पाले जाने का जिक्र किया है और उन्होंने रीछ के नाच और करतबों का बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है। रीछ के बच्चे को झुमके, कर्णफूल आदि आभूषण पहनाये जाते थे और उस पर जरी के तारों की एक झूल डाली जाती थी और उसको इतना सजाया जाता था कि वह जैसे परी हो, रीछ का बच्चा नहीं। नज़ीर अकबराबादी ने अपने निराले ढंग से रीछ के बच्चे के नृत्य का चित्र खींचा है:-

मुद्दत में अब इस बच्चे को हमने है सधाया
लड़ने के सिवा नाच भी है इसको सिखाया।
यह कहके जो ढपली के तई गत पे बजाया
इस ढब से उसे चौंक के जमघट में नचाया।

जो सबकी निगाहों में खुबा रीछ का बच्चा

जब कुश्ती की ठहरी तो वहीं सर को जो झाड़ा
ललकारते ही उसने हमें आन लिथाड़ा।
गह हमने पछाड़ा उसे, गह उसने पछाड़ा
एक डेढ़ पहर हो गया कुश्ती का अखाड़ा

गर हम भी न हारे न हटा रीछ का बच्चा

ये दांव में पेचों में जो कुश्ती में हुई देर
यो पड़ते रुपये पैसे कि आंधी में गोया बेर
सब नकद हुए आके सवा लाख रुपयें ढेर
जो कहता बाहर एक से इस तरह से मुंह फेर

यारो तो लड़ा देखो जरा रीछ का बच्चा।

गुब्बारे बाज़ी

भारत में प्राचीन काल से हवा में गुब्बारे छोड़ने का प्रचलन रहा है। गुब्बरा कागज की एक थैली होती थी जिसमें धुंआ या हवा भरकर आकाश में उड़ाते थे। यह क्रिया वर्तमान समय में भी पाई जाती है। अंतर केवल इतना है कि सामान्यतया अब रबड़ के गुब्बारे छोड़े जाते हैं। आनंद राम 'मुखलिस' ने एहवालकरम शबे चिराग शीर्षक के अंतर्गत गुब्बारे बाजी की विस्तृत चर्चा की है।

नौका विहार

नदियों और जलाशयों की दृष्टि से भारत बहुत संपन्न हैं। यहां जलमार्ग की यात्रा के लिये नावों या कश्तियों का प्रयोग किया जाता था। मुसलमानों ने जलमार्ग की यात्रा के लिये तो नावों का प्रयोग किया ही साथ ही नौका विहार को मनोरंजन का एक साधन बना लिया। इस काम के लिये विशेष रूप से 'मोरपंख' नामक नाव इस्तेमाल की जाती थी। बादशाहों और अमीरों की नावें 'नवारा' कहलाती थीं। आनंद राम मुख्लिस ने इन नावों का उल्लेख करते हुए लिखा है–

''नवारा कश्ती को अक्सर दरिया के जानवरों की शक्लो-सूरत का बनाते हैं अतएव बादशाही और नवाब साहब वज़ीर-उल-मुल्क के जिन नवारों को मैंने देखा है, अक्सर जानवरों की शक्ल जैसी हैं। यह बात स्पष्ट रहना चाहिए कि भारत में नाव एक आम चीज है और जिन पर बादशाह और अमीर लोग सवारी करते हैं उन नावों को नवारा कहते हैं। नवारे की एक ओर लकड़ियों की कोठरी होती है जिसके ऊपर एक कीमती ऊन मढ़ी हुई होती है। और इस कोठरी को बहुत सुंदर और सुहाने रंगों से सजाया जाता है। इन नवारों के खेने वाले अक्सर कश्मीरी होते हैं और नदी में नवारों को छोड़ते समय मांझियों के लोक गीत गाये जाते हैं।

'मुख्लिस' ने बाबर बादशाह के एक कथन का उल्लेख भी किया है कि बाबर ने

एक बार कहा था, ''कश्ती के मुकाबले में दूसरी सवारी ज़्यादा आरामदेह नहीं हैं। क्योंकि हर सवारी में रास्ता तय करने के वक्त लिखने के लिये आसानी और सहूलियत मयस्सर नहीं होती है लेकिन यह बात कश्ती में हासिल होती है।''

अठारहवीं शताब्दी के प्रायः सभी मुगल शहंशाह और उनके अमीर नवारे में सवार होकर मनोरंजन करते थे और राजनीतिक आपाधापी से कुछ क्षणों के लिये निजात पाते थे। फ़र्रूखसियर, मुहम्मदशाह और अहमदशाह बादशाह प्रायः समुद्र की सैर को जाया करते थे। एक बार नवाब सफदर जंग ने 'मुख्लिस' को एक नवारा तैयार कराने का हुक्म दिया था।

भारत में कई नामों और प्रकारों की नौकाएं पाई जाती थीं। जैसे बंगरू, फलवा, पंखवा, बजरा, खसखाना, फुलवारा, सीरंगा, भवालिया, गलही, घड़ा, सखा, झलका, पांसी, हबास आदि।

झूला या हिंडोला

प्राचीन समय से ही भारतीयों स्त्रियों में झूला झूलने की अभिरूचि रही है। विशेष रूप से सावन के महीने में स्त्रियों झूला, झूला करतीं थी। इन्हीं दिनों हरियाली का त्यौहार मनाया जाता था। मुंशी राम प्रसाद ने इस त्यौहार का इस प्रकार वर्णन किया है, ''क्योंकि देव-शयनी एकादशी के दिन अंकुरित हुआ पौधा पंद्रह दिन में हरा-भरा हो जाता है। इसलिए सावन के महीने में स्त्रियां झूला-झूलते हुए हरियाली के गीत गाकर ईश्वर की स्तुति करती हैं।''

इस त्यौहार में विशेष रूप से स्त्रियों की रूचि होने का कारण यह था कि भारत में संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि ललित कलाओं का संबंध स्त्रियों से ही रहा है। इन कलाओं में स्त्रियां ही दक्षता प्राप्त करती रही हैं। अतएव यह स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति चित्रकला में निपुण है, उसकी बारीकियों को जानता है वही प्रकृति के सौंदर्य का आनंद लूट सकता है, इसलिए हरे-हरे वृक्षों की सुंदरता स्त्रियों के मन को उत्फुल्ल कर देती है और झूला इस उत्फुल्लता में और वृद्धि कर देता है। झूला झूलने से मन बिना नशे के ही मनोन्मत्त हो जाता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि स्त्रियां आठ-दस दिन बड़े हर्ष और उत्साह में बिताती हैं। इस अवसर पर वे सुहाग की देवी पार्वती की पूजा करती हैं। कामना करती हैं कि ईश्वर उनका कल्याण करे। लड़कियां यह त्यौहार अपने माता-पिता के घर मनाती हैं क्योंकि यहां उन्हें ससुराल की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता होती है। यहां प्राकृतिक सौंदर्य को निहारने के अवसर भी ज्यादा मिल जाते हैं।

हज़रत अमीर खुसरो ने हिंदी में ऐसे गीत लिखे हैं। इन गीतों को झूला झूलते

समय स्त्रियां गाया करती थीं और आज भी गांवों में सावन के महीने में ये गीत गाए जाते हैं।

मेले-ठेलों और उर्सों के समागम के अवसर पर झूले डाले जाते थे और बच्चे, जवान सभी झूला झूल कर मनोरंजन करते थे।

दिल्ली के आस-पड़ोस में भ्रमण और पर्यटन के कई स्थल थे। दिल्ली वास्तव में बागों का शहर था क्योंकि यहां हज़ारों की तादाद में शाही तथा लोगों के निजी बाग थे। इसके अलावा यमुना के सुंदर तट भी थे और नसीरूद्दीन चिराग देहलवी के झरने भी मौजूद थे, जहां लोग भ्रमण के लिये जाया करते थे। इंशा अल्लाह खां इंशा ने कुतबुद्दीन बख़्तियार 'काकी' की दरगाह के पास इमलियों या किसी झरने के पास खड़े पेड़ों की डालियों पर पड़े झूलों का मोहक दृश्य प्रस्तुत किया है। इन अवसरों पर सुंदरियों का जमघट दृश्य को और अधिक रमणीय बना देता था। एक जगह इंशा लिखते हैं-

''किसी झरने के किनारे पेड़ की डाल पर झूला पड़ा हुआ है तो वहां भी दो चार परीजाद खड़े हैं।''

मीर हसन देहलवी और दूसरे शायरों ने सावन के झूलों की प्रशंसा में शेर कहे हैं।

अजब सावन में गुड़ियों का मज़ा है
हिंडोला जिस तरफ देखो गढ़ा है।

मुसहफी का शेर देखिए जिसमें उसने झूले की गति की उपमा आकाश की गति से दी है-

दौर-ए-फ़लक में बस है हिंडोले की चाल-ढाल
किस दिन ज़माना बाज़ रहा इन्कलाब से।

बैलगाड़ियों की दौड़ के मुकाबले

भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। इसलिए यहां के जीवन में बैल को विशेष महत्व मिला है। अबुल फ़ज़ल का बयान है:-

''हिंद में खेती-बाड़ी का काम भी इसी जानवर की मेहनत और जीवट के बल पर चलता है। और जीवन की सुख-सुविधाएं इसी की मेहनत का फल हैं। जानवर बोझ ढोने और हल चलाने में बहुत मजबूत और ताकतवर है।''

वैसे तो गाय-बैल भारत के हर क्षेत्र में पाए जाते हैं। लेकिन गुजरात के बैल सबसे अच्छे समझे जाते थे। गुजराती बैलों के एक जोड़े की कीमत सौ मुहर तक होती थी। ये बैल बड़ी तीव्र गति से चलते थे और चौबीस घंटों में अस्सी कोस की यात्रा की जा सकती थी। वे अपनी द्रुतगामिता में घोड़ों से भी कहीं आगे थे।

बोझ ढोने के लिए तो खास और आम लोग सभी बैलगाड़ियों का प्रयोग करते थे।

लेकिन बादशाहों, अमीरों और गण्य-मान्य लोगों के यहां बैलों की ऐसी भी जोड़ियां होती थीं जिनको रथों और तांगों में जोतकर दौड़ के मुकाबले किए जाते थे। वर्तमान युग में भी भारत के देहातों में ये गतिविधियां होती रहती हैं। मेले-ठेलों के मौकों पर लोग बैलगाड़ियों द्वारा दूर की यात्रा करते हैं। रास्ते में दौड़ के मुकाबले भी होते जाते हैं।

मुगलकाल में रथ और बहल की सवारी आम थीं। बादशाह, अमीर और सामान्य-जन इन सवारियों में भ्रमण के लिए जाया करते थे।

अठारहवीं शताब्दी के विलासप्रिय बादशाह, अमीर और रईस रथों और बहलों की सवारी पसंद करते थे। जहांदार शाह और मुहम्मद शाह को रथ की सवारी बहुत पसंद थी। दूसरे विभागों की तरह 'गाव खाना' का भी एक अलग विभाग होता था। नादिरशाह के हमलों के बाद इस विभाग की बदहाली का उल्लेख समकालीन इतिहास-ग्रंथों में मिलता है।

नदी तट पर तथा नदी में दीपक जलाना

कई त्यौहारों और विशेष अवसरों पर दीए जलाकर नदी में छोड़ दिये जाते थे। इससे लोग मनोरंजन करते थे। आनंद राम 'मुख्लिस' ने गंगा के किनारे दीपक जलाने का जिक्र किया है।

अपनी यात्रा के दौरान विलियम ह्यूज़ जब मुर्शिदाबाद पहुंचा तो वह मुसलमानों के किसी त्यौहार का दिन था। उसका बयान है कि नदी में अनगिनत जलते हुए दीपकों के तैरने का दृश्य देखकर उसका दिल बाग-बाग हो गया था।

जहांदार शाह को चिरागों से बड़ी दिलचस्पी थी। उसके शासन काल में बड़े पैमाने पर दीये जलाए जाते थे और दिल्ली शहर की तमाम इमारतों और किले में दीये प्रज्जवलित होते थे। कई बार यहां तक स्थिति पहुंच जाती थी कि तेल नहीं मिलता था और घी के चिराग जलाए जाते थे। एक समय ऐसा भी आया कि तेल और घी दोनों अनुपलब्ध हो गए थे।

अन्य भारतीय खेल

'इंशा' ने कई ऐसे खेलों का जिक्र किया है जो विशेष रूप से दिल्ली में खेले जाते थे। इन खेलों के नामों से स्पष्ट होता है कि इनका जन्म भारत की धरती पर ही हुआ है। उदाहरण के लिए चन्डूल गदा गर बोल, कांठ-कतोल, बानसली भनीरी-मोरा नानू, काली पीलू डलव (डलव उस सीधी लिखावट को कहते हैं जो कलम या अंगुली आदि से दीवार पर लिखी जाती है), धोरखंडे, चूहे लिंडे, मूंगचना-डगडोई डो

(जो आदमी बच्चों से खेलते हैं), शेर बकरी या बाघ बकरी, ऐड़न, कबड्डी, वजीर-बादशाह, आंख-मिचोली, कड़वा तेल-बिल्ली पादे वही फुलेल, छाई-माई गो धुमाई राजा के घर बेटा हुआ, दौड़े आइयो कोई ऐसा भी दाता हो चिड़िया बे बंद छुड़ा दे, मेरी आड़ वो क्यों आवे, लोढ़ी टेसू राय।

ये सब खेलों के नाम हैं। लेकिन समकालीन साहित्य में इनके ब्यौरे नहीं मिलते। इनमें से लोढ़ी (लोरी) खेल बहुत प्रचलित था और दिल्ली से काबुल तक इसका चलन था। इसका विवरण यह है कि दीवाली के त्यौहार से कुछ दिनों पहले बच्चे कुछ जवानों को साथ लेकर मुहल्ले-मुहल्ले फिरते थे और हर घर से कुछ नकद या ईंधन इकट्ठा करते थे। और एक निश्चित रात को ढेर बनाकर जला देते थे। जो कुछ नकद रुपये-पैसे मिलते थे उनकी मिठाई खरीदकर आपस में बांट लेते थे। हालांकि यह एक भारतीय प्रथा थी लेकिन मुसलमान बच्चे भी इस खेल में उनके साथ शरीक होते थे।

टेसू राय का मतलब यह था कि दशहरे के दिनों में लड़के मिट्टी की एक मूर्त्ति बनाते थे। जो तीन लकड़ियों पर टिकी होती थी। इसमें दीपक रखने की जगह भी होती थी। इसको वे घर-घर लिए फिरते थे और पांच छह दिन में जो नकदी वसूल होती थी उसकी मिठाई लेकर खा लेते थे। लड़कियां टेसू राय के बदले झंझरी या झुनझुना बनाती थीं। यह खेल पूर्व के सभी शहरों और कस्बों में प्रचलित था।

दूसरे खेल जैसे कबड्डी, बाघ-बकरी, वज़ीर-बादशाह आदि जवान आदमी भी खेला करते थे। जगह-जगह इनका चलन था। शेष खेल केवल बच्चें के लिए थे। गुल्ली-डंडा खेलते समय यह वाक्य बोला जाता था, "बती सरबस्ता फुल पान बेचता।" खेल में एक खास मौके पर खेलने वाले का सांस टूट जाता था तो उसके हाथ में डंडा मारा जाता था। जिसे 'चमटी' कहते थे। पंटर भी एक खेल का नाम था।

गुड़िया का खेल

पुराने समय से लड़कियां गुड़िया और गुड्डे का खेल खेलती रही हैं। लड़कियां बड़ी धूम-धाम के साथ गुड्डे-गुड़िया का ब्याह रचाती थीं। मीर देहलवी ने इसका जिक्र किया है-

> इक मोहल्ले में थी कितनी लड़कियां
> खेल में बाहम थी वो सब रहतियां
> गुड़ियां खेला करती थीं आपस में वो
> थीं बहम इस बात पर हम किस्म में वो

बंगाल के साहित्य में ढोफरी नाम के एक खेल का उल्लेख मिलता है। यह देहाती हाकी का खेल था। हमारे जमाने में भी देहाती बच्चे लकड़ी की हाकी बनाकर खेलते

हैं। लकड़ी का एक ऐसा टुकड़ा काटा जाता था जिसका एक सिरा अर्धवृत्त की भांति होता था। गेंद कपड़े की बनाई जाती थी और उस लकड़ी से मौजूदा हाकी के खेल की तरह खेलते थे।

एक दूसरा खेल 'गेरू' कहलाता था। यह खेल कई लड़के एक साथ खेलते थे और विरोधी पार्टी पर गेंद मारते थे। उनमें से कोई गेंद को पकड़ लिया करता था।

पान और हुक़्क़ानोशी

इस देश में प्राचीन समय से ही पान खाने की प्रथा रही है। भारत के अतिरिक्त संसार के किसी दूसरे हिस्से में पान उपलब्ध नहीं होता। इसलिए यह बात किसी तरह से संभव नहीं हो सकती कि मुसलमान पान चबाने की आदत अपने साथ लाए होंगे। मुसलमानों में पान चबाने की बढ़ती हुई स्वाभाविक रुचि भारतीय संस्कृति की ही देन है।

अलबेरूनी ने जहां हिंदुओं की प्रथाओं का जिक्र किया है वहां उसने लिखा है कि ''इस देश के लोग चूने के साथ पान खाकर और सुपारी चबाकर अपने दांतों को सुर्ख करते हैं।''

अमीर खुसरो ने पान की विशेषताओं का बड़ी अतिशयता के साथ वर्णन किया है। बीड़ा पान में पान के पत्ते के अलावा कटी छाली, कत्था और चूना भी मिला होता था। और इसी पुराने ढंग से अब भी खाया जाता है। अमीर लोग पान में सुगंध पैदा करने के लिए मुश्क और कपूर भी मिला लेते थे। पान के पत्ते कई प्रकार के होते थे। जैसे काकर, हीसावार, कपूरी, कपूरकंत और बंगला। इसके अलावा बिहार का 'मक्खी' और उड़ीसा का 'केवड़ा' नामक पान का पत्ता शौकीन लोगों के बीच बहुत पसंद किया जाता था। पान के विभिन्न प्रकारों के लिए विशेष रूप से सूबा उड़ीसा बहुत प्रसिद्ध था।

दिल्ली के सुल्तानों के दौर में पान को औरतों की जरूरी चीजों में गिना जाता था, जिससे वे अपने होंठ रचाती थीं। मुगल काल में फारसी साहित्य में उपलब्ध पान के ब्यौरों को देखकर पान के प्रति लोगों की रुचि का बखूबी अनुमान किया जा सकता है। अबुल फ़ज़ल ने लिखा है कि सोलह सिंगारों में पान भी शामिल होता था। पान की सुर्खी से वे अपने श्रृंगार को और अधिक चित्ताकर्षक बना लेती थीं। पान पुरुषों के सिंगार में भी शामिल था। सुजान राय भंडारी ने पान की अत्यंत प्रशंसा की है और यह प्रशंसा गद्य और शायरी दोनों में पाई जाती है। वह लिखता है–

''लेकिन तांबूल का पत्ता एक बेनजीर नैमत है। वह सौभाग्यशालियों की सभाओं की रौनक बढ़ाता है और सहृदय लोगों के मन को अपनी सुगंध से सुरभित करता है।''

अमीर-गरीब, छोटे-बड़े और स्त्री-पुरुष सभी आतिथ्य के लिए पान का प्रयोग करते थे। भारत की प्रेमासक्त सुंदरियां पान चबाकर, होंठ रचाकर प्रेमियों को आकर्षित किया करती थीं। भंडारी ने पान की प्रशंसा में दो मस्नवियां लिखी हैं जो पढ़ने योग्य हैं।

अठारहवीं शताब्दी के सभी उर्दू और फारसी के शायरों के यहां बड़ी संख्या में पान से संबंधित शेर मिलते हैं। मुल्ला मुहम्मद मोहसिन फ़ानी कश्मीरी की मस्नवियों में पान पर अनेक शेर मिलते हैं। कुछ शेर देखिए-

चूं वस्फ लबे नाज़ नैनान कुनम
ज़बानी दिगर दाम अज़ पान कुनम
चूं पान कस दर अक़्लीम-ए-हिंदोस्तां
न कर्दा जुबान दर ओ बाने बुतां।

लब गुल रुख़ां सुर्ख अज़ पान शवद
गुहर हाई दंदां चू मर जान शवद
ब ख़ूं रेज़ी आशिक़ान-ए हर सहर
ज़दा खंजर बीड़ा पान दर कमर।

इस युग में मन बहलाव के लिए पान खाना एक अच्छी बात मानी जाती थी। आम और खास सभी लोग एक तरह से इसका इस्तेमाल करते थे। अन्य विभागों की तरह मुगल सरकार में पान विभाग (शोबा-ए-बर्गतंबूल) भी था। तारीख मुहम्मद शाही के लेखक ने मुगल सल्तनत के पतन के दौर में इस विभाग की बर्बादी का यथातथ्य वर्णन किया है। दरबार-ए-आम और जश्नों के मौकों पर अमीरों और उपस्थित लोगों का पान से सत्कार किया जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मिसेज मीर हसन अली ने लिखा है:-

''पान भारतवासियों के लिए आमोद-प्रमोद का सर्वोत्तम साधन है। बड़ी मात्रा में बाजार में बिकता है। जिससे आंखों को ठंडक और दिल को सुकून हासिल होता है।''

पान खाने का शौक इस क़दर बढ़ा हुआ था कि स्त्री या पुरुष जहां कहीं भी जाते अपने साथ पान-दान या पिटारी भी साथ ले जाते थे। मीर हसन देहलवी ने फैजाबाद के लालबाग में, जहां औरतें घूमने के लिए जाया करती थीं, औरतों के साथ पानदान और पिटारियां देखी थीं। वह अपने एक शेर में इसका जिक्र करता है-

किसी के साथ पानों की पिटारी
भरा बटुए में कत्था और सुपारी।

मेले-ठेलों के मौकों पर बड़ी तादाद में पान की दुकानें लगती थीं।

मध्यकाल में सभी छोटे-बड़े लोग पान से अतिथि का सत्कार करते थे। आनंद राम 'मुख्लिस' ने लिखा है कि विवाह की सभाओं में पान के बीड़ों पर सोने-चांदी के वरक लगाए जाते थे। इससे वे और आकर्षक लगने लगते थे। 'मुख्लिस' ने अन्यत्र लिखा है कि त्यौहारों और उत्सवों के अवसर पर बादशाह अपने अमीरों की खातिर पानों से किया करता था। इस अवसर पर अमीर लोग कोरनिशगाह[11] तक अपना बीड़ा लेने जाया करते थे और पान लेने के बाद झुककर सलाम करते थे। सात हज़ारी मनसबदार को बादशाह स्वयं अपने हाथ से पान पेश किया करता था और इन बीड़ों पर सुनहरी धागे बंधे होते थे।

पानदानों की बढ़ती हुई मांग के कारण पानदान बनाने के धंधे ने काफी उन्नति कर ली थी। उम्दा किस्म के पानदान बिजनौर में बनाए जाते थे और वह शहर इस हुनर के लिए प्रसिद्ध था। पान के आम रिवाज का अनुमान इस बात से बखूबी हो सकता है कि सिर्फ कन्नौज शहर में किसी दौर में तीस हजार पान की दुकानें थीं[12]। तंबोली हिंदी का शब्द है और फारसी साहित्यकारों ने इसमें फारसी का 'बर्ग[13] शब्द जोड़कर 'बर्गतंबूल' बना लिया है, जिसका अर्थ पान है। गुजराती भाषा में अब भी तंबूल बोलते हैं। भारत के प्राय: हर शहर में दरीबा बाजार पाए जाते हैं जहां सिर्फ सादे पान बिकते हैं।

वर्तमान समय में मुसलमानों में पान खाने का आम रिवाज है। घरों में दैनिक इस्तेमाल के अलावा हर उत्सव के अवसर पर पान से अतिथि सत्कार किया जाता है।

हुक्कानोशी

अनुमान है कि भारत आने से पहले मुसलमानों में हुक्का पीने का रिवाज नहीं था। हुक्का पीने का व्यसन उन्हें भारत से ही मिला। यह एक शोध का विषय है कि तुर्कों के युग में मुसलमानों में हुक्का पीने का रिवाज चल पड़ा था या नहीं? यदि यह मान लिया जाए कि इसकी शुरूआत हो चुकी थी तो यह प्रश्न उठता है कि इस समय हुक्के में तंबाकू के बजाय क्या पिया जाता था? मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने यह माना है कि हज़रत अमीर खुसरो हुक़्क़ा पिया करते थे। यह बात विचारणीय है। उन्होंने लिखा है:-

''मुहल्ले के सिरे पर एक बुढ़िया साकिन की दुकान थी। चम्मो उसका नाम था। शहर के बेहुदा लोग वहां भांग-चरस पिया करते थे। जब ये दरबार से फिरकर आते या घूमने के लिए घर से निकलते तो वह भी सलाम करती, कभी-कभी हुक़्क़ा भरकर सामने खड़ी होती। ये भी दो घूंट ले लिया करते ताकि उसका दिल न टूटे।''[14]

इतिहासकारों का विचार है कि तंबाकू अभरी का शब्द है। और यह शब्द तथा

तंबाकू दोनों अकबर के काल में भारत पहुंचे। पहले पहल तंबाकू पुर्तगालियों के साथ भारत आया। दक्षिणी क्षेत्रों में सबसे पहले पहुंचा।[15] लेकिन उत्तर भारत में अकबर के शासन काल के अंतिम दौर तक नहीं आया था। शेख अबुल फ़ज़ल का नौकर असद बेग, जो सत्रह वर्ष तक उनकी सेवा में रह चुका था, अपने एक संस्मरण में लिखता है कि, 1013 हिजरी (1604-1605 ई.) के लगभग अकबर ने उसे दक्कन भेजा। बीजापुर में ठहरने के दौरान उसने तंबाकू देखा, जो उत्तर भारत में बिल्कुल अप्राप्य था। बकौल उसके उसने थोड़ा सा तंबाकू खरीद लिया। एक जड़ाऊं हुक़्क़ा तैयार करवाया। अकीक यमनी की एक खूबसूरत मुन्हाल खरीदी, सोने की चिलम तैयार करवाई और चांदी की 'नै' ली जिस पर मखमल चढ़ी हुई थी। उसने इन सब चीजों को बड़े सलीके से सजाकर अन्य उपहारों के साथ अकबर बादशाह की सेवा में पेश किया। जब बादशाह की दृष्टि हुक़्क़े पर पड़ी तो वह दंग रह गया। उसने बड़े गौर से तंबाकू को देखा, जो एक चिलम की मात्रा के हिसाब से अलग-अलग जमा हुआ रखा था। उसने पता किया कि यह सब कुछ क्या है? असद बेग ने निवेदन किया कि इसका नाम तम्बाकू है। बादशाह ने उसे हुक़्क़ा भरने का हुक्म दिया। जब हुक़्क़ा भर गया तो बादशाह के समक्ष पेश किया गया। आली हज़रत ने कश लगाने शुरू किए। इधर से शाही हकीम ने मना करना शुरू किया, मगर आली हज़रत न माने और फरमाया, "मुझे असद बेग की खातिर इसे पीना है।" यह कहकर नली मुंह में ले ली और दो-तीन कश और लगाए।

इसके बाद असद बेग की तरफ हुक़्क़ा बढ़ा दिया और उसने भी दो घूंट लिए।

असद बेग ने यह भी कहा है कि वह अपने साथ बड़ी संख्या में तंबाकू और हुक़्क़े लाया था। उसने थोड़ा-थोड़ा तंबाकू और एक-एक हुक़्क़ा दूसरे अमीरों को उपहार स्वरूप भेजा था। उन्हें ऐसा चस्का लगा कि हर अमीर ने तंबाकू को पीना शुरू कर दिया और धीरे-धीरे तंबाकू का व्यापार होने लगा। फिर तंबाकू पीने का खूब चलन हो गया। मगर आली हज़रत (अकबर) ने कभी इसकी आदत नहीं डाली।

धीरे-धीरे भारत में तंबाकू की खेती होने लगी और अन्य उपजों की अपेक्षा तंबाकू पर अधिक कर लगाया जाने लगा। जहांगीर के युग (1605-1627) तक तंबाकू की खेती आम हो चुकी थी और छोटे-बड़े सभी तंबाकू का इस्तेमाल करने लगे थे। जहां तक कि अमीर, वजीर शरीफ, परहेजगार, विद्वान, उपदेशक, शायर, हाकिम और फकीर सभी तंबाकू के आदी हो चुके थे और अन्य स्फूर्तिदायक वस्तुओं से उसे श्रेष्ठ मानने लगे थे। आतिथ्य और शिष्टाचार का यह एकमात्र साधन बन चुका था। तंबाकू पीने की लोगों में इतनी बुरी लत पैदा हो गई थी कि इसके आदी खाना-पीना भी छोड़ सकते थे लेकिन तंबाकू छोड़ना उनके लिए असंभव था। सामान्यतया एक व्यक्ति दूसरे

का जूठा खाने पीने से बचाव करता है लेकिन तंबाकू को पीते समय बिना किसी असमंजस के एक ही नली से हुक़्क़ा पीता था।

जहांगीर के युग में इसका चलन इतना आम हो चुका था कि बादशाह ने 1627 ई. में एक आदेश जारी किया और तंबाकू का पीना कानूनी तौर पर वर्जित ठहरा दिया गया। क्योंकि आम जनता तंबाकू की बेहद आदी हो चुकी थी इसलिए शाही हुक्म भी उनकी इस लत को न छुड़ा सका और वे शाही हुक्म की अवमानना करने पर मजबूर हो गए। अतएव ऐसे अपराधियों को शहर में गश्त कराया जाता था और कइयों के होंठ तक कटवा लिए गए। लेकिन इस सख़्ती के बावजूद यह रोग दिन पर दिन बढ़ता ही गया। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में हुक़्क़ा हर खास और आम की पसंद बन चुका था। इसलिए शायरों और लेखकों ने तंबाकू और हुक़्क़े की प्रशंसा और गुणगान में अपनी लेखनी का जोर दिखाया। यह हुक़्क़े की लोकप्रियता का प्रमाण था। लालचंद मुंशी ने तंबाकू की प्रशंसा में शेर कहे हैं। भंडारी ने तम्बाकू की निंदा भी की है।[16]

मुगल बादशाह और अमीर यहां तक कि उनके नौकर भी यात्रा के दौरान अपने साथ हुक़्क़ा रखते थे। मुगल सरकार में तंबूलखाना एक अलग विभाग था। इसका प्रबंधक एक दारोगा होता था। ट्यूनिंग ने एक अमीर का जिक्र किया है जो हुक़्क़े का प्रेमी था रथ पर यात्रा कर रहा था, साथ-साथ हुक़्क़े के कश भी लगाता जा रहा था। आठ-दस फुट लंबी एक पेचवान हुक़्क़े के चारों तरफ लिपटी हुई थी। रथ के साथ-साथ एक आदमी हुक़्क़ा लिए चल रहा था।

बादशाहों की भांति अमीर भी अपनी विशेष महफिलों में हुक़्क़े का शौक करते थे। 'तबातबाई' ने अलीवर्दी खां की महफिलों का जिक्र करते हुए कहा है कि रात के समय नवाब अपने मसनद पर विराजमान होते थे। इसके तुरंत बाद मीर मुहम्मद अली फाजिल नक़ी कुली खां, हकीम हादी खां और मिर्जा एहतेराम सफवी हाजिर होते थे। इसके बाद सबके सामने हुक़्क़े लाकर रख दिए जाते थे। वे लोग हुक़्क़ा के कश लगाते जाते और आधी रात तक गप्प भी लगाया करते थे।

दो प्रकार का तंबाकू हुक़्क़े में भरा जाता था। भिलसा, जो पत्तों को सुखाकर चिलम में भर कर पी जाती थी और दूसरी मस्नूई, जो गुड़ या खांड मिलाकर तैयार की जाती थी, इसे खमीरा कहते थे। आज के जमाने में भी तंबाकू भिलसा और खमीरा के रूप में प्राप्त होती है। हुक़्क़ा पीते समय पहले हुक्के को ठंडे पानी से ताजा किया जाता है। फिर चिलम में तंबाकू को जमाकर उस पर अंगारे रखकर चिलम हुक़्क़े पर रख दी जाती है और फिर कश लगाए जाते हैं, दो प्रकार के हुक़्क़े-हुक़्क़ा और गुड़गुड़ी या कली आमतौर पर प्रचलित थे।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य में स्त्रियों के हुक़्क़ा पीने का

उल्लेख भी मिलता है। विशेष रूप से मेले-ठेलों के अवसर पर मनोरंजन के लिए वे हुक्के अपने साथ ले आया करती थीं। मीर हसन देहलवी ने शाही औरतों और उनकी सेविकाओं में हुक़्क़े के रिवाज का जिक्र किया है:-

खड़े होके दो घूंट हुक़्क़े के लिए
चबा पान और रंग होंठों पर दिए।

मुहम्मदशाह बादशाह हुक़्क़े का इतना प्रेमी था कि उसने जाफर अली खां जकी से हुक़्क़े पर मस्नवी लिखने की फर्माइश की थी लेकिन वे इस काम को अंजाम न दे सके और शाह हातिम ने इस मस्नवी को पूरा किया। यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस युग में, मौजूदा ज़माने की तरह तंबाकू खाने, पीने और सूंघने तीनों कामों में इस्तेमाल होती थी:-

कोई पीवे, कोई सूंघे, कोई खावे
जहां देखो वो मौजूद सब जाए।[17]

1. एक शिकारी पक्षी को पकड़ना
2. फरहाद
3. इमामों के पवित्र मज़ारों की तीर्थ यात्रा।
4. रात की नमाज़
5. सोना चांदी पिघलाने वाला
6. महंगे बर्तन बनाने वाला
7. वजन करने वाला
8. मोहरे बनाने वाला
9. बेचने वाला
10. वह कविता जिसमें किसी की निंदा या आलोचना की जाए।
11. बादशाह को सलाम करने का स्थान
12. हो सकता है यह अतिरंजना हो। कहने का मतलब यह है कि पान की दुकानें बहुत अधिक थीं।
13. पत्ता
14. आब-ए-हयात-फैजाबाद संस्करण, पृष्ठ 87
15. पीनेंट के अनुसार 1671 में तंबाकू भारत पहुंचा।
16. खुलासतुल तवारीख, 255-और भी देखिए-इंशा-ए-नो रंग (पत्र-83) पृष्ठ 108
17. दीवान-ए-जादा, पृष्ठ 388

छठा अध्याय

सवारियां

द्वीपनुमा अरब के मुसलमान सवारी और बोझा ढोने के लिए ऊंट और ईरान व तूरान के घोड़ों का प्रयोग किया करते थे। लेकिन भारत में आकर बस जाने के बाद उन्होंने यहां की प्रथाओं और भौगोलिक स्थितियों के अनुरूप भारतीय सवारियां अपना लीं।

हाथी

ग़ज़नवी के शासन काल से ही मुसलमान युद्ध, सवारी और बोझा ढोने के लिए हाथियों का प्रयोग करने लगे थे। दिल्ली के सुल्तानों और मुगलों के दौर में यह रिवाज आम हो गया था। अकबर बादशाह के विषय में अबुल फ़ज़ल ने लिखा है-

"खासे की सवारी के लिए हमेशा एक सौ एक हाथी अलग से तैयार रहते हैं। बादशाहे आलमपनाह आरंभ से अंत तक इस विशालकाय जानवर पर सवार होते हैं और इस भारी भरकम जानवर को अपने काबू में रखते हैं। क़िबला-ए-आलम इस सवारी में इतने होशियार हैं कि हाथी जब मद में चूर होता है तो उसके दांतों पर पांव रखकर उस पर सवार हो जाते हैं। जिसे देखकर तमाशाई आश्चर्य में पड़ जाते हैं।"[1]

हाथियों पर बड़ी अच्छी और जड़ाऊ अमारियां कसी जाती थीं जो इतनी बड़ी होती थीं कि यात्रा के दौरान इन पर विश्राम भी किया जा सके।

अबुल फ़ज़ल ने हाथी की सजावट का विवरण प्रस्तुत किया है। सजावट का मुख्य सामान यह है-

धरना-लोहे, चांदी या सोने की एक बड़ी जंजीर।

लोह लंगर-एक लंबी जंजीर जो हाथी को भागने से रोकती थी।

गदेला-एक तकिया जिसे हाथी की पीठ पर रखकर नीचे रस्सी से बांधते थे।

चौरासी-कुछ घुंघरू धागे में गूंथकर बानात के एक टुकड़े में सिल देते थे। और इसको हाथी की गर्दन और सीने के पास आगे की तरफ बांधते थे। इस जेवर से हाथी की सुंदरता और बढ़ जाती थी।

पटकछ-वे जंजीर जो सुंदरता के लिए हाथी के दोनों तरफ बांधी जाती थी और जंजीरों में घंटा लटका कर पेट के नीचे बांधते थे।

मतलस-तिब्बत के बैल के छोटे मोरछल। इनकी संख्या सात या इससे आसपास होती थी। यह हाथी के गले, दांतों, गर्दन और माथे पर लटके रहते थे।

टैया-पांच लोहे की तीलियों को, जो एक-एक गज लंबी और चार-चार अंगुल चौड़ी होती थीं, लोहे के छल्लों से एक दूसरे से बांध देते थे।

गजझनत-एक चादर जो शानोशौकत के लिए पाखर के ऊपर डाली जाती थी। इस विलायती टाट को तीन तह करके सिलते थे और बाहर की तरफ इनमें जोड़े बंद टांकते थे।

मेघडंबर-यह एक शामियाना होता था, जिसको अकबर बादशाह ने ईजाद किया।

रनभल-यह मस्तक का आभूषण होता था। इस पर कीमती जरी का काम होता था। इसके निचले भाग में बेहतरीन कपड़े की झालर और मोरखें लटकाते थे, जो हवा में लहराते थे।

गतीली-यह चार छल्लों को आपस में मिलाकर बनाई जाती थी। इसके ऊपर तीन गोले और फिर इनके ऊपर दूसरे दो गोले जोड़कर हाथी के पांव में लटकाते थे जिससे उसकी शान और ज्यादा बढ़ जाती थी।

पायरंजन-यह कुछ घुंघरूओं के गुच्छे का नाम था जो गतीली की तरह पांव में बांधे जाते थे।

आगरा, इलाहाबाद, मालवा, बिहार और बंगाल के सूबों में बड़ी संख्या में हाथी पाए जाते थे। मुगलिया फ़ीलखानों (गजशाला) के लिए इन्हीं क्षेत्रों से हाथी मंगवाए जाते थे।

मुगल शहंशाह हाथी की सवारी करते थे। जहांगीर बादशाह के युग में हाथी का एक स्वर्ण जड़ित हौदा तीस हजार रुपये की लागत से तैयार कराया गया था।

शाहजहां की कश्मीर यात्रा का वर्णन करते हुए बर्नियर ने लिखा है कि, ''यात्रा के दौरान कभी-कभी बादशाह हाथी पर भी सवार होता था। जिस पर मेघडंबर या हौदा रखा होता था। यात्रा का यह एक भव्य और सुविधाजनक तरीका था क्योंकि हाथी की भव्यता और गरिमा किसी अन्य सवारी में नहीं मिलती है।''

शाही खानदान की औरतें प्रायः हाथियों पर यात्रा करती थीं। इन हाथियों के ऊपर बड़े-बड़े चांदी के घंटे होते थे। और ये मूल्यवान वस्तुओं से सजे होते थे। इनकी झूलें आदि बहुत आकर्षक और चमकीली हुआ करती थीं। इन पर बहुमूल्य जरी का काम होता था। बर्नियर का कथन है कि, ''ये रूप यौवना बेगमें अपने मेघडंबरों में बैठी हुई ऐसी दिखाई देती थीं जैसे हवा में परियां उड़ती जा रही थी। हर एक मेघडंबर में आठ

सुंदरियां बैठ सकती थीं। चार एक ओर तथा चार दूसरी ओर। यह चंडूल या रथ आदि दूसरे वाहनों की भव्यता से किसी तरह कम नहीं होता था।'' बर्नियर ने रोशनआरा बेगम की सवारी का सविस्तार वर्णन किया है। जो 'पेगू' के हाथी पर सवार थीं। औरंगजेब के शासन काल में शाही यात्रा के लिए एक सौ एक के बजाय सिर्फ एक सौ हाथियों की व्यवस्था थी। इन हाथियों की शान निराली थी। इनके अलावा कुछ हथनियां भी थीं, जिनपर सवारी करना बादशाह अच्छा नहीं समझता था। इन हाथियों को बंदूकों, गोलों, चरखियों और दूसरी तरह की आतिशबाजियों के सामने अपनी जगह पर जमे रहने की शिक्षा दी जाती थी। इसका कारण यह था कि यदि इन चीजों का सामना हो जाए तो बिदक कर भाग न खड़े हों। कई हाथियों को इस बात का अभ्यास भी कराया जाता था कि शेर और तेंदुए को देखकर भयभीत न हों। ऐसे हाथियों को शिकार के लिए इस्तेमाल किया जाता था। हाथियों की अच्छी खासी देखभाल होती थी। और इनकी खुराक का अच्छा प्रबंध किया जाता था। इनको शराब भी पिलाई जाती थी ताकि युद्ध भूमि में ये अपना साहस दिखा सकें। मुगल शहंशाहों का यह भी एक दस्तूर था कि यमुना किनारे झरोखे के नीचे एक हाथी हर समय संतरी (दरबान) की भांति तैयार खड़ा रहता था। इन हाथियों में से एक हाथी सबसे अधिक विशालकाय और बलशाली होता था, जो हाथियों का सरदार कहलाता था। इस हाथी को जब दरबार में लाया जाता था तो इस पर रंगीन और भड़कीली झूलें डाली जाती थीं। इसे सुनहरे और रूपहले आभूषणों से सुसज्जित किया जाता था। इसके पीछे-पीछे दूसरे हाथी भी होते थे। इस अवसर पर बांसुरियां, बिगुल और शंख भी बजते थे और इस जुलूस के साथ झंडे भी होते थे। इस तरह यह एक सुहाना दृश्य मालूम होता था।

विशेष हाथियों के अलावा चौदह सौ दूसरे हाथी भी होते थे। ये हाथी रानियों, शहजादियों और इनकी खास सवारियों, खेमों, बर्तनों और दूसरे सामान के लाने ले जाने के काम में लाए जाते थे। इन बोझा ढोने वाले हाथियों में से सबसे अधिक बलशाली हाथी, जिसके दांत नहीं होते थे, दुर्गम स्थानों पर तोपखाने ले जाने के कठिन काम में लाया जाता था। जब ये हाथी बाहर निकलते थे तो इनके ऊपर घंटे बांध दिए जाते थे ताकि इनके स्वरों से राहगीर सावधान हो जाएं और रास्ते साफ कर दें। क्योंकि जब हाथी दौड़ता था या तीव्र गति से चलता था तो उसे उतनी आसानी के साथ रोका नहीं जा सकता था, जितनी आसानी से घोड़े को रोक सकते थे।

औरंगजेब के शासन काल में विशेष शाही हाथियों के नाम इस प्रकार थे- खालिकदाद, मेमनमुबारक, खुदादाद, सरोसीरत, रीलकुशा, बख्तबहादुर, यक दांता, दिलपसंद, कबरा, मदा मस्त, सदामस्त, नमटाऊ, दिलकुशा, बाबा बख्श, नेकबख्त, मकना, कमारी बुलंद, सुरीला, लतीफ , नरसिंह, खूबरू, फतेहमुबारक, दिलदिलेर,

शाहइनायत, अल्लाहबख्श, फतहनुसरत, दाइमशिकोह, मदनमधन, लश्करशोभा, दुश्मनकश, कालापहाड़, सुंदरगज, कोहशिकन, किलाशिकन आदि।

अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियों में यह दस्तूर जारी रहा। आमतौर पर मुगल शहंशाह हाथी पर सवार होकर बाहर निकलते थे और विशेष रूप से ईद के दिन वे हाथी पर ईदगाह जाते थे। जब किसी इलाके पर आक्रमण के लिए जाते थे तो हाथी पर सवार होते थे। और जब विजयी होकर लौटते थे तो भी हाथी के ऊपर बैठते थे।

हालांकि नादिरशाह के आक्रमण के बाद फ़ीलख़ाना एकदम नष्ट हो चुका था। मुगल सरकार में दो चार हाथी ज़रूर रहते थे। बहादुर शाह ज़फ़र के हाथी का नाम मौलाबक्श था। वह अपने स्वामी से इतना प्रेम करता था कि जिस दिन उसने बादशाह के गिरफ्तार होने की खबर सुनी उसी दिन उसने प्राण त्याग दिए।

वैसे हाथी की सवारी मुगल शहंशाहों का विशेषाधिकार था। बादशाह की अनुमति के बिना कोई सरकारी कर्मचारी या कोई अन्य व्यक्ति हाथी पर सवारी नहीं कर सकता था। लेकिन अठारहवीं शताब्दी में सल्तनत के ह्रास, शासकों की विलासिता, कानून एवं व्यवस्था के प्रति लापरवाही के कारण जनता का कोई भी आदमी अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए हाथी की सवारी कर सकता था। इस सिलसिले में जहांदार शाह के ज़माने का एक बड़ा ही रोचक प्रसंग है। जैसा कि हम जानते हैं इस बादशाह के ज़माने में निचले वर्गों ने काफी उन्नति की। इन्हें उच्च पदों पर बैठाया गया। इन्हें हाथी-घोड़े और पालकियां दी गईं और इन पर सवार होने की अनुमति भी प्रदान की गई। इन नव धनाढयों में से एक ज़ोहरा कंजड़न थी। वह हथनी पर सवार होकर हरमसरा शाही में लालकुंवर से मिलने को जाया करती थी। एक दिन फतेहखान (ग़ाज़ी उद्दीन खां का बेटा) अपनी पालकी में किसी विद्वान से भेंट करने के लिए जा रहा था रास्ते में ज़ोहरा की सवारी मिली और उसके नौकर खान साहब से अशिष्टता के साथ पेश आए।

अहमदशाह बादशाह ने मान खां नामक गवैये को हाथी भेंट किया था, वह उसका मामा था। नवाब जावेद खां ख्वाजा सरा हाथी की सवारी पर बाहर निकलता था। अठारहवीं शताब्दी में केन्द्रीय शासन की दुर्बलता से लाभ उठाकर सूबाई गवर्नरों ने अपनी स्वतंत्र सरकारें बना ली थीं। जैसे कि अवध, बंगाल, हैदराबाद आदि। इन सूबों के शासकों ने अपने सर्वोच्च स्वामियों की वैभवपूर्ण जीवन-शैली अपना ली थीं। और वे हाथी की सवारी करने लगे थे। लेकिन अपने बादशाह की मौजूदगी में कोई भी व्यक्ति हाथी पर सवार न होता था। इसी तरह अमीर और रियासत के शासकों के सामने कोई अन्य व्यक्ति हाथी पर सवार न होता था। यदि संयोग से कहीं रियासत के शासक की सवारी आ जाए तो वह व्यक्ति तुरंत हाथी से नीचे उतरकर हाथ बांध कर

मुजरा अदा करता था।

नवाब शुजाउद्दौला की सरकार में पांच सौ हाथी थे। ईद के दिन रियासत के शासक हाथी की सवारी पर ईदगाह जाते थे और नौ रोज के जश्नों के मौके पर हाथी पर बाहर निकलते थे। मिसेज़ मीर हसन अली ने अवध के नवाबों के बारे में लिखा है-

"ईद के दिनों में हाथियों को नदी में ले जाकर खूब साफ़-सुथरा किया जाता था। इसके बाद उनके शरीर पर खूब तेल मला जाता था। इससे शरीर चमकने लगता था। उनके माथों को चमकीले रंगों से रंगा जाता था। उनके हौदे और दूसरी सजावटी चीजें बहुत कीमती और भड़कीली होती थीं। आभूषण सुनहरे और रूपहले हुआ करते थे। उनकी पीठों पर मखमल की चादरें या बेल-बूटे से जड़े कपड़े डाले जाते थे।"

नवाबों के हरम की औरतें भी हाथी की सवारी पर निकलती थीं और उनकी यात्रा का तरीका भी औरंगजेब और बहादुर शाह प्रथम के युग के रिवाज के अनुरूप था।

अली मुहम्मद खां रूहेला की सरकार में काफी हाथी थे। जिस जमाने में मुहम्मदशाह बादशाह ने बनगढ़ पर आक्रमण किया था तो नवाब को गिरफ्तार कर लिया गया था। गिरफ्तारी के समय वह हाथी पर सवार होकर बादशाह की सेवा में हाजिर हुआ था। इसी तरह फ़र्रूखाबाद के नवाब के यहां भी हाथी थे। भारत के सभी सम्पन्न मुसलमान हाथी की सवारी को गर्व की बात समझते थे। बंगाल में हाथी की सवारी आम थी। बंगाल के नवाबों, उनके मुसाहिबों और अमीरों के पास सवारी के हाथी अलग होते थे।

हाथी की सवारी के महत्व पर प्रकाश डालते हुए 'ग्रूस' ने लिखा है कि मुगल शहंशाह और शहजादों, सूबाई गवर्नरों या बड़े अफसरों को हाथी की सवारी शोभा देती थी। अपने वैभव और पराक्रम के प्रदर्शन तथा मान-प्रतिष्ठा की दृष्टि से हाथी से बेहतर कोई अन्य सवारी नहीं होती थी। सवारी के हाथियों को भड़कीले कपड़े और आभूषणों से सजाया जाता था, पीठ पर अमारियां कसी जाती थीं।

पालकी

मुगल शहंशाह, अमीर और गण्य-मान्य व्यक्ति पालकी की सवारी को बेहद पसंद करते थे। दूसरी सवारियों की अपेक्षा यह अधिक आरामदेह थी। अनेक यूरोपीय यात्रियों ने पालकियों की बनावट का सविस्तार वर्णन किया है। ट्रेवर्नियर लिखता है-

"यह एक प्रकार की छः सात फुट लम्बी और तीन फुट चौड़ी चारपाई है। जिसके चारों ओर एक छोटा सा घेरा होता है। एक प्रकार के नर्म बेंत को कमान की भांति टेढ़ा करके इसके बीच में लगाते हैं। जिस पर कपड़ा मढ़ दिया जाता है। यह

कपड़ा साटन या लठे का होता है। जब रूख पर सूरज की किरणें गिरने लगती हैं तो सेवक उस ओर परदा गिरा देता है। एक दूसरा सेवक भी साथ होता है। जिसके हाथ में एक ढालनुमा छतरी होती है। और जब पालकी में बैठे व्यक्ति के मुंह पर सूरज की किरणें पड़ने लगती हैं तो वह उनसे सुरक्षा करता है। पालकी के दोनों बांसों के बीच के हिस्से को बेतों से बुन दिया जाता है। और ये पांच फुट लंबे होते हैं। इन बांसों के साथ-साथ तीन आदमी होते हैं जो अपने कंधों पर पालकी उठाकर ले जाते हैं। इनकी रफ्तार बड़ी तेज होती है क्योंकि इन्हें बचपन से ही इस काम का अभ्यास कराया जाता है। यदि कोई व्यक्ति बहुत द्रुतगति से अपनी यात्रा तय करना चाहता था तो वह पालकी उठाने के लिए बाहर कहार लगाता था। ताकि वे बीच-बीच में एक दूसरे की सहायता कर सकें।''

बरसात के दिनों में इन पालकियों पर मोमजामें का कपड़ा चढ़ा दिया जाता था। अबुल फ़ज़ल ने कहारों के विषय में लिखा है-

''ये मुलाज़िम भी एक किस्म के प्यादे हैं जो खास हिन्दुस्तान में पाए जाते हैं। और ऊंचे-नीचे हर प्रकार के रास्तों को तय करते हैं। ये लोग पालकी, सिंहासन, चौडोल और डोली अपने कंधों पर उठाकर इतनी सावधानी के साथ चलते हैं कि सवार को झटका तक महसूस नहीं होता। इस देश में कहार बहुत हैं। इनमें से अच्छे कहार दक्कन और बंगाल में मिलते हैं। शाही आस्ताने पर कई हजार कहार खिदमत के लिए मौजूद रहते हैं। इनके सरदार का वेतन तीन सौ चौरासी दिरम[2] से अधिक और एक सौ बानवे दिरम से कम नहीं होता।''

सत्रहवीं शताब्दी के बाद के भारत में पालकियों की सवारी का रिवाज मुसलमानों के हर वर्ग में पाया जाने लगा था। इस दौर के भारतीय साहित्य और यात्रा वृतांतों में पालकी के रिवाज के बहुत से संदर्भ मिलते हैं। अमीरों की सवारी का जिक्र करते हुए बर्नियर ने लिखा है कि अमीर हाथियों पर तथा दूसरे कुछ पालकियों में यात्रा करते थे जिनको छः-छः कहार उठाते थे। अमीर सोने के तारों से जड़ा तकिया लगाकर बैठते, पान चबाते और हुक्के के कश लगाते हुए यात्रा करते थे।

मुगल काल में 'पालकीखाना' नामक एक अलग विभाग था। इसके अधिकारी को दारोग़ा-ए-पालकीखाना कहते थे।

अठारहवीं शताब्दी के अधिकांश मुगल बादशाह विलासप्रिय थे। अतएव अन्य सवारियों की अपेक्षा उन्हें पालकी ज़्यादा रुचती थी मुहम्मदशाह बादशाह विशेष रूप से पालकी की सवारी को पसंद करता था। क्योंकि उसे फतक[3] का रोग था। और इस कारण से वह घोड़े की सवारी न कर सकता था। शाही खानदान की औरतें भी पालकियों में यात्रा किया करती थीं।

बादशाहों की भांति इस युग के अमीर भी वासनाप्रिय और सुविधा-भोगी थी। हरचरन दास ने रोशउद्दौला तुर्राबाद खां की सवारी की पालकी का जिक्र करते हुए लिखा है कि इसमें इतना ज्यादा सोना लगा होता था कि फकीर लोग उसकी सवारी के समय तौलों से सोना जमा कर लेते थे।

अमीर-उल-उमराव हुसैन अली खां अगर पालकी पर सवार न होता तो उसे इतनी आसानी के साथ कत्ल करना संभव न होता।

विशिष्टता के प्रतीक के रूप में मुगल दरबार से अमीरों को पालकियां दी जाती थीं। अहमदशाह बादशाह ने अपने मामा मानखां को झालदार पालकी इनायत की थी।

समूचे उत्तर भारत में पालकी की सवारी का आम रिवाज था। कश्मीर में उम्दा किस्म की पालकियां बनती थीं। पालकी की बनावट में नए प्रयोग करने वाले कारीगरों को शाही इनाम मिलता था।

एक बार अहमदशाह बादशाह के वजीर ऐतमादउद्दौला ने बादशाह की सेवा में एक पालकी भेंट की जिसमें कुछ नवीनताएं थीं। बादशाह ने उस पालकी का अवलोकन किया। कुछ परामर्श दिए और कहारों को सौ रुपये बतौर इनाम अता किए। 'रिसाला मुहम्मदशाह व ख़ां वराखान' में पालकी विभाग के नष्ट होने की मार्मिक गाथा लिखी हुई है। हैबर (Heber) ने दीवान-ए-आम में टूटी-फूटी पालकियों का ढेर पड़ा देखा था।

सुखपाल

सुखपाल आकार-प्रकार की दृष्टि से डोली की तरह होता था। लेकिन अंतर इतना था कि डोली की अपेक्षा कुछ बड़ा होता था। बंगाल के संपन्न लोग सुख आसन और सुखपाल का प्रयोग करते थे। इसकी बनावट धनुषाकार डोली की तरह की होती थी। जो ऊंट की ऊन और रेशमी कपड़े या गुलनारी रंग के कपड़े या इस किस्म के दूसरे किसी कपड़े से बनी होती थी। इसके दोनों ओर मूल्यवान धातुओं के पत्ते जड़े होते थे।

अबुल फ़ज़ल ने सुखपाल का 'खुश्की की कश्ती' नाम से पुकारा है। यह इतनी सुघड़ होती थी कि यात्रा के दौरान इसमे बड़ी सुविधा के साथ बैठा, लेटा या सोया जा सकता था।

अहमदशाह बादशाह की मां साजत-उल-ज़मानी अपनी यात्रा के लिये सुखपाल का प्रयोग किया करती थी। शाह आलम सानी ने सिंहासन की सवारी का उल्लेख किया है। सिंहासन और पालकी के अलावा बंगाल में 'ज्वाला' नामक सवारी भी मिलती थी लेकिन बरसात के दिनों में आमतौर पर नाव द्वारा यात्रा की जाती थी।

नालकी

नालकी, पालकी और तख्त-ए-रवां की बनावट एक जैसी होती थी। ख़ाफ़ी खां का कथन है-

''नालकी हा कि ब सूरते तख्ते ख़ां तर्बियत दादा बूदंद''

अर्थात् तख्ते ख़ां की तरह से पालकियों को बनाया गया था।

नालकी की सवारी केवल मुगल शहंशाहों के लिए निश्चित थी। यहां तक कि शहज़ादे भी बादशाह की अनुमति के बिना नालकी पर सवार न हो सकते थे। बहादुर शाह प्रथम ने अपने चारों बेटों को नालकी पर सवार होने की अनुमति दी थी। एक अन्य प्रसंग से भी इस बात की पुष्टि होती है। जिस ज़माने में अजफ़री ने जयपुर में प्रवेश किया तो वहां के राजा ने उनकी सेवा में सवारी के लिए नालकी प्रस्तुत की। तब उन्होंने जवाब में कहा-

''यह भी आपने ज्यादती की कि हज़रत शाह आलम बादशाह के हुक्म के बगैर नालकी पर सवार हुए। इसका जुर्माना अदा करना चाहिए। शहज़ादों तक की यह मजाल नहीं कि हुजूर की इनायत व इजाज़त के बग़ैर नालकी पर सवार हों।''

शाही औरतें भी नालकी की सवारी करती थीं। साहबुज़्ज़मानी कुदसिया बेगम नालकी पर सवार होकर कदमशरीफ की ज़ियारत के लिए गई थीं।

नालकी का अलग विभाग होता था और इसका अधिकारी दारोगा-ए-नालकीख़ाना कहलाता था। नादिर शाह के आक्रमण के बाद यह विभाग अस्त-व्यस्त हो गया था।

चंडूल

सुखपाल, डोली और मियाने की सवारियों में शायद चंडूल सबसे ज्यादा आरामदेह थी। यह मकान के कमरे की भांति चारों ओर से बंद और ढकी होती थी। इसकी लकड़ियों को चिकने चमड़े या रेशमी पर्दों से सजाया जाता था। इसके गद्दे भी रेशमी कपड़ों से बने होते थे। कभी-कभी इसके फर्श पर शेर की खाल भी बिछा ली जाती थी। कुछ लोग चंडूल को चांदी के पत्तरों से सजाते थे और कुछ इन पर फूल-पत्तियों की चित्रकारी कर देते थे या इसे चमकीली गेदों से सजाते थे। इसके साथ ही चंडूल में एक अच्छा सा बर्तन भी लटका होता था जिसमें पीने के लिए पानी होता था।

चंडूल में बहुत सुंदर और जड़ाऊ दो मोटे बांस भी लगे होते थे जिनके अगले और पिछले सिरे तिरछे या लचकदार होते थे। चंडूल को बारह कहार कधों पर उठाते थे। तीन आदमी एक डंडे के साथ यानि छः आगे और छः पीछे।

अठारहवीं शताब्दी में मुसलमान घरानों में विवाह के अवसर पर दुल्हन को चंडूल पर विदा किया जाता था।

डोली

आरंभ में डोली केवल जनानी सवारी के काम में आती थी लेकिन बाद में पुरुष भी इसका प्रयोग करने लगे। फार्स्टर ने डोली की बनावट का सविस्तार वर्णन किया है। वह लिखता है:

''दक्षिण भारत की सवारियों से बिल्कुल भिन्न एक किस्म की सवारी है। लकड़ी के चार लचकदार टुकड़ों से इसे तैयार किया जाता है। यह चार फुट लंबी और तीन फुट चौड़ी होती है। इसके फर्श पर कपड़ा बिछा होता है या बेंत की तीलियों से बुनी हुई होती है। तीन फुट लंबे बांस इस ढांचे के बाहरी, अगले और पिछले हिस्सों में लगे होते हैं। और लोहे के तारों से ढांचे को कस दिए जाते है। इन बांसों के सिरों पर डोरी बंधी होती है। बीच के बांस की लंबाई तीन फुट होती है। चार आदमी इसे कंधों पर उठाकर ले जाते हैं।

आम तौर पर औरतें डोली पर ही यात्रा किया करती थीं। इंशा अल्ला खां 'इंशा' का यह शेर देखिए:

कुछ नहीं मालूम पूछो कौन सा मेला है आज
जातियां हैं जो खचाखच डोलियों पर डोलियां।

'इंशा' के एक बयान से यह मालूम होता है कि अठारहवीं शताब्दी के अंत में डोलियों की सवारी की सामाजिक मर्यादा कम होने लगी थी और ये विशेष रूप से नर्तकियों के प्रयोग में आने लगी थीं और 'इंशा' ने यह भी लिखा है कि नर्तकियों के अलावा दूसरे स्त्री-पुरुष भी इस सवारी का इस्तेमाल करने लगे थे। लेकिन मजबूरी में वे ऐसा करते थे। वह आगे लिखता है कि मियाने और पीनस के प्रचलन के बाद भी नर्तकियां मजलिसों में अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए डोलियों में जाया करती थीं।

पालकी, नालकी, डोली और चंडूल ढोने वाले कहारों की पोशाक भी चमकीली और आकर्षक होती थी। विशेष रूप से शादी ब्याह के अवसर पर वे बड़ी आकर्षक पोशाक पहनते थे। मीर हसन देहलवी ने एक शहज़ादे की बरात में नालकियां और पालकियां उठाने वाले कहारों की वेशभूषा का बहुत ही सुंदर वर्णन किया है:

कहारों की ज़रबफत की कुर्तियां
और उनके दबे पांव की फुर्तियां।

बहल

बहल या बहली हिंदी का शब्द है। रथ की भांति यह दो पहिए की गाड़ी होती थी। अबुल फ़ज़ल का बयान है कि अकबर बादशाह ने इस गाड़ी का आविष्कार किया था। उसके अनुसार ''सुंदर और हल्की गाड़ी को बहल कहते हैं। यह गाड़ी समतल भूमि पर चलती है और कुछ लोग इस पर बैठकर सैर कर सकते हैं।''

लेकिन भंडारी की राय अबुल फ़ज़ल से ठीक विपरीत है। भंडारी ने लिखा है कि ''भारत में बहल का प्रचलन प्राचीन काल से ही रहा है। ऐसा हो सकता है कि अकबर बादशाह ने इसमें कुछ संशोधन-परिवर्तन कर लिए हों।''

आमतौर पर बहल को खींचने के लिए दो बैल जोते जाते थे। लेकिन 'घुड़ बहल' को तेज चलने वाले घोड़े भी खींचते थे।

भंडारी के अनुसार गुजरात के बैल विशेष रूप से बहल और रथ खींचने के काम में लाये जाते थे। ये बैल अपनी तेज चाल के लिए मशहूर थे। इन बैलों के ऊपर झूलें डाली जाती थीं। इनके सींगों को रंग दिया जाता था और सींगों के नुकीले भाग पर सोने का पत्तर चढ़ा दिया जाता था।

नज़ीर अकबराबादी के शेरों से मालूम होता है कि बहल में बैलों और घोड़ों के अलावा दूसरे पशुओं को भी जोता जाता था। इसलिए इन पशुओं के नामों पर ही गाड़ियों के नाम रख दिए गए थे।

घुडबहल, फीलबहल, चतुर्बहल राहवार
हिरनों की बहल, बकरी बहल घंटे घुंघरूदार
मालिक चढ़ा जो मौत की डोली पे एक बार
बहलियां न बहल न झन्कार न पुकार।

ह्यूजेज़ ने पूरे उत्तर भारत का दौरा किया था। और उसने अपने यात्रा संस्मरण में बार-बार इस बात का जिक्र किया है कि भारत में सर्वसाधारण में बहलों की सवारी प्रचलित थी। स्त्री और पुरुष दोनों इसका प्रयोग करते थे।

रथ

रथ संस्कृत का शब्द है। रथ उस वाहन को कहते हैं जिसमें दो या चार पहिये होते हैं।

यह सवारी गाड़ी भारत की प्राचीनतम सवारियों में से है। महाभारत में भी इस गाड़ी का उल्लेख मिलता है। महाभारत की कथा से सब परिचित हैं। कुरूक्षेत्र के युद्ध में श्री कृष्ण अर्जुन के सारथी बने हुए थे। मिर्ज़ा क़तील ने रथ की बनावट का सविस्तार वर्णन किया है-

''रथ की बनावट इस प्रकार की होती है कि पतली लकड़ियों से एक बुर्जी बनाते हैं। ये लकड़ियां तराश-तराश कर चिकनी कर ली जाती हैं। फिर बुर्जी पर रेशमी कपड़ा मढ़ देते हैं। और निचले बैठने वाले भाग को रेशम की रंगीन डोरियों या बंद से बुन देते हैं। और तीन ओर छोटे-छोटे द्वार छोड़ देते हैं यानि दाएं, बाएं और सामने की ओर। लेकिन पिछले भाग को रस्सी या रेशमी कपड़े के पर्दे से ढक देते हैं। यहां रथवान के बैठने का तकिया लगा होता है ताकि गिरने का भय न रहे। उस बुर्जी को उन दो गोल लकड़ियों के पहियों के ढांचे के बीच में रखकर मजबूती से बांध देते हैं। पहियों का यह ढांचा इस तरह तैयार किया जाता है कि दोनों सिरों पर लोहे के टुकड़े लगे होते हैं। दोनों ओर दो पहिये होते हैं।''

रथ में दो की जगह चार पहिये भी हो सकते हैं। इस ढांचे के अगले हिस्से में एक जुआ होता है। सवारी के समय रथवान इसमें दो मोटे बैल जोत देता है। रथ पर तीन आदमी बड़े आराम से बैठ सकते हैं।

मध्यकाल के बादशाहों, अमीरों और रईसों में रथ की सवारी बहुत पसंद की जाती थी। इस युग के साहित्य में रथ की सवारी का अनेकशः उल्लेख मिलता है।

गुलाम अली नक़वी का बयान है कि करनाल की पराजय के बाद जब मुहम्मदशाह, नादिरशाह से भेंट करने के लिए गया था तो वह रथ की सवारी पर ही गया था। जहां दारशाह भ्रमण के लिए प्रायः रथ पर सवार होकर जाता था। एक दिन की घटना है कि वह रात के समय लालकुंवर की एक सहेली के घर पर गया, जो शराब बेचती थी। बादशाह ने खूब जमकर मदिरापान किया और बची-खुची रथवान के हिस्से में आ गई। लौटते समय बादशाह नशे में धुत्त बेखबर सो गया। जब महल में पहुंचा तो मलिका की दासियां लालकुंवर को उठाकर महल में ले गईं। लेकिन बादशाह की किसी ने सुध न ली। क्योंकि रथवान भी नशे में चूर था, उसने रथ को गैरेज में खड़ा कर दिया और रात भर बादशाह वहीं पड़ा रहा।

शाह आलम सानी रथ की सवारी के लिए नागोरी बैल पसंद करता था। नादिरशाह के आक्रमण के बाद अन्य विभागों की तरह यह विभाग भी तबाह और बर्बाद हो गया। शाही खानदान की औरतें जिन रथों पर बैठती थीं वे 'रथख़ास' कहलाते थे।

अवध के नवाबों के पास शाही महलों के उपयोग के लिए हजारों की संख्या में रथ थे। जिस जमाने में शुजाउद्दौला की पत्नी बहूबेगम साहिबा फ़ैज़ाबाद में रहा करती थीं तो सिर्फ उनकी सरकार में आठ-नौ सौ रथ थे। नज़ीर अकबराबादी ने इन शब्दों में रथों की प्रशंसा की है:-

थीं वो रथें कि बैठे थे जिन-जिन में फैल
बजते थे रंग और थे कलश उनके जूं सुहेल

रथवान ने अजल के जो हैं कर लिया दबेल
फिर किसकी छतरी, पहिये कहां और कहां के बैल।

तख्त-ए-रवां

शाहजहां यात्रा के दौरान अक्सर तख्त-ए-रवां पर सवार होता था। इस तख्त को कहार अपने कंधों पर उठाकर ले जाते थे। अपनी बनावट में ये तख्त एक प्रकार का चौकोर बंगला सा होता था जिसमें सुंदर झालरों और आइनों से सजी खिड़कियां होती थीं। वर्षा और आंधी के समय इन खिड़कियों को बंद कर दिया जाता था। यह तख्त चार डंडों पर जमा हुआ होता था। इन डंडों पर सुर्ख बानात या किमखाब का कपड़ा लिपटा रहता था और जरी तथा रेशम के काम वाली झालर से सजाया जाता था। एक डंडे को दो कहार पकड़ते थे जो सुंदर रंग के कपड़े पहने हुए होते थे। इन कहारों के अलावा सहायता के लिए आठ अन्य कहार भी होते थे।

अठारहवीं शताब्दी के बादशाहों में तख्ते रवां की सवारी का आम चलन था। भ्रमण और मनोरंजन के अलावा लंबी यात्राओं में भी इनका उपयोग किया जाता था। मुहम्मदशाह तख्ते रवां पर सवार होकर गढ़मुक्तेश्वर की ओर सैर और शिकार के लिए गया था।

नज़ीर अकबराबादी ने तख्ते रवां की प्रशंसा में यह शेर कहा है-

वो तख्त जिसपे कल था जवाहर जड़ा हुआ
कि ऐश से चढ़े हुए फिरते थे जा बजा।

नज़ीर अकबराबादी ने निम्नांकित शेरों में उन सभी सवारियों का जिक्र किया है जिन्हें हिंदू, मुसलमान समान रूप से इस्तेमाल में लाते थे-

मियाना, महाफा और चंडूल बग्घियां
वो पीनस वो पोचे व चोपाले खुशनिशां
मालिक हुआ अजल के जो खड़खड़िया पे सवार
पोचा गया न साथ न मियाना गया मियां
छकड़े, लढ़े, रहलके, शेर, बहल और खच्चर
टट्टू, हमार, भैंसे वो लाने के गोर ख़र
मालिक चला जो मौत के तांगे को झटककर
भैंसा गया न साथ, न टट्टू न गाव ख़र।

1. आइन-ए-अकबरी (अलिफ, ते) जीम, अलिफ, हे अलिफ, पृष्ठ224 और भी, मनूची-2, पृष्ठ-363.
2. चांदी का एक सिक्का
3. एक रोग, जिसमें अंडकोश बढ़ जाते हैं।

सातवां अध्याय

सृष्टि के विषय में आस्थाएं

ज्योतिष

भारत में ज्योतिष एक प्राचीन विद्या रही है। जब मुसलमान भारत आए स्थाई रूप से यहां बस गए और यहां के मूल निवासियों से उनकी निकटता स्थापित हुई तो इस विद्या के प्रति भी उनकी रुचि पैदा हो गई। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल में हर ख़ास और आम ज्योतिष में बड़ी रुचि लेता था। ज़ियाउद्दीन बर्नी के विचारों से मालूम होता है कि इस ज़माने में मुसलमानों में ज्योतिष विद्या का खूब प्रचार हो चुका था। दिल्ली का कोई ऐसा मुहल्ला न था जहां ज्योतिषी न रहते हों। बादशाह और अमीर अपने बच्चों की जन्म कुण्डली तैयार करवाया करते थे, इसके बदले में उन्हें बड़े-बड़े इनाम देते थे। सैकड़ों हिंदू और मुस्लिम ज्योतिषी अपने कार्यालय खोलकर बैठे रहते थे। ज्योतिषी के परामर्श के बिना कोई शुभ कार्य आरंभ नहीं होता था। बर्नी का कथन है–''शहर के अशराफ (श्रेष्ठ जन) की यह पैतृक प्रथा है कि ज्योतिषी से पूछे बिना कोई भी शुभ कार्य संपन्न नहीं होता।''

इस वातावरण में रहते हुए अलाउद्दीन ख़िलजी ज्योतिष से प्रभावित हुए बिना न रह सका। विशेष रूप से उसके हरम की औरतों पर ज्योतिषियों का बहुत प्रभाव था। इस युग में ज्योतिषियों की महत्ता का वर्णन करते हुए बर्नी ने लिखा है–''इस दौर के ज्योतिषी इस विद्या में बहुत दक्ष थे। इनकी संख्या बहुत अधिक थी। दिल्ली शहर के छोटे-बड़े सभी लोगों की ज्योतिष विद्या में बड़ी गहरी रुचि थी। हर मुहल्ले में ज्योतिषी रहते थे। बादशाह, अमीर तथा सभी वर्गों के लोग ज्योतिष के विशेषज्ञों को बड़ी मात्रा में धन-दौलत दिया करते थे। ज्योतिषी लोग चार-चार सौ पांच-पांच सौ जंत्रियां और दो-दो सौ तीन-तीन सौ जन्म कुण्डलियां मलिकों,वजीरों, अमीरों और दूसरे अधिकारियों के घर ले जाया करते थे और बदले में बड़े-बड़े इनाम पाया करते थे। वे बड़े सुख-चैन का जीवन बिताते थे। दिल्ली में बड़े लोग कोई भी काम ज्योतिषियों से पूछे बिना नहीं करते थे। बनयानयान, फ़तहयान, सलाहयान, मौलाना

शरफुद्दीन 'मुतरिज़' और फ़र्दरुवन अजायब बड़े कुशल ज्योतिषियों में से थे। अलाउद्दीन खिलजी ने इन्हें इनाम में बड़ी दौलत और कई गांव दिए थे। सभी बनयानयान इस कला में बड़ी दक्षता रखते थे। उन्होंने सुल्तान अलाउद्दीन और उसकी बेगमों से इतनी संपत्ति प्राप्त कर ली थी कि वे लोग धनवान हो गए थे। शहर में बड़ी संख्या में हिंदू ज्योतिषी और मुसलमान नुजूमी थे। केवल विख्यात लोगों का ही इस इतिहास में उल्लेख किया जा सकता है। अलाउद्दीन के दौर में तीन प्रसिद्ध ग्रह-नक्षत्र विशेषज्ञ और भविष्यवक्ता थे।''

इनमें से मौलाना सदरुद्दीन 'लूती' और ग़रबी रम्माल[1] अलीगढ़ के निवासी थे। तीसरे मुईन-उल-मुल्क ज़ुबेरी थे। वे दिल का हाल बताने और भविष्य की बातें मालूम करने और खोई हुई चीज़ों का पता लगाने में जादू का काम करते थे।

सुल्तान फिरोज़शाह तुगलक (निधन 1388ई.) को ज्योतिष विद्या से गहरा लगाव था। वह प्राय 'काहनान बारीक बीन'[2] से नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त करता था। इस विद्या का उसने गहन अध्ययन किया था और इस पर कई किताबें भी लिखवाई थीं। उसने उस्तुरलाव[3] ईजाद किया था। जो उस्तुरलाव फ़ीरोज़शाही कहलाता था। और इसको मिनारा-ए-फ़ीरोज़ाबाद पर लगाया गया था।

ज्वालामुखी के मंदिर पर फ़ीरोज़शाह को ज्योतिष विद्या पर एक संस्कृत की पुस्तक मिली थी जिसका उसने अज़ीजउद्दीन ख़ालिद ख़ानी से फ़ारसी में काव्यानुवाद कराया था और इसी का नाम 'दलायल फीरोज़शाही' रखा गया। निज़ामुद्दीन बख़्शी ने इसका अध्ययन किया था और इस पुस्तक के बारे में अपनी राय दी थी–

''वास्तव में यह पुस्तक ज्योतिष के कई पहलुओं को उजागर करती है। यहां तक कि अब्दुल कादिर बदायूनी ने भी इस पुस्तक की प्रशंसा की है। सुजान राय भंडारी का कहना है कि फ़ीरोज़शाह को यह पुस्तक बहुत पसंद आई थी और उसने पुरस्कार स्वरूप चांदी और सोने के नक़दी सिक्के और जागीर दी थी। इस पुस्तक का ज़िक्र अक्सर उसकी सभाओं में होता था।'' इसके अलावा ज्योतिष पर वराहमिहिर की संस्कृत रचना 'वराह संहिता' का भी फ़ीरोज़शाह ने अनुवाद करवाया था। इस युग में यह ज्योतिष की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक मानी जाती थी। अल-बेरूनी ने भी इस किताब को पढ़ा था। मुस्लिम यूनीवर्सिटी के सर शाह सुलेमान संग्रहालय में इसका अनुवाद 'किताब-उल-नुजूम' नाम से उपलब्ध है। इस किताब के आरंभ में लिखा है–

''यह पुस्तक संस्कृत से फ़ारसी में अनूदित की गई है। इसके अनुवादक इमाम ऐमा अब्दुल अज़ीज़ थानेसरी थे, जो तारीख़-ए-फीरोज़शाही के लेखक थे। इस पुस्तक का अनुवाद बादशाह अबुल मुज़फ़्फ़र फ़ीरोज़शाह के आदेश से किया गया था। वराह मिहिर की यह पुस्तक भारत की दुर्लभ पुस्तकों में से है।''

फ़ीरोज़शाह तुगलक शकुन पर भी बहुत विश्वास करता था। हर काम और मुहिम पर जाने से पहले क़ुर्आन शरीफ़ से फ़ाल निकाला करता था और हद यह थी कि अपने गवर्नरों से भी फ़ाल देखकर मिला करता था। इससे भी आगे सुल्तान जादू-टोने, ताबीज़ और गंडों पर भी विश्वास करता था। अनुमान होता है कि शायर सुल्तान की रुचि के कारण ही अब्दुल क़बी अल मारूफ़ बा ज़िया ने अपनी पुस्तक 'राहत-उल-इन्सान' उसे समर्पित की थी। इस पुस्तक में तीन अध्याय और चौहत्तर खंड हैं। इस पुस्तक का अधिकांश भाग ताबीज़ और गंडों आदि से संबंधित है।

मध्यकाल के लेखकों ने इस युग के मदरसों के पाठ्यक्रम की जानकारी नहीं दी है। इसलिए आत्मविश्वास के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि विद्यार्थियों को ज्योतिष पढ़ाया जाता था।

मुगल काल में भी ज्योतिषियों की अच्छी पूछ होती रही। अकबर बादशाह को इस कला से बड़ा लगाव था। इल्म-ए-फ़ल्कियात[4] में 'ताजिक' नामक मशहूर पुस्तक का फारसी में अनुवाद कराया गया था। यह अनुवाद मुहम्मद खां गुजराती ने किया था। इस युग में सैयद मीर नामक एक मशहूर ज्योतिषी हुआ था। इसका दरबार में बड़ा सम्मान था और इसकी भविष्यवाणियां सत्य सिद्ध होती थीं। अब्दुल क़ादिर बदायूंनी इस ज्योतिषी से बहुत प्रभावित हुआ था और उससे ज्योतिष की शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की थी। उसका कथन है:

"इस ज्योतिषी से मेरी इन्हीं दिनों पहचान हुई थी। मैंने इस विद्या को सीखने का निवेदन किया तो उसने स्वीकार कर लिया और कहा कि यह एक विशेष विद्या है और इसके सीखने की कुछ शर्तें हैं। बाद में मुझे मालूम हुआ कि इन शर्तों का संबंध शीया विश्वासों से है और ये सगुन भी दूसरे सगुनों की तरह मिथ्या और काल्पनिक हैं। कोई भी आदमी अपने परिश्रम से ये सगुन निकाल सकता है। मुझे इस बात का अनुभव भी हुआ, बल्कि मैंने खुद ही प्रयोग करके देख लिया और सैयद की शिक्षा का एहसान लिए बिना ही मैंने सगुन विचार करना सीख लिया।"

अकबर बादशाह ने मदरसों के लिए स्वयं पाठ्यक्रम तैयार कराया था। इस पाठ्यक्रम में बादशाह ने ज्योतिष और नक्षत्र विद्या को अनिवार्य विषय के रूप में शामिल किया था।

जहांगीर और शाहजहां के दरबार से कई ज्योतिषी जुड़े हुए थे। बादशाह ज्योतिषियों के परामर्श पर बड़ी पाबंदी से अमल करते थे। एक अवसर पर जब शाहजहां ने देखा कि उसके अमीर लोग चंपतराय बुंदेला से मुकाबला करने में कुछ शिथिलता से काम ले रहे हैं तो उसने दरबारी हिंदू ज्योतिषी से इस विषय में परामर्श किया और उसके परामर्शानुसार स्वयं उस मुहिम पर रवाना हो गया।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में ज्योतिष विद्या की आम चर्चा पाई जाती थी। सामान्य और विशेष सभी लोग ज्योतिषियों के प्रति श्रद्धा रखते थे, उनके परामर्श के बिना कोई शुभ कार्य आरंभ नहीं करते थे। यहां तक कि युद्ध का समय और बच्चे के जन्म का समय उनसे ज्ञात किया जाता था। निःसंतान बादशाह, अमीर और दूसरे बड़े लोग इनसे संतान प्राप्ति के विषय में पूछा करते थे। बर्नियर का कथन है–

''एशियाई लोग अक्सर ज्योतिष को इतना मानते हैं कि वे दुनिया के हर काम का संबंध नक्षत्रों और आकाशों की गति से जोड़ते हैं। इसलिए वे हर काम में ज्योतिषियों से परामर्श लेते हैं। यहां तक कि युद्ध भूमि में दोनों पक्षों की सेनाएं तैनात होती थीं, तब भी सिपेहसालार ज्योतिषियों से युद्ध की साइत निकलवाया करता था। ताकि कहीं ऐसा न हो कि किसी अशुभ घड़ी में युद्ध आरंभ कर दिया जाए। बल्कि ज्योतिषियों से पूछे बिना सिपेहसालार की पद पर नियुक्ति नहीं की जाती थी। उनकी अनुमति के बिना न विवाह हो सकते थे, न कहीं की यात्रा। बल्कि ज़रा-ज़रा सी बातें भी इनसे मालूम किए बिना नहीं की जाती थीं। मिसाल के तौर पर लौंडी गुलाम का खरीदना या नया कपड़ा पहनना। इस अंधविश्वास ने लोगों को कष्ट में डाल रखा है। इसके बड़े भयंकर परिणाम निकले हैं। मुझे आश्चर्य है कि इतने पुराने समय से यह विश्वास क्यों चला आ रहा है। चाहे वह निजी काम हो या सरकारी, वह मामूली काम हो या विशेष, ज्योतिषी को अवश्य इससे अवगत करा दिया जाता है।''

दिल्ली और आगरा के बाज़ारों में ज्योतिषी लोग अपनी-अपनी पोथियां खोले और तख्ती लगाए अपनी-अपनी दुकानें सरे बाज़ार लगाकर बैठते थे। इनके आस-पास लोगों की भीड़ होती थी। हर किस्म के और हर ज़रूरत वाले लोग यहां हाजिर होते थे और अपने भविष्य का पता करते थे। बर्नियर लिखता है–

''और ये बाज़ार हिंदू और मुसलमान ज्योतिषियों तथा नुजूमियों से पटा हुआ है। और ये विद्वान ज्योतिषी धूप में एक मैला सा क़ालीन का टुकड़ा बिछाए बैठे रहते हैं। इनके पास गणित के कुछ यंत्र होते हैं और सामने एक बड़ी सी पोथी खुली रखी होती है। जिसमें बारह राशियों की आकृतियां बनी हुई होती हैं और इसी तरीक़े से वे लोग राह चलते लोगों को फुसलाते और धोखा देते हैं। और आम लोगों को बताते हैं कि उनके भाग्य में क्या लिखा है। और उनके हाथ और मस्तक को ध्यान से देखकर और पोथी के पन्ने उलट-पलट कर विश्वास दिलाते हैं कि जैसे वे सचमुच में गणित लगा रहे हैं। आम लोग जिस काम के विषय में उनसे प्रश्न पूछते हैं उसके लिए समय और साइत यानि मुहूर्त बताते हैं। भोली भाली स्त्रियां सिर से पांव तक सफेद चादर ओढ़ कर उनके पास जमा होती हैं और अपने जीवन के बारे में उनसे पूछताछ करती हैं। और अपने मन के सारे भेद उनसे कह देती हैं।''

इसके बाद बर्नियर ने एक पुर्तगाली का हाल भी बयान किया है जो गोआ से भागकर दिल्ली आ गया था और इन ज्योतिषियों के साथ बाजार में बैठा हुआ लोगों को मूर्ख बना रहा था।

इसके बाद लेखक ने कहा है कि जिन ज्योतिषियों का अमीरों के घर आना जाना था वे बड़े योग्य समझे जाते थे और थोड़े ही समय में वे अच्छा धन कमा लेते थे। वह आगे लिखता है–

"समूचे एशिया में यह भ्रम फैला हुआ है। खुद बादशाह और बड़े-बड़े अमीर उन ढोंगी भविष्यवक्ताओं को बड़े-बड़े वेतन देकर मुलाजिम रखते हैं। उनसे पूछे बिना कोई महत्वपूर्ण काम शुरू नहीं करते। मानो कि ये ज्योतिषी आकाश में लिखी बातें जानते हैं। हर एक काम करने के लिए शुभ घड़ी निकाल देते हैं और हर संदेह का क़ुर्आन से सगुन विचार करके समाधान कर देते हैं।"

मनूची के विचारों की बर्नियर के कथन से पुष्टि होती है। लगभग पचास वर्ष तक वह भारत में रहा था और उसने स्वयं इन तमाम बातों का निरीक्षण किया था। वह लिखता है–

"कोई भी बड़ा आदमी ऐसा नहीं है जो अपने घर में एक ज्योतिषी मुलाज़िम न रखता हो। वह न केवल किसी काम के लिए बाहर जाने के बारे में उससे परामर्श करता है बल्कि यहां तक कि वह नया कपड़ा पहनने की भी साइत निकलवाता है। मुगल और हिंदू दोनों इतने अंधविश्वासी हैं कि ज्योतिषी जो भी कहते हैं वे उस पर विश्वास कर लेते हैं।"

'मारसर-ए-आलमगीरी' और 'मुन्तख़िबुल्लबाब' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि औरगंज़ेब ने अपनी बादशाहत के बारहवें साल शाही दरबार में शहज़ादों और सूबेदारों से जुड़े हुए ज्योतिषियों और नुजूमियों को निकाल कर बाहर कर दिया। उसके आदेश का इतनी कठोरता के साथ पालन किया गया था कि बख़्तावर खां ने इन लोगों से मुचलके (शपथ-पत्र) लिखवा लिए थे कि नए वर्ष के आरंभ पर जन्म पत्रियां न बनाएं। यहां तक कि इस प्रकार के आदेश दूसरे सूबों को भी भेज दिए गए थे।

औरगंज़ेब के निधन के बाद फिर पहले जैसी स्थिति पैदा हो गई और ज्योतिषियों व नुजूमियों का सितारा फिर बुलंद हो गया। बादशाह से लेकर आम लोगों तक उनकी आवभगत होने लगी और हर व्यक्ति उनकी सेवा में उपस्थित होकर साइत और लगन निकलवाने लगा। इस युग के साहित्य में ज्योतिषियों के प्रभाव के हवाले मिलते हैं। कहा जाता है कि मुगल फ़ौजों ने पहले दिन अहमदशाह अब्दाली का इसलिए मुकाबला नहीं किया था कि वह युद्ध आरंभ करने के लिए शुभ दिन नहीं था।

मुहम्मदशाह बादशाह के दरबार से जुड़े हुए नुजूमियों में शेरख़ान, मुनज्जम ख़ां, मिर्ज़ा मोहसिन तारीख़ नवीस के नाम उल्लेखनीय हैं। अहमदशाह बादशाह ने नुजूमियों के लिए जागीरें अता की थीं। पंडित राम उर्फ नैनसुख की संतान के नाम एक फर्मान जारी हुआ था जिसके अनुसार उन्हें अपने पिता की जागीर का स्वामित्व दिया गया था–

''सरकार लखनऊ के वाक़े[5] परगना मलानवाह जिसकी सालाना आमदनी एक हज़ार सात सौ छियत्तर रुपये है। और वह पंडितराम उर्फ नैनसुख का वतन था। और बतौर तन्खाह उसे जागीर में अता किया गया था और मज़कूरा[6] मुनज्जिम की औलाद और मुतालक़ान[7] को बतौर इनाम माफी में दिया जाता है। यह जागीर नस्लनबाद नस्लन और ख़ालिदन मखुल्दन[8] उनके तसर्रूफ़[9] में रहेगी।''

दिल्ली के मशहूर बाज़ार चांदनी चौक में नुजूमियों की टोलियां अपनी दुकानें सजाए बैठी रहती थीं। दरगाह क़ुली ख़ां ने इसका आंखों देखा हाल लिखा है–

''आगे बढ़िए तो आपको रम्मालों, नुजूमियों और ज्योतिषियों की जमात का जाल बिछा हुआ नज़र आएगा। जिनके फंदे से निकल पाना मुश्किल है। यहां जनता अपने भाग्य के लिखे को मालूम करने के लिए बैठी है। कोई भविष्य में होने वाले अच्छे काम को जानकर खुश हो रहा है और कोई भविष्य में संभावित कष्ट को लेकर यों ही चिंतित है। ज्योतिषियों की आय इस बाज़ार में काफी होती है।''[10]

मीर हसन देहलवी ने अपनी मस्नवी 'सहरुल बयान' में एक ऐसे बादशाह का हाल बयान किया है जो निस्संतान था। जब हर जतन करके हार चुका और उसके कोई संतान न हुई तो उसने अत्यंत निराश होकर तख़्तोताज को छोड़ने का निश्चय कर लिया। जब इस बात की जानकारी उसके वज़ीरों को हुई तो उन्होंने बादशाह से प्रार्थना की कि वे निराश न हों और हम नुजूमियों को बुलाकर पूछताछ करते हैं। इन नुजूमियों ने बादशाह के यहां पुत्र संतान होने की भविष्यवाणी की। मीर हसन देहलवी ने इस प्रसंग का वर्णन इन शब्दों में किया है–

बुलाते हैं हम अहले तंजीम[11] को
नसीबों को अपने जरा देख लो
तसल्ली तो दो शाह को इसनमत
वले अहले तंजीम को भेजे ख़त
नुजूमी व रम्माल और बरहमन
ग़रज़ याद था जिनको इस ढब का फ़न।

जब ये लोग दरबार में पहुंचे तो बादशाह ने उनसे कहा–

निकालो ज़रा अपनी अपनी किताब

मेरा है सवाल इसका लिखो जवाब
नसीबों में देखो तो मेरे कहीं
किसी से भी औलाद है या नहीं।
ये सुनकर वो रम्माल तालाशनास[12]
लगे खेंचने ज़ायचे बे क़यास।
धरी तख़्ती आगे लिखा क़ुरा[13] हाथ
लगा ध्यान औलाद का उसके हाथ।
जो फेंके तो शक्लें कई बैठीं मिल
कई शक्ल से दिल गया उनका खिल।
जमाअत ने रम्माल की अर्ज़ की
कि घर में उम्मीद की कुछ खुशी।

शत्रु से युद्ध के लिए प्रस्थान करने से पहले ज्योतिषियों को बुलाया जाता था और उनकी बताई हुई घड़ी में कूच का नगाड़ा बजता था। तख़्तनशीनी के पहले साल बहादुरशाह प्रथम ने राजपूतों से युद्ध के लिए कूच किया। उसने सत्रह शाबान[14], 1119 हिज्री को नुजूमियों के अनुसार मुहिम के लिए क़दम उठाया और नुजूमियों के कहने पर उसने ख़ैरात भी बांटी।

इस तरह सरफराज़ ख़ां रवाई (बंगाल) ने अपने दरबारी नुजूमियों के परामर्श से शत्रु से मुक़ाबले के लिए साइत निकलवाई थी, हैदर बेग नुजूमियों का बड़ा सम्मान करता था। इनके परामर्श के अनुसार उदारता के साथ ख़ैरात बांटता था। ख़ैरात की लूट-खसोट में लोग घायल हो जाते थे। कई बार वे लोग हैदर बेग को चांदी और तांबा और कपड़ों में तुलवाया करते थे। कभी गरीबों में तांबा बांटने की सलाह दिया करते थे। जब उसे किसी बात का भय होता था तब भी ऐसी हरकतें करता था। मुहम्मद फ़र्रुख़सियर जब पटना शहर में पहुंचा तो वह वहीं तंबू गाड़ कर बैठ गया। क्योंकि कई नुजूमियों ने विशेष रूप से मुहम्मद रफ़ी हकीम ने, उसके सामने यह भविष्यवाणी की थी कि वह हिंदुस्तान के तख़्त पर बैठेगा।

मीर कासिम (बंगाल का सूबेदार) भी उन पर पूरा विश्वास करता था। वह एक बार गद्दी से हटा और नुजूमियों की भविष्यवाणी के अनुसार जीवनभर गद्दी का इंतजार करता रहा। पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियां भी इस कला की अच्छी जानकार थीं। उत्तर भारत के सभी बड़े शहरों में ऐसी स्त्रियां पाई जाती थीं। चंचल प्रेमीजन उनसे यह पूछने जाया करते थे कि उन्हें अपनी प्रेमिका मिल जाएगी या नहीं?

अठारहवीं शताब्दी में बहुत से ऐसे मुसलमान थे जो इस कला के मर्मज्ञ थे। मिसाल के तौर पर शाकिर नाजी, कलंदर बख़्श, जुरअत (भारतीय ज्योतिष का

विशेषज्ञ), मिर्ज़ा फ़िदाई, हुसैन ख़ां फ़िदा और मोमिन खां मोमिन ऐसे नुजूमी थे जिनकी बड़ी ख्याति थी। ऐसे सैकड़ों नाम और गिनाए जा सकते हैं।

सगुन विचार को सब मानते थे। औरगंज़ेब भी इसे मानता था और दीवान-ए-हाफ़िज़ से सगुन निकाला करता था।

शाह आलम सानी की एक बात से नुजूमियों की अहमियत का पता चलता है। इनकी आमदनी बहुत थी। उसने कहा था–

"यह नक्ल मशहूर है जो कुछ था चोर ले गया और जो कुछ चोर के हाथों बच रहा, वह ज्योतिषी ले गया।"

जादू-टोनों पर विश्वास

जादू-टोनों की शुरूआत किस देश में हुई, इस विषय पर बहस करना हमारा उद्‌देश्य नहीं है। यह जान लेना पर्याप्त होगा कि इस्लाम के आने से पहले एशियाई देशों में, विशेष रूप से भारत में, जादूगारी का आम रिवाज था और इस्लाम के आने के बाद भी जारी रहा। सुल्तान अलाउद्दीन ख़िलजी भारत का पहला बादशाह था जिसने जादूगरी के पाखंड को समाज में समाप्त करने की संभव कोशिश की। अमीर खुसरो ने भी कहा है कि उसने जादूगरों को ज़मीन में गर्दन तक गाड़ कर पत्थरों की बौछार करवा दी थी। जादूगरों का यह गिरोह बच्चों को जीवित खा जाता था।

हिंदू से मुसलमान हो जाने के बाद भी इन लोगों ने इस कला को नहीं छोड़ा। बाहर से आए हुए मुसलमानों ने भी धीरे-धीरे यह कला सीख ली। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि आम मुसलमान जादूगरी पर विश्वास करने लगा क्योंकि मध्य काल में जादूगरी के कुछ ऐसे उदाहरण सामने आए कि अशिक्षित जनता इससे प्रभावित हुए बिना न रह सकी।

'बहारिस्तान-ए-ग़ैबी' के लेखक मिर्ज़ा नाथन ने एक घटना का वर्णन किया है। जब जादू विशेषज्ञ मीर शम्स ने अपना मतलब सिद्ध करने के लिए शाह कमाल पर जादू किया तो इसका नतीजा यह हुआ कि शाह कमाल के मुंह से खून जारी हो गया और उसी सप्ताह में उसका निधन हो गया। इसके बाद मीर शम्स ने मिर्ज़ा नाथन को अपना निशाना बनाना चाहा। इससे मिर्ज़ा नाथन भी बड़ी मुसीबत में फंस गए। उन्होंने ढाका के एक दरवेश मियां अक़ील को इसकी जानकारी दी। उन्होंने मीर शम्स पर जवाबी जादू किया। अंत में मिर्ज़ा नाथन तो स्वस्थ हो गए और मीर शम्स मौत के मुंह में चला गया।

मुहम्मद फ़र्रुखसियर के युग में तक़ी नामक भगतिया 'सामरी' जादू का बड़ा जानकार था। शिवदास लखनवी ने उसके बारे में लिखा है:

"तक़ी नामक भगतिया ने संगीत, नृत्य और सामरी जादू की कलाओं का ऐसा प्रदर्शन किया कि शाह और दर्शक बहुत प्रभावित हुए। पुरस्कारस्वरूप बड़ी धनराशि प्राप्त की, जिसको अपने मुहल्ले के लोगों के कल्याणकारी कार्य में लगा दिया।"

मुहम्मद शाह बादशाह के वज़ीर मुहम्मद अमीन की मृत्यु जादू के कारण हुई थी। 'तबातबाई' ने इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया है–

'नमूदो-अनमूद' ने अपने जादू-टोनों और करतबों से इतनी लोकप्रियता अर्जित कर ली थी कि फ़र्रुख सियर बादशाह भी एक सवाली की तरह उसकी सेवा में हाजिर हुआ था। इस कारण लोग उस जादूगर का और अधिक सम्मान करने लगे थे। जादूगर को इससे बड़ा लाभ हुआ। जब मुहम्मद शाह बादशाह के युग में मुहम्मद अमीन वज़ीर बना तो उसने इस ढोंगी को क़ैद और क़त्ल करने का हुक्म दिया। जब सरकारी सिपाही नमूदो-अनमूद के तकिए पर पहुंचे तो इस ख़बर से वह भयभीत हो गया लेकिन उसने धैर्य नहीं छोड़ा। उसने अपने बेटे दीद को जौ और गेहूं की रोटी के साथ बाहर भेजा और यह पैगाम दिया, "आप लोगों ने बड़ी तकलीफ़ गवारा की है, लिहाज़ा कुछ खा लीजिए। फक़ीर भी अभी आता है।" अभी वज़ीर के भेजे हुए सिपाही नमूदो-अनमूद के दरवाज़े पर ही थे कि उन्हें खबर मिली कि अभी-अभी वज़ीर की हालत बिगड़ गई है। यह बात सुनते ही वे लोग वज़ीर के दरवाजे पर वापस आ गए। जब वज़ीर की बेहोशी कुछ दूर हुई तो उसने हुक्म की तामील की बात दोहराई। लेकिन अभी मौत का खतरा बना हुआ था। वज़ीर के बेटे ने नमूदो-अनमूद की ख़िदमत में नज़्र भेजी और ताबीज़ देने का निवेदन किया। उसने जवाब दिया, "तीर अज़ शस्त जस्ता ओ आब अज़ जूमी रफ़्ता बा नमी आयद।"

अर्थात् कमान से निकला हुआ तीर और नहर से निकला हुआ पानी फिर वापस नहीं आता। अंततः मुहम्मद अमीन की इसी जादू के कारण मृत्यु हो गई।

मिर्ज़ा मज़हर जान जानां ने स्त्रियों की जादूगरी को खत्म करने के हर संभव प्रयास किए। यहां तक कि उन्होंने यह प्रतिबंध लगा दिया था कि जादू-टोने करने वाली स्त्रियों को वे धार्मिक शिक्षा नहीं देंगे।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में मिसेज़ मीर हसन अली ने लिखा है:

"मुझे एक आदमी भी ऐसा नहीं मिला जो यह विश्वास न रखता हो कि प्रेतात्माएं किसी के वश में रहती हैं। अक्सर अपने पड़ोसियों पर इस बात का संदेह किया जाता था।"

विशेष रूप से दीवाली के त्यौहार के अवसर पर जादू और टोने-टोटके किए जाते थे। मिर्ज़ा क़तील के अनुसार इन दिनों बच्चों के गले में नीबू भी डालते थे। यह क्रिया इसलिए की जाती थी कि इन्हीं दिनों में लोग अपने शत्रुओं पर टोने-टोटके किया करते

थे। कई लोग मसूर की दाल, ज़ीरा, पीली लकड़ी, आटे का पुतला (शत्रु का प्रतीक) आदि बाज़ार में गाड़ देते थे ताकि शत्रु वहां से निकले तो उसे बला लग जाए या बीमार हो जाए।

प्राचीन समय से भारत में बंगाल के जादूगर प्रसिद्ध हैं। बेद मुश्क नामक वृक्ष के पत्तों को झाड़ फूंक कर जादू के काम में लिया जाता था।

विवाह के अवसर पर होने वाले नेग

विवाह के अवसर पर तरह-तरह के नेग किए जाते थे और आज भी नेग अनिवार्य हैं। उदाहरण के लिए दूल्हे के घर के बाहर दीवारों पर विचित्र प्रकार की आकृतियां बनाई जाती थीं। मूसल से नाड़ा बांधा जाता था। इसके अलावा ऐसी बहुत सी रस्में थीं जिनका इस्लाम से दूर का भी संबंध न था और भारतीय प्रभाव के कारण वे रस्में मुसलमानों में रिवाज पा गई थीं। इन रस्मों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। बरात प्रस्थान से पूर्व टोने-टोटके किए जाते थे। रिश्ते की बातचीत शुरू होने से पहले लड़के का बाप सगुन निकलवाता था। मिसेज़ मीर हसन अली का बयान है कि कागज की कई पर्चियां काटी जाती थीं। उनमें आधी पर 'होना' और आधी पर 'न होना' लिखा जाता था। इन सभी पर्चियों को गड्डमड्ड किया जाता था और जानमाज़[15] के नीचे रख दिया जाता था। लगन धरने, बरात की रवानगी और निकाह की साइत निकालने का काम सैयद को अच्छी-खासी सिरदर्दी पैदा कर देता था। शादी के बाद दुर्भाग्य से अगर कुछ अशुभ घटित हो जाए तो इसका अर्थ यह लगाया जाता था कि शादी शुभ लगन में नहीं हुई है। हज़रत इमाम कासिम की शादी के मौके पर जो हादिसे पेश आए, 'सौदा' ने इसका कारण बदसगुनी बताया है:

> यारो सितम तो ये सुनो चर्खे-कुहन का
> ठाना है अजब तरह से ब्याह इब्ने-हसन का
> संजोग में कुछ बांधा है दूल्हे से दुल्हन का
> जो तार कफ़न का है सो डोरा है लगन का

इसी तरह शादी में बाबा फ़रीद के 'पूड़ा' का विशेष ध्यान रखा जाता था। मिर्ज़ा क़तील के अनुसार अगर कोई चाहे की शादी में पूड़ा न हो तो, यह किसी तरह संभव नहीं था। कारण यह है कि भारत में विवाह स्त्रियों के अधिकार क्षेत्र में आता है। विवाह में स्त्रियों की उपस्थिति शुभ और आवश्यक समझी जाती थी। यदि उन्हें शामिल न किया जाए तो वे बुरा मानती हैं और अपशकुन के कारण उन्हें रातभर नींद नहीं आती। शादी के बाद यदि किसी को कोई बीमारी हो जाए या दूल्हा-दुल्हन में से किसी की

मृत्यु हो जाए तो इसका कारण रस्म को तोड़ना माना जाता था। स्त्रियां हर अशुभ कार्य का कारण रस्म को तोड़ना मानती हैं।

न्योछावर करना

बुरी नज़र और बलाओं से सुरक्षा के उद्देश्य से न्योछावर की प्रथा का पालन किया जाता था। जब नए बादशाह की तख़्तनशीनी होती थी या वह युद्ध जीत कर सकुशल वापस आ जाता था तों इस अवसर पर निसार (न्योछावर) उतारी जाती थी। और न्योछावर की नक़दी और चीज़ें गरीबों और याचकों में बांट दी जाती थीं।

औरंगज़ेब की तख़्तनशीनी के अवसर पर इस प्रथा का पालन किया गया था। मुहम्मद साक़ी मुस्तैद ख़ां का कथन है कि ''बादशाह पर बेशुमार रुपये और अशर्फियां न्योछावर की गई थीं। उपयुक्त लोगों को तरह-तरह के इनाम दिए गए।'' मुहम्मद शाह जब सैयद अब्दुल्लाह ख़ां से जंग जीतकर शाही महल में दाखिल हुआ तो औरतों ने द्वार पर उसका बड़ी गर्मजोशी से स्वागत किया, बधाई दी और रुपयों से भरे थालों को उसके सिर पर से उतार कर गरीब लोगों में बांट दिया था।

शाह आलम सानी ने अपने खास शायराना अंदाज में अपनी बारहवीं तख़्तनशीनी के मौके पर यह शेर कहा था,

हजरत रसूल मक़बूल की नियाबत कीजिए
और दीजिए वार-वार हीरा-मोती लाल
शाहे आलम बादशाह तुमको मुबारक हों
जश्न हज़ारों ऐसे जैसे बारहवां साल।

इसी तरह दूसरे अवसरों पर भी यह रस्म अदा की जाती थी। जैसे, जब दुल्हन को डोली पर सवार कर दिया जाता और कहार डोली उठाकर रवाना होते थे तो वर पक्ष के लोग डोली पर न्योछावर करते थे।

विविध प्रथाएं

1. कई घरों में कुंवारी लड़की का होना अशुभ माना जाता था। इसी तरह मुरब्बा या अचार किसी पुराने मित्र के घर से मंगा कर खाया जाता था। लेकिन घर पर तैयार नहीं किया करते थे।

2. सफर[16] के महीने में तेरह दिन अशुभ माने जाते थे।

3. आमतौर पर मंगल और शनिवार को अशुभ समझा जाता था।

4. *सिर पर चोटी रखना*–शाह मदार या सालार मसूद ग़ाज़ी या किसी दूसरे बुज़ुर्ग के नाम की चोटी बच्चों के सिर पर रखी जाती थी। मन्नत के लिए ऐसा किया

जाता था। जब वह अवधि पूरी हो जाती थी तो बच्चे को उस बुज़ुर्ग की मज़ार पर ले जाते थे और वहां चोटी कटवाई जाती थी।

5. *बद्धी या बेड़ी*-बद्धी डोरे की रेशम की बनी हुई एक चीज़ होती थी। यह बाज़ार में बिकती थी। लोग उसे खरीदकर शाह मदार के उर्स के दिन बच्चों के गले में डालते थे। इसी तरह बेड़ियां पैरों में डाली जाती थीं। शाह मदार के अलावा किसी दूसरे बुज़ुर्ग के नाम की बेड़ी भी बच्चों के गले में डाली जाती थी। मुझे अच्छी तरह से याद है कि बचपन में मेरे भाईयों के पैरों में बड़े पीर की बेड़ियां डाली गई थीं। इसके पीछे भावना यह थी कि वे हर बला और बीमारी से बचे रहें। बुंदेलखंड के ज़िलों में शाह मज़ार की बद्धी और बड़े पीर की बेड़ियों का चलन आज भी पाया जाता है।

6. जब चेचक का प्रकोप होता है तो मुसलमानों के घरों में तरह-तरह के टोने-टोटके किए जाते हैं। मिसाल के लिए मालिन फूल लेकर आती है। इन दिनों मांस नहीं पकाया जाता। आमतौर पर शीतला देवी की पूजा होती है। मिर्ज़ा जानजानां ने इस विषय में लिखा है-

''चेचक निकलने के समय, जिसे हिंदी ज़बान में शीतला कहते हैं, शायद ही कोई औरत हो जो इस तरह के टोने-टोटके न करती हो।''

सामान्यतया लोगों का यह विश्वास था कि बच्चों का जीवन और मृत्यु शीतला देवी के अधिकार में है। देवी का नाम सम्मान के साथ लेते थे। देवी के रूठने की लोगों को बड़ी चिंता होती थी। संतरियों और बागवानों से बड़े सम्मान के साथ बात की जाती थी। ऐसी मान्यता थी कि इन लोगों पर देवी की कृपा होती है। जब तक बच्चों को चेचक रहती तब तक घर में साबत मसूर की दाल और गेहूं की रोटी के अलावा और दूसरी चीज़ नहीं बनाई जाती थी।

एक और बड़ी रोचक प्रथा का ज़िक्र मिलता है। कहा जाता है कि नवाब आसफउद्दौला के बेटे को चेचक निकल आई। भारतीय प्रथा के अनुसार नवाब और उनकी बेगम ने अपने हाथों में भीगे हुए चने लेकर गधों को खिलाए और इसके प्रभाववश बच्चे को चेचक के रोग से मुक्ति मिल गई। 'जुरअत' ने अपनी मस्नवी 'दर हिजू चेचक' में इन प्रथाओं का उल्लेख किया है-

न पूछो जो कि है चेचक कि शिद्दत
चने गोदी में भरकर कोई औरत।
गधा लाने को पूछे है पड़ावा।
कोई माता का पूजे है पुजाया।
कहां है अब सदा-ए-रब्त ओ ने
मगर दज्जाल[17] का बाजा बजे है।

बजे क्यों कर न उसके आगे बाजा
भवानी सिंह ही है अब तो राजा।
न जिसके घर में घोड़ा है न घोड़ी
कहे है वो भी क्यों जी बाग मोड़ी।
किसी औरत की है अब ये ज़बानी
करम कर जल्द ऐ माता भवानी।
कोई रस्सी गले में बांधती है
किसी की शक्ल जोगन की बनी है।
नहीं बदली कई दिन से जो पोशाक
कहूं कपड़ों का मैं अहवाल क्या ख़ाक।
उठाना कौड़ियां कितनों का मामूल
घड़ोंची नीचे रखती है कोई फूल।
बदन उसकी तपिश से जल गया सब
लगे इस सीतला को आग या रब।
गवैयों को यही तक अब तो काफी
कि सुखदानी बड़ी माता भवानी।
यही है अब तो आम की ज़बानी
कि है गोपाल भी गोया भवानी।
ये मौसीक़ी की अब तो हो गई रीत
कि हर एक सीतला के गाए गीत।

कोई लड़की की अपनी देख सूरत
कहे है दूंगी माता तेरी मूरत।
अगर चंगा हुआ मेरा ये भइया
पकाऊंगी कई पकवान मइया।
सुखी होकर फिर अपने घर से गाती
चलूंगी पूजने बाजन बजाती।
यही सब गाएं सब धुन में गत की
मैया राह बतला दे मुकत की।
कमावें ख़ाक सबको बे कली है
हर एक मुजरे को गोड़ गांवे चली है।
मगर एक फूल वाले हाथ उठा के
कहें हैं हार हैं जी मोतिया के[18]

बच्चों के गले में हंसली, तावीज़ और शेर के नाखून पहनाना

अपवित्र आत्माओं से रक्षा के लिए बच्चों के गले में तांबे या चांदी की हंसली डाली जाती थी। कभी-कभी शेर के नाखून धागे में बांध कर गले में डाल दिए जाते थे। तरह-तरह के रोगों और बलाओं से बचने के लिए तावीज़ भी बांधे जाते थे।

भारतीय मुसलमानों में यहां के सांस्कृतिक तत्व इस सीमा तक घर कर चुके थे कि वे यह भूल गए थे कि इन तत्वों का संबंध उनकी पुरानी धरती से दूर-दूर तक नहीं है। हज़रत इमाम क़ासिम के बचपन का स्मरण करते हुए मुहम्मद रफी 'सौदा' ने अनेक रस्मों का ज़िक्र किया है। हालांकि ये रस्में इस्लामी देशों में न कल पाई जाती थीं, न आज पाई जाती हैं। ये विशुद्ध रूप से भारतीय हैं-

हैकल में डाले थे तेरे लाखों तरह के मैं तावीज़
बुरी घड़ी कुछ काम न आवे जो हिफ़ाजत की कुछ चीज़।
शेर के नाखुन तक डाला जीने को तुझ हैकल में
मौत की रूबा से न बचा पर आन के तू इस जंगल में।[19]

मिसेज़ मीर हसन अली का यह कथन बहुत महत्व रखता है कि-

"बच्चों के जन्म के दिन से उन्हें तावीज़ गंडों से लैस कर दिया जाता है। और अगर कोई इस बात का उपहास करता है तो रूढ़ियों पर विश्वास करने वाले लोग उसे नास्तिक और भ्रष्ट कहने लगते हैं।"

लोगों का गंडों-तावीज़ों में इतना विश्वास था कि हर विपत्ति और बीमारी से बचने के लिए इनका उपयोग करते थे। भिन्न-भिन्न बीमारियों के लिए अलग-अलग तावीज़ दिए जाते थे।

मनगढ़ंत संज्ञाओं के रोज़े

अलबेरूनी ने भारत में प्रचलित रोज़ों की किस्मों पर चौरासी अध्याय में प्रकाश डाला है। उसके अनुसार हिंदुओं की दृष्टि में रोज़े मात्र भावनाओं से संबंध रखते हैं। यह उनका धार्मिक कर्तव्य नहीं है। रोज़े का अर्थ है एक निश्चित समय तक आहार ग्रहण न करना। रोज़े की अवधि और इससे जुड़ी औपचारिकताओं के साथ रोज़े के अनेक भेद हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए औसत दर्ज़े का रोज़ा वह है कि जिसमें रोज़े की शर्त पूरी हो जाती हो और जिसके लिए एक दिन निश्चित कर लिया जाता है। जिसके लिए रोज़ा रखा जाता है उसे खुश करना इसका उद्देश्य है। मिसाल के लिए अल्लाह या कोई फ़रिश्ता या देवता या कोई दूसरा व्यक्ति जिसका नाम दिल में रखे। फिर रोज़ा रखने वाला व्यक्ति रोज़े से एक दिन पहले दोपहर को खाना खाए, दांत-मुंह साफ करे और

दूसरे दिन रोज़े का निश्चय करे। इसी क्षण से आहार को त्याग दे। जब रोज़े के दिन की सुबह हो तो स्नान के बाद दूसरे काम करे। और हाथ में पानी लेकर चारों दिशाओं में फैंके, जिसके लिए रोज़ा रखा है उसका नाम ज़बान से लेता रहे। रोज़े के दूसरे दिन सुबह तक इसी हाल में रहे। जब सूर्योदय हो जाए तो इफ्तार[20] करे।

इसी तरह व्रत के दिन निश्चित किए जाते थे और हर महीने के शुक्ल पक्ष की अष्टमी और एकादशी को आमतौर पर व्रत रखा जाता था। अधिक मास में (लौंद का महीना) ऐसा होता है क्योंकि इस माह को अशुभ माना जाता है और इसमें कोई शुभ कार्य नहीं होता। एकादशी का संबंध वासुदेव से है। कारण यह था कि जब वासुदेव मथुरा के राजा हुए तो इससे पहले वहां के लोग एक दिन राजा इंद्र के नाम का मेला लगाते थे। वासुदेव ने उन्हें प्रेरित किया कि वे इस मेले को एकादशी के दिन लगाया करें ताकि इस मेले का संबंध उनके साथ जुड़ जाए। मथुरावासियों ने ऐसा ही किया।

यह अनुमान होता है कि इस मेले से प्रभावित होकर मुसलमानों ने भी हज़रत ग़ौस आज़म की ग्यारहवीं के जलसे का आयोजन शुरू किया।

इसी तरह मुसलमान औरतों ने बहुत से काल्पनिक रोज़े किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम से रखने शुरू कर दिए थे और उन्हें इस्लामी रंग दे दिया था। हर रोज़े को खोलने के लिए अलग-अलग प्रकार की खाद्य सामग्री जुटाई जाती थी। उनका विश्वास था कि अमुक व्यक्ति के नाम का रोज़ा रखने से उनकी अमुक मनोकामना पूरी हो जाएगी।

प्रेत आत्माओं में विश्वास

प्रेत आत्माओं के प्रभाव पर भारत में जितना विश्वास किया जाता है उतना संसार के किसी देश में देखने को नहीं मिलता। मिसेज़ मीर हसन अली का कथन है–

''यहां के शिक्षित और अशिक्षित सभी लोग भटकती हुई आत्माओं में विश्वास करते हैं। यदि किसी व्यक्ति को दौरा पड़ जाए तो देखने वाले यह कहते हैं कि उस पर किसी अपवित्र आत्मा का प्रभाव है।''

वे इससे आगे लिखती हैं–

''अगर अचानक कोई बीमार पड़ जाए और डाक्टर रोग का निदान करने में नाकाम रहे तो यही अनुमान किया जाता है कि रोगी पर कोई भूत प्रेत सवार हो गया है। ऐसी हालत में शहर के जानकार लोगों से प्रार्थना की जाती थी कि वे रोगी के स्वास्थ्य लाभ के लिए दुआ करें। इन बुजुर्गों से तावीज़ लिखवाए जाते थे। लोगों की आस्था है कि इन तावीज़ों के असर से सवार प्रेतात्मा तुरंत ही उस व्यक्ति को आज़ाद कर देगी और फिर कभी लौट कर नहीं आती।''

औरतों के विश्वास के अनुसार शेख सद्दू आदि सात लोग तथा सात औरतों के हाथों में किसी भी औरत के भाग्य को बनाने और बिगाड़ने का अधिकार है। जिस पर ये चौदह मेहरबान हो जाएं तो वह हमेशा सुख में रहता है। अगर ये नाराज़ हो जाएं तो आदमी हमेशा बीमार रहता है। दिन रात चक्कर आते रहते हैं। अगर ये आत्माएं किसी औरत के सिर पर आ जाएं अर्थात उसमें प्रवेश कर जाएं तो औरतें शाम ही से साफ सुथरे मकान में धुला फर्श बिछाकर जमा हो जाती हैं। और सारी रात गाती बजाती हैं। प्रायः शेख़ सद्दू की आत्मा औरतों में प्रवेश कर जाती थी और इससे मुक्ति के लिए बैठक होती थी, मिठाइयां बांटी जाती थीं और बकरे की कुर्बानी दी जाती थी। उनका ऐसा मानना था कि इससे प्रेत बाधा दूर हो जाएगी।

इन सात लोगों के नाम इस प्रकार हैं–शेख़ सद्दू, ज़ीन ख़ां, नन्हे ख़ां, सदर जहां, चेहलतन, शाह दरिया और शाह सिकंदर। उन सात औरतों के नाम इस प्रकार हैं–लाल परी, सब्ज़ परी, स्याह परी, ज़र्द परी, आसमान परी, दरिया परी और नूर परी। इनमें से हर एक बारी बारी से औरत में प्रवेश करते हैं। इसके अलावा औरतों के तौर तरीक़ों से रहने वाले आदमी भी कभी कभी इन आत्माओं को अपने भीतर उतार लेते थे। वे इनके लिए रंगीन कपड़े, आभूषण और बुक्चा रखते थे। पुरुषों में शाह दरिया और शाह सिकंदर दूसरों से बड़े समझे जाते थे। इन्हें नूरी शहज़ादे भी कहा जाता था। इनको आपस में सभी भाई बताते थे और परियां इनकी बहनें थीं जो एक ही कोख से जन्मी थीं। इस विश्वास को औरतों के मन से निकालना असंभव था।

मार्गांतरण–यह भी एक आम प्रथा थी कि जिस मार्ग से जाते थे, उस मार्ग से वापस नहीं आते थे। बादशाह और अमीरों का वर्ग इन बातों को बहुत मानता था।

चिराग़ी बराय हाजत–मनोकामना पूरी हो जाने पर लोग किसी बुजुर्ग की सेवा में कुछ नक़दी भेंट करते थे। इस रस्म को चिराग़ी बराय हाजत कहा जाता था।
मध्यकाल में तथा आज भी अगर कोई व्यक्ति घर से बाहर जा रहा हो और इस समय कोई छींक दे तो इसे अपशकुन समझा जाता है। इस काम को अक्सर टाल देते थे और आज भी टाल देते हैं।

कूचा चेलान मुहल्ले (दिल्ली) के कई दरवाजे थे। भीतर एक कुआं था जो परियों के कुएं के नाम से मशहूर था। शबे शहादत को हज़ारों मुसलमान औरतें अपनी मुराद पूरी करने के लिए इसमें दो पुड़िएं डाला करती थीं–एक फूल की दूसरी शीरीनी की। और जब किसी की मुराद पूरी हो जाती तो वह हलुआ का एक कूंडा लाकर बहुत-सी औरतों को खिलाती थी। उस रात को इस कुएं पर बड़ा जमघट होता था।

तिल शकरी की प्रथा केवल आम लोगों में ही नहीं बल्कि शाही खानदान तक में प्रचलित थी। एक बार संक्रांति के अवसर पर पटेल (माधवराव सिंधिया) ने शाह आलम बादशाह की सेवा में तिल शकरी प्रस्तुत की थी। बादशाह ने ज़नानख़ाने में जाकर खुद भी खाई और बेगमों को भी खिलवाई। इस पर एक मुंह चढ़ी बेगम बोली, ''क़ुसूर माफ़, हिंदुस्तान में यह रस्म है कि बांदी, गुलाम या घोड़ा खरीदते हैं तो उसे तिल शकरी खिलाते हैं ताकि वफादार निकले। हुजूर ने पटेल की तिल शकरी खाई है तो वफ़ादारी भी बरतनी होगी।''

जिस तरह हिंदुओं में किसी हर्ष के अवसर पर सत्यनारायण की कथा की जाती है उसी तरह मुसलमानों ने मन्नत के तौर सैयदा की कहानी को मानना शुरू कर दिया और बड़ी दिलचस्प बात यह है कि सत्यनारायण कथा और जनाब सैयदा की कहानी के कुछ प्रसंग बिल्कुल एक समान हैं।

मुगल दरबार में यह रस्म थी कि बादशाहों को नज़्र पेश करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि राशि समसंख्या में न होकर विषम संख्या में हो जैसे 51 या 101 आदि। यह रस्म मुसलमानों में अब भी जारी है। और शादी-विवाह के मौक़े पर बरती जाती है। दूल्हे को सलामी में जो राशि दी जाती है वह भी विषम होती है। यह प्रथा भी हिंदुओं से आई है।

स्त्रियों के गर्भवती होने से लेकर बच्चे के जन्म तक बहुत सी प्रथाओं का पालन किया जाता था, जिनका इस्लाम से कोई संबंध नहीं था। ये रीतियां स्थानीय प्रभाव का परिणाम थीं। चिल्ला और स्नान आदि की रीतियां इतनी मान्यता प्राप्त कर चुकी थीं कि पशुओं के गर्भ धारण करने पर भी इनका पालन किया जाता था। मीर तक़ी 'मीर' के यहां एक बिल्ली थी और जब कभी वह बच्चों को जन्म देती थी तो वे मर जाते थे। 'मीर' ने इन बच्चों की जिंदगी के लिए कुछ रस्में की थीं, जिनका संबंध अंधविश्वास से था-

हामिला होकर कई बच्चे दिए
एक दो भी सो न इनमें से जिए
मुत्सल ऐसा हुआ जो इत्तफ़ाक़
मर्ग बच्चों की गुज़री सब पे साफ़
हिफज़ा उसकी कोख का लाज़िम हुआ
झाड़े-फूंके का हर एक आज़िम हुआ
नज़्रें मानीं नक्शा लाए ढूंढ कर
नील के डोरों में बांधे पेट पर
छीछड़ों पर बाज़ों ने अफ़सूं लिखे

बाज़ों ने तावीज़ लेकर खूं लिखे
बी बलाई से बहुत की इल्तिजा
गर्बा-ए मेहराब से चाही दुआ
गोश्त की चीलों को फेंक बोटियां
माश की मोटी पकाएं रोटियां
लड़कियां मिठाइयां खाटों तले
इस तरह जूं दुबकी बिल्ली कम मिले
देते टुकड़ा मुंह को हर एक खोलते
और बोली बिल्लियों की बोलते
सदक़े उतरे छीछड़े जो ढेर ढेर
गर्बा-ए-लावा ने खाए होके सैर
थीं मुनाजातें दिन शब लातादाद
गर्बा-ए-जाहिद से भी चाही मदद
बो हरीरा के तईं माना बहुत
बिल्लियों को भी दिया खाना बहुत।

ऐसा माना जाता था कि बी बलाई की कृपा से बच्चों का जन्म होता है और जीवित रहते हैं।

पांच बच्चे उसने इस नौबत किए
बारे बस दे कुदरत हक़ से जिए
क्यों न ऐसी होवे इम्दाद सतर्ग
बी बलाई बो हरीरा बस बुजुर्ग[21]

मज़ारों पर झंडे व निशान लेकर जाना

प्राचीन काल से हिंदुओं में यह प्रथा चली आ रही थी कि वे लोग देवी-देवताओं के मंदिरों पर वार्षिक मेले आयोजित करते थे। विशेष रूप से श्रद्धालु अपने हाथों में झंडे लेकर शामिल होते थे। मुसलमानों ने भी इस प्रथा को दूसरे रूप में अपना लिया। उन्होंने के मज़ारों पर झंडे या निशान लेकर जाना शुरू कर दिया। मध्यकाल में इन झंडों को छड़ी या नेज़ा कहते थे। हिंदू-मुसलमान दोनों इन बुजुर्गों के प्रति श्रद्धा रखते थे। वे साथ-साथ छड़ियां लेकर उर्स और मेलों में भागीदारी के लिए जाया करते थे। राय चतुर सेन कायस्थ और दूसरे लेखकों ने उन छतरियों के जुलूसों का सविस्तार वर्णन किया है जो दिल्ली से निभिन्न दिशाओं में रवाना होते थे।

छड़ी ख़्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती अजमेरी

ख़्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती (निधन 1235 ई.) की मज़ार अजमेर में स्थित है। भारत के हिंदू और मुसलमान दोनों ख़्वाजा साहब में बड़ी श्रद्धा रखते हैं और दूर-दूर से लाखों की संख्या में उसके मेले में शरीक होने के लिए आते हैं और ख़्वाजा साहब के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में सत्रहवीं जमादी उलसानी को हौज़शम्स के पास स्थित ख़्वाजा कुतबुद्दीन बख़्तियार 'काकी' की दरगाह पर श्रद्धालुओं की भीड़ की भीड़ जमी होती थी। लोग नेज़े खड़े करते थे और अजमेर के लिए रवाना होते थे।

छड़ी ज़ाहिर पीर या गोगा पीर

इनकी मज़ार मेवात के इलाके में किसी पहाड़ी पर बताई जाती है। अर्फी महीने के सलोनों के दिन भूली-भटियारी नामक स्थान पर नेज़े खड़े करके मेवात की ओर गोगा पहाड़ी के लिए रवाना होते हैं।

छड़ी गाज़ी मियां या बाले मियां

अर्फी महीने की सत्रहवीं को गाज़ी मियां की छड़ियां खड़ी की जाती थीं। और ज़ियारत करने वाले बहराइच के लिए प्रस्थान करते थे। इन दिनों उनकी दरगाह पर बड़ी धूमधाम रहती थी और तीन दिनों तक लोग उनकी दरगाह पर इबादत करते रहते थे। आस-पास के लोग अपनी मनोकामनाओं के पूर्ण होने की इच्छा के साथ आकर चादरें चढ़ाते थे। लोग यह ज़ियारतें अपना परलोक सुधारने की भावना के साथ करते थे। 1857 के विद्रोह से पूर्व दिल्ली के लोग लाल किले के नीचे छड़ियां खड़ी करते थे लेकिन इसके बाद जामा मस्जिद (दिल्ली) के पास खड़ी की जाने लगी थीं और इसी स्थान से बहराइच ले जाते थे। दिल्ली में ग़ाज़ी भड़भूंजा नाम का एक आदमी था जो ग़ाज़ी मियां की छड़ियों का वार्षिक जलसा आयोजित करता था और उसमें सैकड़ों रुपये खर्च किया करता था। इस जलसे की विशेषता यह थी कि तीन दिन तक ये छड़ियां बराबर खड़ी रहती थीं। वह अपनी दुकान में जामा मस्जिद की एक नक़ल रखकर उसके आगे एक कृत्रिम बाग और उसमें फ़व्वारा और हज़ारा लगाया करता था तथा बड़े पैमाने पर रोशनी किया करता था। नौबत बजती थी। झाड़फ़ानूस और कुमकुमे रोशन होते थे। तरह-तरह की आतिशबाज़ी छूटती थी। स्त्री-पुरुष जमा होते थे और एक सुहाना दृश्य दिखाई देता था।

छड़ी सरवर सुल्तान या सुल्तान सख़ी सरवर

माघ के पहले सोमवार को सुल्तान सख़ी सरवर की छड़ियां रवाना होती थीं। प्रायः शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया की बावड़ी के सामने ये छतरियां खड़ी की जाती थीं और ज़ियारत करने वाले 'लक्खी' जंगल के लिए प्रस्थान करते थे। 1857 के बाद लाहौरी दरवाजे (दिल्ली) के बाहर खड़ी की जाने लगी थीं और फिर वहां से लोग मुल्तान के लिए रवाना होते थे। यह भी एक अच्छा खासा मेला होता था। बड़ी तादाद में लोगों की भागीदारी होती थी। मिर्ज़ा क़तील ने लिखा है कि जिस तरह निम्न वर्ग के मुसलमान शाह मदार की मज़ार पर हर साल इकट्ठे होते थे उस तरह हर शहर के बाहर सख़ी सरवर के नेज़े भी उठाए जाते थे और पराही[22] हर झंडे के नीचे ढोल और ताशे बजाते थे तथा अपने पीर की प्रशंसा में गीत गाते थे। वे खुद भी नाचते थे और दूसरों को भी नचाते थे।

छड़ी शाह मदार-उल-मारूफ बामदार साहब

जमादी उल अव्वल[23] में बारह पल्ला (दिल्ली) के पास छड़ियां खड़ी की जाती थीं। इस महीने की पंद्रहवीं तारीख को मकन पूरे जाते थे। इन दिनों में एक बड़ा मेला लगता था। यह मेला अब भी लगता है। दूर-दूर से लाखों व्यापारी और ज़ियारत करने वाले यहां आते थे। मेला तीन दिन का होता था। मदारी और फ़कीर नगाड़े, नरसिंहे और तूरी बजाते हुए अपने मुरीदों के साथ झुंड के झुंड बनाकर वहां पहुंचते थे। हर झुंड का एक अगुवा होता था। दूर से आने वाले लोग रास्ते में पड़ाव डालते हुए आते थे। मीर हसन देहलवी ने अपनी लखनऊ यात्रा शाह मदार के एक काफिले के साथ की थी। उन्होंने इसका आंखों देखा हाल बड़े ही रोचक अंदाज़ में लिखा है।

दीन के बुजुर्गों की मज़ारों की ज़ियारत

भारत में शायद ही कोई ऐसा गांव, कस्बा या शहर होगा जहां किसी सूफ़ी-संत की मज़ार न हो। इन महापुरुषों को आमतौर पर मख़्दूम साहब के नाम से पुकारा जाता था। वहां के निवासी अपनी सुख-समृद्धि के लिए उनकी दया दृष्टि की आकांक्षा रखते थे। लोग इनकी महानता के गुण-गान किया करते थे।

मज़ारों पर ज़ियारत करने की पद्धति पर हिंदुओं का प्रभाव लक्षित होता है। जिस प्रकार हिंदू लोग अपने मनोरथों को पूरा करने के लिए देवी-देवताओं की पूजा करने मंदिरों में जाते हैं उसी प्रकार ज़ियारत करने वाले मुसलमान भी मज़ारों पर जाकर नज़रें (भेंट) चढ़ाते हैं और मन्नतें मानते हैं। फ़ातिहा और नज़र के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के पकवान बनाए जाते हैं और यह खाना कुछ विशेष लोगों को ही खिलाया

जाता है। सैयद इस्लाम शुहेद लिखते हैं, ''यह हिंदुओं के साथ निकटता का परिणाम है। क्योंकि हिंदू ज्यादातर विभिन्न प्रकार के अनाजों से पूजा करते हैं और पूजा का भोजन कुछ लोगों को कराते हैं, कुछ को नहीं।''

नज़र और नियाज़ की रस्म इस हद तक पहुंच चुकी थी कि खाद्य सामग्री के अलावा पशुओं की नज़र चढ़ाई जाने लगी थी।

कब्रों की पूजा करने का रिवाज भी था। सुल्तान फीरोज़ शाह तुगलक ने 'फतूहात-ए-फिरोज़शाही' में गौर परस्ती या कब्र पूजने का ज़िक्र किया है। यह भी लिखा है कि उसने एक शाही हुक्म से औरतों का मज़ारों पर जाना बंद करवा दिया था। लेकिन सुल्तान स्वयं बुजुर्गों की मज़ारों पर हाज़िरी दिया करता था। और उनसे दया की प्रार्थना करता था।

आम जनता में कब्र की पूजा करने की प्रथा इतनी चल पड़ी थी कि लोग महापुरुषों और साधारण व्यक्ति के बीच अंतर करना भी भूल गए थे। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी एक जाहिल मुतलक़ सुल्तान था। जुमे की नमाज़ तक अदा न करता था। फिर भी लोग उसकी मृत्यु के बाद उसे वली अल्लाह समझने लगे और उसकी कब्र पर मन्नतों के डोरे बांधने लगे।

इस विषय में हैदर क़लदंर का कथन बहुत महत्व रखता है। हज़रत शेख़ नसीरउद्दीन चिराग देहलवी की मौजूदगी में बातचीत हो रही थी। एक आदमी ने कहा कि लोग उसकी कब्र पर ज़ियारत को जाते हैं और अपनी मुराद के धागे बांधते हैं, उनकी मनोकामनाएं भी पूरी हो जाती हैं। बंदे को इस मौके पर एक किस्सा याद आया। वह बयान किया। उन्हीं दिनों में बंदा सुल्तान अलाउद्दीन ख़िलजी की मज़ार की ज़ियारत को गया हुआ था। नमाज़ के बाद ज़ियारत की और वहां पहुंचा जहां लोग कलावा बांधते हैं। हालांकि मेरी कोई कामना नहीं थी फिर भी मैंने अपने रूमाल में से एक डोरा खींचा और वहां बांध दिया। रात को सपने में देखा कि एक आदमी पुकारता है कि वह कौन है जो सुल्तान अलाउद्दीन की क़ब्र पर कलावा बांध गया है। उसके कई बार पुकारने पर मैं आगे बढ़ा और कहा मैंने बांधा है। उधर से सवाल हुआ तेरी क्या इच्छा है? बयान कर। मैंने कहा मेरी कोई इच्छा नहीं है, क्या बयान करूं?

हालांकि सुल्तान फ़ीरोज़शाह तुगलक ने क़ब्र को पूजने की प्रथा को समाप्त करने के बहुत प्रयास किए लेकिन सफलता नहीं मिली। मुगल काल में क़ब्रों की मान्यता बहुत बढ़ने लगी थी क्योंकि मुगल शहंशाह दीन के बुजुर्गों के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। शेख़ सलीम चिश्ती की कृपाओं के प्रभाव से अकबर को पुत्र प्राप्ति तो हो गई लेकिन आम जनता में मज़ारों के प्रति श्रद्धा का भाव और अधिक प्रबल हो गया। लोगों को इस बात का पूरा विश्वास हो गया कि इन बुजुर्गों की कृपा से संतान भी हो सकती है। और संसार का कोई भी कार्य संभव है और केवल इस दुनिया में ही नहीं

बल्कि मृत्यु के बाद भी उनका चमत्कार अपना असर दिखाता है। यही नहीं, अकबर बादशाह भावनाओं के वशीभूत आगरे से अजमेर नंगे पैर ख़्वाजा साहब की ज़ियारत के लिए गया था। अमीरों और गुलामों ने भी इसका अनुकरण करना शुरू कर दिया था। उन्होंने जब यह सोचा होगा कि हिंदुस्तान का बादशाह इतना बड़ा है कि उसके दरबार में दुनिया के लोग सिर झुकाते हैं तो वह कितना बड़ा होगा जिसके दरबार में जाकर बादशाह सिर झुकाता है। यह चर्चा का विषय बन गया। जहांगीर भी बुजुर्गों की मज़ारों पर हाज़िरी दिया करता था। शाहजहां अपनी धार्मिक भावनाओं में अकबर और जहांगीर से कहीं आगे था। जब उसके हरम में लगातार कई लड़कियां पैदा हुईं तो एक दिन विवश होकर उसने भी किसी बुजुर्ग की मज़ार ज़िवसरा करने के बारे में सोचा। शाहजहां ख़्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की मज़ार पर हाज़िर हुआ। श्रद्धा के साथ सिर झुकाने के बाद उसने अपनी पुत्र प्राप्ति की इच्छा व्यक्त की। इसके फलस्वरूप दाराशिकोह का जन्म हुआ। इस प्रकार की घटनाओं से आम जनता का प्रभावित होना स्वाभाविक था। इस प्रकार छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित सभी लोगों ने ज़ियारतों को मनोरथ सिद्ध करने का एक साधन बना लिया। यदि अकबर बादशाह मज़ारों में इतनी आस्था न रखता तो शायद आम जनता में इन भावनाओं का प्रचार इतना अधिक न हुआ होता। बड़ों का अनुसरण सभी करते हैं। जहांगीर और शाहजहां भी मुजद्दित अलिफ सानी शेख़ अहमद सरहिंदी के प्रति बहुत आस्था रखते थे। जहांगीर और शाहजहां का पालन पोषण उस वातावरण में हुआ था जहां शाही महलों में हिंदू माताओं और दासियों की गोद में पलकर बच्चे बड़े होते थे। हर ओर हिंदू आस्थाओं का बोलबाला पाया जाता था। हिंदुओं की जीवन शैली का पूरा-पूरा प्रभाव था। उनकी नस-नस में हिंदू समाज के आचार विचार भरे हुए थे।

औरगंज़ेब की धार्मिक शिक्षा बहुत व्यवस्थित रूप से हुई थी। आरंभ से ही उसका धर्म की ओर बड़ा झुकाव था। वह अपने जीवन को कुरान और हदीस की शिक्षाओं के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता था। साथ-साथ अकबर, जहांगीर और दाराशिकोह के जीवन दर्शन का विरोध करता जाता था। कहा जाता है कि वह ख़्वाजा मुहम्मद मासूम बिन शेख़ अहमद सरहिंदी का मुरीद भी था। तख़्तनशीनी के बाद उसने मुसलमानों की धार्मिक आस्थाओं में सुधार करने का काम शुरू किया और 'फतावी आलमगीरी' का संपादन करवा कर मुस्लिम समाज को शरई[24] सिद्धांतों के आधार पर ढालना शुरू कर दिया। लेकिन उसके निधन के बाद उसके अदूरदर्शी और नासमझ उत्तराधिकारियों के युग में उसके द्वारा किए गए सभी प्रयास धूल में मिल गए। प्रो. ख़लीक़ अहमद निज़ामी ने अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय मुसलमानों के नैतिक और धार्मिक विश्वासों का जायज़ा लेते हुए लिखा है-

"अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय मुसलमानों की नैतिक और धार्मिक स्थिति अत्यंत चिंताजनक थी। उनके सोच और आचार-विचार में ह्रास होने लगा था। नैतिक मूल्यों की पकड़ ढीली हो चुकी थी। समाज-व्यवस्था का ढांचा बिगड़ रहा था।"

औरगंज़ेब के उत्तराधिकारी मुगल बादशाहों के धार्मिक विश्वासों की चर्चा की यहां गुंजाइश नहीं है। इतना कह देना काफी होगा कि इन बादशाहों की दृष्टि में इस्लाम के बुनियादी सिद्धांतों का कोई महत्व नहीं था। उनके संस्कारों में भारतीय संस्कृति रच-बस चुकी थी। उन्होंने मदिरापान, कामवासना और भोगवाद को अपना जीवन दर्शन बना लिया था। शाह आलम सानी को स्वयं अपने परलोक सुधार का संदेह रहता था। देखिए-

सुबह तो जाम से गुज़रती है
शब दिल आराम से गुज़रती है
आक़बत[25] की ख़बर खुदा जाने
अब तो आराम से गुज़रती है।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में क़ब्रों को पूजने की बात यहां तक बढ़ चुकी थी कि शायद ही कोई मज़ार हो जहां लोग अपनी मुरादें लेकर न जाते हों। क़ब्रों की ज़ियारत को हज का दर्जा दे दिया गया और उन्हें सजदागाह बना लिया गया था। मस्जिदें वीरान थीं लेकिन मज़ार आबाद थे। हर साल उर्स के मेले लगते थे। पास और दूर से श्रद्धालुओं की भीड़ की भीड़ आती थी। इस पतन को देखकर शाह वली अल्लाह ने मुसलमानों को संबोधित करते हुए कहा था-

"तुम मदार साहब और सालार साहब की क़ब्रों का हज करते हो। ये तुम्हारे बदतरीन काम हैं।"

यहां दिल्ली की कुछ प्रसिद्ध मज़ारों की महत्ता का वर्णन किया जा रहा है।

क़दम शरीफ़

दिल्ली में इस स्थान पर हजरत सरवरे कायनात के चरण चिन्ह अंकित थे। केवल दिल्ली के ही नहीं बल्कि देशभर के मुसलमान इनका सम्मान करते थे। यहां की धूल को लोग अत्यंत पवित्र समझते थे। यहां अनगिनत सिर सजदे में झुके हुए दिखाई देते थे। लोग हर समय सलाम और दुरूद में व्यस्त रहते थे। जुमे रात (बृहस्पतिवार) के दिन दिल्ली और आसपास के लोग कदम शरीफ की ज़ियारत को आते थे। इतनी भीड़ होती थी कि क़दम शरीफ की ज़ियारत करना दूभर हो जाता था। हर जुमेरात को यही हाल रहता था। रबी-उल-अव्वल[26] के महीने में दिल्ली ही नहीं दूर दूर के मुसलमान

यहां आते थे। कोई बीमार था जो तंदुरूस्ती का अरमान लेकर आया था और क़दम शरीफ़ की मिट्टी आंखों से मल रहा था। किसी की मुराद दुनिया थी किसी की आख़िरत[27] और किसी के दिल में संतान की मुरादें थीं। क़दम शरीफ़ के अहाते का हौज स्वच्छ जल से भरा रहता था। सभी आगंतुक हौज के पानी को पीते, आंखों से मलते और प्रसाद के रूप में बर्तन में भरकर अपने परिवार जनों के लिए ले जाते। इस हौज़ के पानी से नहाना सौभाग्य की बात समझी जाती थी। नहाने वाला स्वस्थ हो जाता था। बारह बफ़ात के दिनों में इसी जगह पर पांच, सात, नौ, ग्यारह और बारह तारीख को बहुत बड़ा मेला लगता था।

क़दम शरीफ़ हज़रत अली

दरगाह कुली ख़ां का कथन है शनिवार के दिन लोग आशिष प्राप्त करने के लिए ज़ियारत को आते थे, अपनी मनोकामनाओं के लिए प्रार्थना करते थे, भेंट चढ़ाते थे। हर व्यक्ति की मनोकामना पूर्ण होती थी।

दरगाह क़ुतबुद्दीन बख़्तियार काकी

यह मज़ार भारतीय मुसलमानों के लिए काबे की भांति पवित्र थी। श्रद्धालुओं की भीड़ लगी रहती थी। विशेष रूप से जुमेरात को बड़ा हुजूम होता था। रबी-उल-अव्वल के महीने में उर्स होता था। उस ज़माने में ज़ियारतें होती, मुरादें मांगी जातीं और चढ़ावे चढ़ाए जाते थे। वर्तमान समय में भी ख़्वाजा मुईन चिश्ती की ज़ियारत करने वाले पहले दिल्ली आते हैं और दरगाह बख़्तियार काकी में हाज़िरी देते हैं। इसके बाद अजमेर प्रस्थान करते हैं। दिल्ली के सभी छोटे-बड़े लोग हज़रत सुल्तान-उल-मशाइख़ की मज़ार पर ज़ियारत करते थे। आज भी यह सिलसिला बदस्तूर जारी है।

दरगाह शेख़ नसीरउद्दीन चिराग देहलवी

यह दरगाह चिराग दिल्ली गांव में स्थित है। उनकी मज़ार पर पहले शनिवार को ज़ियारती इकट्ठे होते थे। मुसलमान और हिंदू दोनों जाकर मुरादें मानते थे। मज़ार के पास एक झरना था। इसका पानी विभिन्न बीमारियों के इलाज के लिए इस्तेमाल किया जाता था। दूर-दूर के मरीज़ मज़ार पर आते थे और झरने के पानी से स्नान करने के बाद ठीक हो जाते थे। इसके अलावा एक यह विश्वास भी प्रचलित था कि निस्संतान दंपति इसमें स्नान कर लें तो संतान हो जाती है। अतएव जहांदार शाह बादशाह ने अपनी बेगम के साथ निर्वसन होकर इस झरने में स्नान किया था।

दरगाह हज़रत तुर्कमान बयाबानी

रजब[28] की तेईसवीं को उर्स भरता था। दिल्ली के सभी निवासी शिरकत करते थे। सभी दिल्ली वाले आपकी पवित्र मज़ार का सम्मान करते थे और अपने कष्ट दूर करने की प्रार्थना करते थे।

दरगाह शाह अज़ीज़ उल्लाह

दरगाह कुली ख़ां का कथन है कि इच्छुक लोग मज़ार पर जाते थे। श्रद्धालुओं में यह मशहूर था कि यहां से आज तक कोई निराश नहीं लौटा।

हाजी मुहम्मद उद्दीन ख़लीफ़ा हज़रत शाहबुद्दीन सहरनवी की दरगाह

हर साल उनके मज़ार पर ज़ियारत करने वालों का तांता बंधा रहता था। लोग दरगाह को चूमते थे। ऐसा करते हुए वे हज के सुख की अनुभूति करते थे।

बीवी ज़ुलेख़ा की दरगाह

आप अकबर युगीन इतिहासकार शेख़ अबुल फ़ज़ल की मां थीं। मज़ार आगरा में है। लोग इनकी मज़ार पर कलावे बांधते हैं।

बाईस ख़्वाजा

बाईस लोग एक जंग में शहीद हुए थे। इनकी मज़ार इटावा में है। हर जुमेरात को लोग यहां हाज़िर होते थे।

नासिर उद्दीन

मज़ार सियालकोट में है। बरसात के मौसम में लोग ज़ियारत के लिए जाते थे। मुल्तान में कई बुज़ुर्गों की मज़ारें थीं जैसे शेख़ बहावउद्दीन ज़करिया, शेख़ रूक्नुद्दीन, शेख़ यूसुफ गरवेज़ी, शेख़ मूसीगीलानी, शमशुद्दीन तबरेज़ी तथा अन्य। लोग इन मज़ारों पर जाकर चढ़ावे चढ़ाते और मुरादें मांगते थे।

शेख़ बूअली क़लन्दर

मज़ार पानीपत में है। शेख़ बनवी की ज़ियारतगाह सनाम में है। शमशुद्दीन की मज़ार दीपाली में है। इन मज़ारों पर सभी छोटे बड़े ज़ियारत को जाते थे।

तुर्बत सीस

लखनऊ शहर में अन्य बुजुर्गों को मज़ारों के अलावा हज़रत सीसबिन, हज़रत आदम पैगंबर अलेहम अस्सलाम की मज़ार थी। आम मुसलमान ज़ियारत के लिए जाते थे।

दरगाह हज़रत अब्बास

लखनऊ के सभी लोग हज़रत अब्बास के श्रद्धालु थे। मिसेज़ मीर हसन अली ने कहा है, ''बीमारी से स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करने के लिए तथा सभी कष्टों से मुक्ति पाने के लिए श्रद्धालु लोग वहां जाते थे।''

इस प्रसंग में बहादुर शाह ज़फर की बीमारी की घटना उल्लेखनीय है। क्योंकि शाह अब्बास की मन्नत मानने पर ही बादशाह को स्वास्थ्य लाभ हुआ था लेकिन सुन्नी मुसलमानों ने इस कारण शिया होने का आरोप लगा दिया। इस आरोप से बादशाह को बहुत कष्ट पहुंचा और उन्होंने इसका खंडन किया। घटना इस प्रकार है कि एक बाद बादशाह सख़्त बीमार पड़ गया। तरह-तरह के उपचार के बार भी स्वास्थ्य नहीं सुधरा। संयोग से उस ज़माने में मिर्ज़ा हैदर रश्क बिन कामबख़्श बिन मीरज़ा सुलेमान शिकोह बिन शाह आलम सानी भी लखनऊ से दिल्ली आए हुए थे और बादशाह के मेहमान थे। बादशाह निराश थे। आगंतुक के परामर्श से बादशाह को ज़ियारत कराई गई तो वह स्वस्थ हो गया। मिर्ज़ा हैदर शिकोह ने यह संकल्प किया था कि अगर बादशाह स्वस्थ हो गए तो वह हज़रत अब्बास की दरगाह पर झंडे चढ़ाएंगे। अतएव लखनऊ पहुंच कर उन्होंने बादशाह की सेवा में एक प्रार्थना पत्र भेजा कि वे चढ़ावा चढ़ाना चाहते हैं लेकिन ये उनकी क्षमताओं से बाहर है अतएव हुजूर इसमें कुछ आर्थिक सहायता करें। फिर बहादुर शाह ज़फर ने कुछ रुपये भेजे और मीरज़ा हैदर शिकोह ने बड़ी धूमधाम से झंडे चढ़ाए। इस जलसे में अवध के शाही खानदान के तमाम लोग, अमीर, रईस और सभी छोटे-बड़े शामिल हुए थे।

सूर्य और चंद्र ग्रहण

अलबरूनी ने 'किताबुलहिंद' के उनसठवें अध्याय में सूर्य और चंद्र ग्रहण के विषय में विस्तृत जानकारी दी है। हिंदू ज्योतिषियों के अनुसार पृथ्वी की छाया के कारण चंद्र ग्रहण होता है तथा सूर्य ग्रहण चंद्रमा के कारण होता है।

बर्नियर ने 1666 ई. में दिल्ली में सूर्य ग्रहण के समय का आंखों देखा हाल लिखा है, जो बड़ा ही रोचक है-

जब ग्रहण का समय आया तो मैं यमुना के तट पर बनी अपनी हवेली की छत पर

जाकर खड़ा हो गया। हज़ारों लाखों हिंदू कमर-कमर पानी में सूर्य की ओर टकटकी बांधे देख रहे थे ताकि ग्रहण के शुरू होते ही गोता लगा लें। छोटी-छोटी लड़कियां और छोटे लड़के बिल्कुल नंगे थे, पुरुष साफ धोतियां बांधे हुए थे, विवाहित स्त्रियां और किशोरियां सिर्फ एक चादर या साड़ी ओढ़े हुए थीं। दिल्ली और आसपास के प्रतिष्ठित लोगों जैसे-राजाओं, अमीरों, दरबार के बड़े अधिकारियों-व्यापारियों और सेठ-साहूकारों ने एक निश्चित स्थान पर नदी के ऊपर कनातें लगवा दी थीं और डेरे बनवा दिए थे। सभी ने परदे की ओट में स्नान किया। ग्रहण को लगता देखते ही हिंदुओं की इस भीड़ ने एक अजीब नारा बुलंद किया और लगातार कई बार गोते लगाए। फिर पानी में खड़े हुए तथा अपनी आंखें और हाथ सूर्य की ओर उठाए। बड़े-बड़े लोग श्रद्धा के साथ पूजा करते और दोनों हाथों में पानी भरकर सूर्य की ओर चढ़ाते थे। कभी दाईं तरफ पानी उछालते कभी बाईं ओर। ग्रहण समाप्त होने तक सभी लोग यही क्रियाएं बार-बार करते रहे और जब जाने लगे तो यमुना में दूर से रुपये, दो अठन्नियां और चवन्नियां आदि फैंकीं और ब्राह्मणों को कुछ दान दिया। मैंने देखा कि हर आदमी ने नदी के किनारे रेत पर अपने नए कपड़े रखे हुए थे। स्नान करने के तुरंत बाद उन्होंने अपने नए कपड़े पहने बल्कि बहुत से लोगों ने, जो ज्यादा ही धर्मात्मा थे, अपने पुराने कपड़े याचकों को दान कर दिए।''

जैसा दिल्ली में युमना तट पर हुआ था ऐसे ही दृश्य सिंध, गंगा और भारत की दूसरी नदियों और जलाशयों पर भी देखे जा सकते थे। कहते हैं कि थानेश्वर में भारत के विभिन्न कोनों से लाखों लोग स्नान के लिए आते थे। सूर्य ग्रहण के दिन इन नदी के जल को अन्य नदियों की तुलना में अधिक शुद्ध और पवित्र समझा जाता था।

इतिहास की किसी पुस्तक में इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि मुसलमानों ने हिंदुओं की ग्रहण संबंधी धारणा को कब और क्यों स्वीकार किया। यह अनुमान किया जाता है कि मूल हिंदुओं ने इस्लाम धर्म अपनाने के बाद अपने प्राचीन संस्कारों को नहीं छोड़ा था। बल्कि उन्हें इस्लामी रंग दे दिया था। इस प्रकार अन्य प्रथाओं और विश्वासों की भांति ये लोग ग्रहण को भी मानते रहे और धीरे-धीरे इन्हें धार्मिक हैसियत प्राप्त हो गई। मिसेज़ मीर हसन अली के निरीक्षण से पता चलता है कि 19वीं शताब्दी के आरंभ में हिंदू और मुसलमान नारे लगाकर ग्रहण के शुरू होने की घोषणा करते थे। विशेष रूप से मुसलमान इस समय तक इबादत करते और रोज़ा रखते थे, जब तक ग्रहण समाप्त न हो जाता। मिसेज़ मीर हसन अली लिखती हैं–

''गरीबों में औरतें अनाज, रुपये, पैसे और तेल सदके के रूप में बांटती थीं। बड़े लोग जरूरतमंदों को इनाम देते हैं। उस ज्योतिषी को दान देते हैं जो बादशाह को ग्रहण लगने की पहली सूचना देता है। एक मंगेतर अपने होने वाले शौहर को सदके में एक

बकरी या बकरी का बच्चा भेजती है, जिसे ग्रहण के दौरान उसकी चारपाई के पाए से बांधे रखते हैं। इसके बाद सदक़ों को ख़ैरात के रूप में बांट दिया जाता है।''

गर्भवती स्त्रियों और पशुओं की सुरक्षा से संबंधित रीतियां भी प्रचलित थीं। मिसेज़ मीर हसन अली के अनुसार–

''उनका विचार था कि अपनी कोख के बच्चे की सुरक्षा के लिए गर्भवती स्त्री को सपने नहीं देखने चाहिए। इस कारण ग्रहण के समय उसे सोने नहीं दिया जाता था। उसे जागने पर विवश किया जाता था। ग्रहण के दौरान उसे सुई, चाकू, कैंची या दूसरे औजार को इस्तेमाल में नहीं लेने देते थे। डर यह था कि इस समय खून निकलना मां और बच्चे दोनों के लिए हानिकर होगा। इस स्थिति में पशुओं का भी ध्यान रखा जाता था। गाय, बकरी और भेड़ आदि के पेट पर गोबर आदि चीज़ों का लेप कर दिया जाता था।''

मूर्तिपूजा

सभ्यता के आरंभ से ही मनुष्य साकार या दृश्यमान वस्तुओं को अपनी भावनाओं का आधार बनाता रहा है। अलबेरूनी ने मूर्ति पूजा पर विचार करते हुए लिखा है–

''साधारण मनुष्य अनुभव को महत्व देता है, तत्वचिंतन को नहीं। तत्व की बातें तत्वचिंतक जानते हैं। हर युग में जिनकी संख्या बहुत कम होती है। साधारण व्यक्ति दृश्य जगत में ठोस उदाहरणों पर विश्वास करता है और इससे उसे सुख की अनुभूति होती है। अतएव अधिकांश धर्मों के लोग पुस्तकों और पूजास्थलों के चित्र बनाने की ओर प्रवृत्त हुए। जैसे यहूद व नसारा[29] और विशेष रूप से मानानिया। इसके पीछे तर्क यह है कि अगर तुम़ किसी आदमी या औरत को नबी सल्लम या मक्का और काबे का चित्र दिखलाओ तो देखोगे कि वह आदमी उस चित्र को चूमेगा, माथे और गालों से लगाएगा। वह इतना अभिभूत हो जाएगा कि मानो उसने स्वयं अपनी आंखों से उन पवित्र स्थानों को साक्षात देख लिया है। उसे हज की अनुभूति होने लगेगी। मिसाल के तौर पर अंबिया औलिया आदि के नाम के बुत बना लिए गए ताकि नजर से गायर रहने और मौत की हालत में इनके हुक्म को याद दिलाता रहे और दिलों में मरते दम तक उनकी प्रेरणा बसी रहे। यहां तक कि इनके बनाने वाले अतीत के गर्भ में चले गए, शताब्दियां बीत गईं। उनका कुछ अता-पता नहीं रहा। केवल रीति-रिवाज की हैसियत से उन पर आचरण करना बाकी रह गया। नियम कानून और हुकूमतें बुतों के माध्यम से ही स्थापित हुईं। क्योंकि आम लोग आंख से दिखाई देने वाले बुत पर जल्दी विश्वास कर लेते हैं।''

इस्लाम से पहले अरबों में भी मूर्तिपूजा का विधान पाया जाता था। मूर्ति की उपासना को खुदा तक पहुंचने का सोपान समझा जाता था। इस्लाम ने मूर्तिपूजा को नष्ट कर दिया। इस कार्य को कुफ्र करार दे दिया। भारत में प्राचीन काल से मूर्तिपूजा चली आ रही है। और आज भी विद्यमान है। भारतीय मुसलमानों में दूसरी प्रथाओं की भांति मूर्तिपूजा की प्रथा भी मिलती थी। कभी कभी तो वे हिंदुओं के देवी-देवताओं की मूर्तियों को पूजते थे। चढ़ावे चढ़ाते थे और हू-बहू हिंदुओं का अनुसरण करते थे। सुजान राय भंडारी ने अपने अध्ययन से यह सिद्ध किया है कि मुसलमान क़ब्र परस्ती के अलावा हिंदुओं की देव प्रतिमाओं को भी मानते थे। हमारा विचार यह है कि एक दो घटनाओं को आधार बनाकर मुसलमानों को मूर्तिपूजक सिद्ध करना उचित न होगा। वास्तविकता तो यह है कि मध्यकाल में इतिहासकार का काम बादशाहों और अमीरों की गाथाओं का वर्णन करना था। इन्हें आम जनता के जीवन, उनके धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाजों से बहुत कम दिलचस्पी थी। अतएव उन्होंने अवाम के जीवन और सामाजिक परिवेश के विषय में कुछ पंक्तियां लिख भी दीं तो वे न के बराबर हैं। अकबर बादशाह के दरबारी हालात में अबुल फ़ज़ल ने उन तमाम रीति-रिवाजों, उत्सवों और त्यौहारों का विस्तृत वर्णन किया है जो दरबार में माने जाते थे, क्योंकि बादशाह चाहता था कि उसकी सहिष्णुता और धार्मिक समदर्शिता की प्रजा के बीच में चर्चा हो। उसका खूब प्रचार हो ताकि वह अपनी हिंदू प्रजा की वफ़ादारी हासिल कर सके। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि भारतीय मुसलमानों की व्यवहारिक आस्थाओं के अध्ययन के लिए यहां के ग्रामीण परिवेश की जानकारी अति आवश्यक है। धार्मिक केंद्रों से दूर रहने वाले देहाती मुसलमान के मनोविज्ञान को समझना जरूरी है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण शहरी मुसलमानों में सुधार करना जितना आसान था गांवों में यह उतना ही कठिन कार्य था। इसीलिए हिंदू से मुसलमान हुए लोग बाद में भी अपनी पुरानी रीतियां निभाते रहे। इनके सुधार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। उस समय आवागमन के साधनों के अभाव में यह काम और भी कठिन हो गया। दूसरी बात यह थी कि देहातों और कस्बों में वे लोग रहते थे जो विशुद्ध भारतीय थे और बाद में मुसलमान बने थे इसलिए वे अशराफ़ को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे।

हां, तो भंडारी ने लिखा है कि कांगड़ा के किले के नीचे भवानी का मंदिर था और भारत के बहुत से निवासी साल में दो बार यहां पूजा करने के लिए जाते थे। देश के विभिन्न भागों से योगी, साधु, संन्यासी, राजा और रंक सभी उपस्थित होते थे। इनके साथ मुसलमान भी सम्मिलित होते थे। हालांकि इनका मज़हब बुतपरस्ती का खंडन करता है।

हिंदुओं को छोड़कर मुसलमान भी, जिनका धर्म मूर्तिपूजा की इज़ाजत नहीं देता,

लंबी यात्रा तय करके यहां आते, चढ़ावे चढ़ाते और ईश्वर की कृपा से उनकी मनोकामनाएं पूरी होतीं।[30]

इस तरह बंगाल के मुसलमानों की औरतें विशेष रूप से भवानी या काली माई की पूजा करती थीं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शीतला माई की पूजा होती थी और चेचक की बीमारी के दिनों में कई रीतियों का पालन किया जाता था। हिंदू और मुसलमान दोनों एक समान भोग चढ़ाते थे। हिंदू मंदिर में जाते थे और मुसलमान मस्जिद में। डा. डी.सी. सेन ने कहा है कि इन विचारों और रीति-रिवाजों के परस्पर मेल-जोल से एक ऐसी सत्ता अस्तित्व में आई जिसे 'सतपीर' के नाम से जाना जाता था। हिंदू और मुसलमान जिसकी एक ही ढंग से पूजा करते थे।

पंजाब के शासक रणजीत सिंह के युग में इस क्षेत्र के मुसलमानों की धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए मिर्ज़ा हैरत ने लिखा है कि मुसलमान पूरी तरह बुतपरस्त बन गए थे। यहां तक कि पीरों और शहीदों की नमाज़ होने लगी थी। पीर-ए-ग़ैब के नाम पर रोज़े रखे जाते थे। शेख़ फ़रीद को दुःखमोचन के रूप में माना जाता था। कहीं शेख अहमद अकबर को मुक्तिदाता समझा जाता था। मुश्किल से कोई ऐसा घर होगा जिसमें किसी पीर-शहीद की क़ब्र न हो और इस पर नियमित सजदे न होते हों। ख़ुदा और नबी को सचमुच सबने भुला दिया था।

इस प्रसंग में चित्रों की पूजा करने का ज़िक्र अनुचित न होगा। बहुत सी ऐसी मिसालें मिल जाती हैं जिनसे अनुमान होता है कि मुसलमानों में चित्रों को पूजने का थोड़ा बहुत रिवाज पाया जाता होगा।[31]

इस सिलसिले में एक महत्वपूर्ण घटना प्रकाश में आई है। मिर्ज़ा मज़हर जानजानां से मिलने के लिए सैयद इस्माइल मदनी मदीना से भारत पधारे। भेंट के बाद मिर्ज़ा ने उनसे कहा कि वे जामा मस्जिद जाकर आसार शरीफ़ की ज़ियारत कर आएं। सैयद इस्माइल मदनी वहां गए लेकिन यह देखकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ कि आसार शरीफ़ के बीच कई महापुरुषों की तस्वीरें रखी हुई हैं जिनकी अवाम ज़ियारत करते थे। वहां से लौटने पर उन्होंने मिर्ज़ा से इस बात का ज़िक्र किया। मिर्ज़ा ने भी इस पर आश्चर्य व्यक्त किया। उन्होंने दिल्ली के बादशाह शाह आलम सानी को इस बारे में लिखा और वे तस्वीरें वहां से उठवा दीं।

त्यौहार

भारतीय मुसलमानों में दो ऐसे त्यौहार भी मनाए जाते हैं जिनका इस्लाम से दूर का संबंध भी नहीं हैं। यह विशुद्ध रूप से भारतीय समाज के प्रभाव का परिणाम है। उदाहरण के लिए ताज़ियादारी और शब बरात। ताज़ियादारी सुन्नी और शिया दोनों

करते थे और अब भी करते हैं। दोनों मातम मनाते हैं। हज़रत इमाम हुसैन के नाम का सदका बनाकर ताज़ियों के नीचे से निकालने के लिए भेजा जाता था। मुहर्रम की पहली से दसवीं तारीख़ तक चूड़ियां पहनना, मेंहदी लगाना, नए कपड़े पहनना, तेल या इत्र लगाना, पान खाना, शादी-ब्याह रचाना निषिद्ध माना जाता था। हर प्रकार से इन दिनों का पूरा सम्मान किया जाता था। इन दिनों लोग काले कपड़े पहनते थे और कुछ पैबंद लगे नीले कपड़े भी पहनते थे। बच्चों को हरे कपड़े और लाल डोरियां पहनाते थे, जवान भी ऐसा ही करते थे। मांस से परहेज़ किया जाता था। शबे आशूरा[32] को चहलमिंबर की ज़ियारत की जाती थी और हर मिंबर पर मन्नतों के धागे बांधे जाते थे। मुहर्रम के दिनों में खिचड़ा बनवाकर लोगों में बांट दिया जाता था।

भारतीय मुसलमानों में शब-बरात का त्यौहार कब और क्यों शुरू हुआ, इस बात की प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती। हालांकि बाद में मुसलमानों ने इसके पक्ष में अनेक तर्क दिए हैं। लेकिन मेरी दृष्टि से मध्यकाल की ऐसी कोई रचना नहीं गुजरी है जिसमें इस जश्न को इस्लामी ठहराया गया हो। शमशुद्दीन सिराज एकमात्र ऐसा इतिहासकार है जिसने इस त्यौहार का सबसे पहले ज़िक्र किया है। उसने फीरोजशाह तुगलक के यहां इस जश्न के आयोजित होने, आतिशबाजी छोड़े जाने और कई दूसरे खेल-तमाशों का सविस्तार वर्णन किया है। लेकिन उसने भी इस त्यौहार से जुड़ी हुई रीतियों और संस्कारों को अनदेखा कर दिया है। 18वीं और 19वीं शताब्दी में शाह वली उल्लाह, शाह इस्माईल शुहेद और सैयद अहमद बरेलवी की कृतियों में उन बातों का ज़िक्र मिलता है। उनके अनुसार हिंदुओं के कनागत (श्राद्ध) और शब बरात की रस्मों में काफी हद तक समानता पाई जाती है। कनागतों में हिंदू परिवारों में अपने पूर्वजों की मृत्यु की तिथि के दिन पकवान बनाए जाते थे। मुसलमानों ने भी शब-बरात को हलवा-पूरी बनाना शुरू कर दिया, इसमें कुछ दूसरी रस्में और जोड़ दीं।

चहार शुंबा माहे शाबान और माहे रजब की रस्में भी हिंदुओं के अनुकरण से अस्तित्व में आईं।

1. ग्रह नक्षत्रों की गति को जानने वाला।
2. जिनों से पूछ कर परोक्ष और भविष्य की बातें बताने वाला।
3. ग्रहों की पैमाइश करने वाला एक यंत्र।
4. आकाश संबंधी विद्या
5. स्थित
6. जिसका ज़िक्र हुआ है।
7. संबंधित लोग
8. पीढ़ी दर पीढ़ी

9. अधिकार
10. मुरक़्क़ा देहली, पृष्ठ 15
11. ज्योतिषी
12. भाग्य का ज्ञाता
13. पांसा डालना
14. आठवां इस्लामी महीना
15. नमाज़ पढ़ने की चटाई
16. दूसरा इस्लामी महीना
17. एक शैतानी फ़रिश्ता
18. कुल्लियात-ए-जुरअत-संपादक प्रो. इक़तिदार हुसैन, (1971), दूसरी जिल्द पृष्ठ 101-103
19. कुल्लियात-ए-सौदा-2, पृष्ठ 144 तथा पृष्ठ 294
20. रोज़ा खोलना
21. कुल्लियाते मीर, अनुवाद अब्दुल बारी आसी, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, 1941, पृष्ठ 793-94
22. सख़ी सरवर के श्रद्धालुओं को पराही कहा जाता था।
23. इस्लामी साल का पांचवां महीना।
24. धर्म सम्मत
25. परलोक
26. अरबी साल का तीसरा महीना
27. परलोक
28. इस्लामी सातवां महीना
29. ईसाई लोग
30. खुलासतुलतवारीख़, पृष्ठ 247; और भी देखिए तुज़के जहांगीरी (अंग्रेज़ी), पृष्ठ 72-73
31. ख़मीमा मुक़ामात मज़हरी-5, हफ़्त (सातवां) क़ुलज़ुम, दिल्ली, 1879, पृ. 46
32. मुहर्रम की दसवीं तारीख

आठवां अध्याय

तसव्वुफ़ पर भारतीय प्रभाव

एशिया के प्राचीन धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो इनमें बड़ी सीमा तक एकरूपता मिलेगी। साथ ही इनके बाह्य रूपों में अंतर्विरोध भी दिखाई देंगे। यदि तत्व की दृष्टि से देखा जाए तो सभी धर्मों का मूल स्रोत ईश्वर की सत्ता है। जो एक है। इस्लाम ने पश्चिमी एशिया में जन्म लिया था लेकिन इस्लामी हुकूमत के विस्तार के साथ-साथ इस्लाम का दायरा भी बढ़ता गया और इस तरह इस्लाम अन्य धर्मों के संपर्क में आया। जब इस्लाम उत्तर और पश्चिम की ओर फैल रहा था तब उसका संपर्क ईसाई और यहूदी धर्म से हुआ। ईरान के दोनों धर्मों याने जरतुश्त और मानी से उसकी मुठभेड़ उस समय हुई जब ईरानी इलाके इस्लामी हुकूमत के अधीन हो गए। इस्लाम ने धीरे-धीरे उन छोटे-छोटे फिरकों को अपने भीतर जज़्ब कर लिया तो आखिरी दौर के रूमी, यूनानी धर्मों के बचे खुचे अवशेष थे। विशेष रूप से हरात के साबियों को, जो अपने आप को यूनानी बातिनी का वारिस समझते थे, इस्लाम ने उन्हें अपने प्रभाव में ले लिया। उत्तर भारत, ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया में उसका परिचय हिंदू वैदिक धर्म से हुआ। संस्कृतियों का आपस में मिलाप होता है तो वे एक-दूसरे से विचार-विनिमय करती हैं। एक संस्कृति दूसरी संस्कृति को कुछ देती है तो बदले में कुछ ग्रहण भी करती है। हमें देखना यह है कि अपने आंतरिक और बाह्य रूप में इस्लाम भारतीय बौद्ध और वैदिक धर्मों से किस रूप में प्रभावित हुआ है। हिंदू संस्कृति को इस्लाम की क्या देन है? यह हमारी बहस का विषय नहीं है। देखना सिर्फ़ यह है कि इस्लाम धर्म और तसव्वुफ में भारतीय प्रभाव किस रूप में शामिल हुए हैं। इसलिए इस्लाम से पूर्व के एशियाई धर्मों का विहंगावलोकन जरूरी लगता है।

इस्लाम से पूर्व मध्य एशिया का धार्मिक वातावरण

मध्य एशिया के निवासियों के मूल का संबंध आर्यों से था। आर्यों के मूल स्थान

के विषय में इतिहासकारों में मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि उनका मूल स्थान डेन्यूब घाटी का क्षेत्र है और कुछ की मान्यता है कि वे लोग हंगरी और बोहेमिया के निवासी थे। कुछ का मत है कि वे अंटार्कटिक क्षेत्र के थे और कुछ कहते हैं कि उनका वतन मध्य एशिया था। इसके विपरीत कुछ विद्वानों का विचार है कि आर्य भारत में एक विजेता की हैसियत से नहीं आए थे बल्कि भारत ही उनकी जन्म भूमि है। डा. ताराचंद का विचार है कि वे लोग बहरे-अस्वद' और एरियल के उत्तरी द्वीपनुमा क्षेत्र के निवासी थे और खानाबदोशों की जिंदगी बिताते थे। पेशे से पशुपालक और चरवाहे थे। वे एक ऐसी भाषा बोलते थे जिनका संबंध यूरोपीय भाषाओं के अलावा फारसी और संस्कृत जैसी पूर्वी भाषाओं से था। संस्कृत की हिंदी, उर्दू, पंजाबी, बंगाली, गुजराती और मराठी आदि उपशाखाओं से उसका घनिष्ठ संबंध था।

आर्य हिंदुकुश के दर्रों से होते हुए अफगानिस्तान में प्रविष्ट हुए। सावात की वादियों, काबुल, कर्रम और गोमल नदियों को पार करके भारत पहुंचे।

स्वैन का मत है कि ईसा पूर्व दसवीं शताब्दी में एक नई जाति ने इस धरती पर अपने कदम जमाए, जो भाषाई दृष्टि से गैर-सामी (Non-Semetics) थी। और ये लोग 'दजला' और 'फरात' के कछारों से होते हुए यहां आए थे। ये लोग नस्ल की दृष्टि से फारसी Persians और मुदी Medes में बंटे हुए थे।

सईद नफ़ीसी ने कहा है कि ईरानी और भारतीय एक ही नस्ल से संबंध रखते हैं। किसी युग में वे साथ-साथ रहा करते थे और वहां से प्रवास के दौरान उनमें से एक कबीले ने पूर्व की ओर प्रस्थान किया और भारत पहुंचकर इस कबीले के लोग भारतीय आर्य कहलाने लगे। दूसरे कबीले ने पश्चिम की ओर रुख किया। वह ईरान में प्रवेश कर गया और वे लोग ईरानी आर्य कहलाए। इसके पीछे तर्क यह है कि भारतीय और ईरानी आर्यों के जीवन दर्शन, आचार-विचार और आस्थाओं में पर्याप्त समानता लक्षित होती है। यहां तक कि भारतीयों के प्राचीनतम ग्रंथ 'ऋग्वेद' और ईरानियों के धर्म ग्रंथ 'अवेस्ता' की कथाओं में पर्याप्त समानता पाई जाती है।

यूनान और भारत के पारस्परिक संबंध

326 ईसा पूर्व सिकंदर ने अफगानिस्तान पर अधिकार करने के बाद भारत पर आक्रमण किया। वह भारत की धरती पर 326 ईसा पूर्व की फरवरी से अक्तूबर 325 ईसा पूर्व तक रहा। फ़ारस पर सिकंदर महान के आक्रमण और अधिकार के बाद से भारत-पश्चिम एशिया और यूनान इन तीनों देशों में आपसी परिचय हुआ। मिसाल के तौर पर भारतीय सिपाही ईरानी बादशाह डेरलेस की सेना में शामिल थे। जिसने यूनान पर आक्रमण किया था। फ़ारस और यूनान के निवासियों ने भारत आकर यहां के

शासकों के यहां नौकरयां कीं। भारतीयों ने वास्तुकला और ज्योतिष आदि कलाएं यूनानी और ईरानियों से ग्रहण कीं। इसके साथ ही साथ भारत के धर्म प्रचारकों ने पश्चिमेशिया तथा रोम और यूनान आदि देशों में बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार किया।

सिकंदर महान के भारत से वापस जाने के बाद इस देश में मौर्य साम्राज्य (325 ईसा पूर्व) की स्थापना हुई। इस वंश का पहला शासक चंद्रगुप्त मौर्य था। उसने उत्तर भारत के अधिकांश क्षेत्रों को अपने अधीन कर लिया था और अंत में उसे यूनानी सेल्यूकस से युद्ध करना पड़ा। चंद्रगुप्त ने सेल्यूकस को पराजित किया। परिणामस्वरूप चंद्रगुप्त और सेल्यूकस में संधि हो गई। सेल्यूकस ने चंद्रगुप्त से अपनी बेटी का विवाह कर दिया और चन्द्रगुप्त को हरात, कंधार, काबुल और बलूचिस्तान के इलाके दे दिए। इस प्रकार ये इलाके भारत की सीमा में शामिल हो गए। तथा भारत और इनके बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान शुरू हो गया।

चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र और उत्तराधिकारी के विषय में यह बात मशहूर है कि उसने यूनान के बादशाह एंटिओकस से तीन चीजें मांगी थीं-शराब, अंजीर और दार्शनिक-पहली दो चीज़ें उसके लिए भिजवा दी गईं लेकिन दार्शनिक नहीं भेजे गए। उसने कारण बताया कि यूनानी अपने दार्शनिक किसी दूसरी जगह नहीं भेजते। इससे यह बात ज़ाहिर होती है कि बिंदुसार ने भी यूनान से अपने संबंध स्थापित कर लिए थे।

अशोक ने यूनान से भी संबंध बना लिए थे। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु इस देश में धर्म प्रचारक भेजे थे। उसने अपने शासन की बागडोर एक यूनानी अधिकारी तुशाश के हाथों में सौंप दी थी। कई इतिहासकारों का मत है कि अशोक ने भारत में पुल और नहरें यूनानी शिल्पियों की देख-देख में बनवाई थीं। इस प्रकार अशोक के शासनकाल में यूनान के अलावा दूसरे एशियाई देशों से भी धार्मिक संबंध बरकरार रहे। इन देशों में बौद्ध धर्म का काफी प्रचार-प्रसार हुआ। वहां के धर्म में बौद्ध धर्म के विश्वास घुल-मिल गए। अल बेरूनी के वर्णन से इस बात की पुष्टि होती है कि यूनान की धार्मिक कल्पनाओं और भारतीय चिंतन में काफी समानता पाई जाती है। उसने लिखा है कि प्रचानी यूनानियों और भारतीयों के चिंतन में काफी साम्य था। भौतिक जगत को लेकर उनके विचार एक जैसे थे। कुछ यह मानते हैं कि सब वस्तुएं एक ही हैं। एक होने का अर्थ यह है कि एक ही में सब वस्तुओं का समावेश है। कुछ का यह विश्वास था कि मनुष्य पत्थर आदि जड़ वस्तुओं से केवल इसी रूप में श्रेष्ठ है कि वह प्रथम कारण first cause या चेतन सत्ता के अधिक समीप है। अन्यथा वह भी जड़ ही है। कोई यह मानता था कि वास्तविक अस्तित्व केवल चेतन सत्ता का है क्योंकि

केवल वही अपने अस्तित्व में पूर्ण और आत्मनिर्भर है। अर्थात, किसी की मुखापेक्षी नहीं है। शेष सभी पदार्थ उसके मुखापेक्षी हैं, जो पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए चेतन सत्ता पर निर्भर है, कल्पना की भांति अवास्तविक है। सत्य केवल चेतन सत्ता है।[2]

वैसे तो यूनान और भारत के बीच व्यापारिक संबंध भी पाए जाते हैं। इस कारण भी विचार-विनिमय के अवसर मिलते रहे होंगे।

भारत और रोम का संबंध

रोम और भारत के व्यापारिक संबंध मौर्य काल में आरंभ हो चुके थे। इन संबंधों से बड़ा लाभ हुआ। पंजाब के हज़ारा जिले में कई रोम के शासकों के सिक्के मिले हैं। इसके अलावा दक्षिण भारत में लगभग तीन सौ बारह सोने और ग्यारह सौ सतासी चांदी के सिक्के मिले हैं। इन पुरातात्विक महत्व के सिक्कों से पता चलता है कि इस देश के शासकों के रोमों से मधुर संबंध थे। पाटलिपुत्र में विदेशी नागरिकों की देख-रेख के लिए एक अलग प्रबंध मंडल बनाया गया था। इससे सिद्ध होता है कि मौर्य साम्राज्य में बड़ी संख्या में विदेशी व्यापारी रहते थे। दक्षिण भारत के साहित्य में इन विदेशियों और विशेष रूप से रोम से भारत आगमन का उल्लेख मिलता है। इससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि भारत के बंदरगाहें विदेशी व्यापारियों से भरी थीं।

भारतीय उत्पादनों की रोम देश में बड़ी मांग थी। इस व्यापार से भारत को इतना आर्थिक लाभ पहुंचता था कि एक रोमी लेखक प्लीनी (Pliny) यह लिखने पर मजबूर हुआ कि रोम से पांच लाख पौंड सालाना भारत भेजे जाते थे। इससे पता चलता है कि भारतीय वस्तुओं की रोम में कितनी खपत थी और भारतीय व्यापारी इससे कितना मुनाफा कमाते थे। दोनों देशों में कई बार यात्रा का आवागमन भी आरंभ हुआ। ऐसा मालूम होता है कि लगभग ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी तक ये व्यापारिक संबंध बने रहे और भारतीय शासकों ने कई बार अपने राजदूत रोम भेजे। रोम के लोगों को तनी हुई रस्सी पर नृत्य करने का बड़ा शौक था। भारत में भी यह खेल प्रचलित था। अनुमान होता है कि उन्होंने यह खेल भारत से सीखा था।

मिस्त्र और भारत के संबंध

इस युग में भारत और मिस्त्र के बीच भी व्यापारिक संबंध स्थापित हुए थे। एक प्राचीन लेखक एथिनियस (Athenaeus) का कथन है कि मिस्त्र के एक शासक पटोलीमी फेली डलफिंस के शासनकाल (285-246 ई.पू.) में मिस्त्र में भारतीय स्त्रियों, शिकारी कुत्तों, गायों, ऊंटों पर भारतीय मिर्च-मसाले आमतौर पर लदे हुए दिखाई देते थे। मौर्य शासकों के मिस्त्र से बड़े मधुर संबंध थे और ये संबंध बाद में

सदियों तक बरकरार रहे। मिस्र की बंदरगाह सिकंदरिया आवागमन के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी।

दूसरे देशों पर भारत का प्रभाव

इन संबंधों के रहते हुए भारत का दूसरे देशों पर जो प्रभाव पड़ा, उसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। पाश्चात्य साहित्य, विज्ञान, दर्शन और धर्म पर भारत की गहरी छाप दृष्टिगत होती है। उपनिषदों के वेदांत दर्शन की छाप यूनानी दर्शन पर स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

बौद्ध धर्म का प्रभाव

इसी प्रकार बौद्ध धर्म ईरान, इराक, खुरासान आदि देशों में फैल गया था। यही नहीं बल्कि पश्चिम एशिया के विभिन्न देशों में भारतीय धर्मों की पहुंच हो चुकी थी।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में कुषाण नामक एक कबीले ने ओक्सास नदी के समीपवर्ती क्षेत्रों में अपना शासन स्थापित कर लिया था। कुषाण वंश का प्रसिद्ध शासक कनिष्क था। इसकी राजधानी पेशावर थी और उसके शासन में पश्चिमी तुर्किस्तान व अफगानिस्तान भी शामिल थे। इसके साथ भारत में पंजाब, राजपूताना, सिंध और गंगा-यमुना के कछार क्षेत्र भी उसके अधीन थे। कनिष्क बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसने पेशावर में एक भव्य विहार का निर्माण कराया था। उसके संरक्षण में इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार हुआ।

मध्य एशिया में बौद्ध धर्म

यह बात पूरे विश्वास के साथ नहीं कही जा सकती कि बौद्ध धर्म मध्य एशिया में कब पहुंचा लेकिन इतना निश्चित है कि खानाबदोश कबीले शक और कुषाण के अलावा दूसरे भारतीय व्यापारी यहां की संस्कृति और सभ्यता के साथ-साथ बौद्ध धर्म को भी तुर्किस्तान की पश्चिमी रियासतों में ईसा पूर्व पहली शताब्दी में ले गए थे। ईसा से पूर्व खुतन और लाबनूद के दक्षिणी क्षेत्रों में भारतीय निवासियों की नई बस्तियां कायम हो चुकी थीं और अब भी उनके अवशेष मिलते हैं। इस क्षेत्र की कुछ रियासतों में दक्षिण भारतीय भाषाओं से मिलती-जुलती एक भाषा बोली जाती थी।

भारतीय लोगों की बस्तियां ही वे साधन थीं जिनके माध्यम से बौद्ध मत इन क्षेत्रों तक पहुंचा। खुतन की प्राचीन कथाओं में इस बात का दावा मिलता है कि अशोक के एक पुत्र कुषाण ने ई.पू. 240 में एक शासन की स्थापना की थी और उसके पोते विजय संभर ने खुतन में बौद्ध मत को प्रचलित किया था। आर्य वीरोकेन नामक एक

भारतीय विद्वान इस शहर में पहुंचा और राजा का परामर्शदाता नियुक्त हुआ। खुतन में पहले बौद्ध विहार का निर्माण ई.पू. 211 में हुआ। एक दूसरी कथा के अनुसार एक भारतीय परिवार ने 56 पीढ़ियों तक खुतन में शासन किया और इस जमाने में यहां बौद्ध मत का वर्चस्व रहा था। अपने उत्कर्ष के युग में अकेले खुतन में बौद्धों के चार हजार विश्रामालय थे जिनमें मंदिर और विहार भी शामिल थे। चीनी यात्री फाह्यान, स्वांगयन और युवानच्वांग ने इस बात के प्रमाण दिए हैं कि आठवीं शताब्दी ई. तक खुतन में बौद्ध मत अपने पूरे उत्कर्ष पर था और खुतन से ही बौद्ध मत दक्षिण की ओर दूसरी रियासतों जैसे यना, कालमंदा, करूरामा और काशगर पहुंचा था।

अफगानिस्तान और बौद्ध मत

नफ़ीस सईदी ने कहा है कि भारत से बाहर सबसे पहले जिस देश में बौद्ध मत पहुंचा वह अफगानिस्तान था। वर्तमान समय में भारत के अलावा अफगानिस्तान में इस मत के सर्वाधिक चिन्ह मिलते हैं। विशेष रूप से जलालाबाद से काबुल और वहां से बलख जाने वाले मार्ग पर बनी इमारतों के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व 256 में बौद्ध मत अफगानिस्तान में जड़ पकड़ चुका था। इस बात के साक्ष्य भी मिलते हैं कि इस्लाम के आरंभिक वर्षों में मावराउन्नहर[3] और विशेष रूप से समरकंद और बुखारा में भी बौद्ध मत के अनुयायी पाए जाते थे। अफगानिस्तान से होते हुए ही बौद्ध मत चीन की धरती पर पहुंचा। यूनान के इतिहासकार अलक्जैंडर पोपी हस्तिवर ने अपनी पुस्तक (50-80 ई.पू.) में बलख के बौद्धों का जिक्र किया है।

फाह्यान

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य (380-413 ई.) के शासन काल में सबसे पहला चीनी यात्री फाह्यान भारत आया। क्योंकि वह मध्य एशिया के रास्ते से भारत आया था इसलिए उसने इन क्षेत्रों में बौद्ध अनुयायियों का सविस्तार वर्णन किया है। वह चीन से पश्चिम की ओर चलकर गोबी रेगिस्तान की दुर्गम यात्रा करता हुआ पामीर और सवात नदी के कछारों को पार करता हुआ तक्षशिला पहुंचा। फिर पाटलिपुत्र, मथुरा, कन्नौज और काशी आदि शहरों में थोड़े-थोड़े समय तक ठहरता हुआ समुद्री मार्ग से निकला और जावा होता हुआ वापस चीन पहुंचा।

फाह्यान के यात्रा-वृत्तांत से मालूम होता है कि मध्य एशिया में भारतीय धर्म दर्शन और संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव था। मध्य एशिया की उन रियासतों में जहां, से वह गुजरा था, वहां उसने भारतीय संस्कृति के चिन्ह देखे। शन-शन में हीनयान के चार हजार अनुयायी थे और वहां के निवासी थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ भारतीय संस्कृति

के उपासक थे। इस स्थान से पश्चिम की ओर यात्रा करते समय जिन जातियों से उसका परिचय हुआ वे सभी एक जैसी थीं। इसके अलावा सभी लोग, जिन्होंने कर्म-कांडों से मुक्ति का मार्ग खोज लिया था वे भारतीय ग्रंथों का अध्ययन करते थे। फाह्यान करह शहर में दो महीने और कुछ दिन तक ठहरा। उस स्थान पर भी चार हजार से अधिक हीनयान शाखा के बौद्ध भिक्षु थे।

ईरान में तसव्वुफ़ का आरंभ

ईरान में तसव्वुफ़ के प्रकाश में आने का कारण यह था कि युगों से वहां के निवासी भौतिक जीवन बिताते चले आ रहे थे। उनकी सभ्यता चर्मोत्कर्ष के बिंदु तक पहुंच चुकी थी। आचार-विचार की दृष्टि से वे सभी धर्मों की तुलना में स्वयं को श्रेष्ठ समझते थे। चित्रकला, वास्तुकला, मूर्तिकला और संगीत आदि ललित कलाओं में वे पूर्ण दक्षता प्राप्त कर चुके थे। सासानी युग में, जब उनके जीवन पर कठोर प्रतिबंध लगा दिए गए तो इन बंधनों से मुक्ति का एकमात्र मार्ग तसव्वुफ़ ही प्रतीत हुआ।

ईरान में तसव्वुफ़ के केन्द्र

सूफी संतों की पूरी सूची पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि ईरान और दूसरे शहरों से जुड़े हुए नए लोगों के अलावा शेष सभी सूफी संतों का संबंध खुरासान के शहरों अर्थात मर्व, हरात, बावर्द,समरकंद, बस्ताम, नखुश्ब, नेशापोर तर्स, तरमज़, हिना और फरगाना से था। ईरान के विशेष केन्द्र खुरासान और मावराउन्नहर थे। अनुमान होता है कि इनका मुख्य प्रेरणा स्रोत बलख शहर था जो बौद्ध अनुयायियों का महत्वपूर्ण ठिकाना था। दूसरे सूफी संतों का संबंध शीराज़, इस्फ़हान, वरी, कर्मानिशान, कर्मान, शोस्तर, निहावंद, और अलबरूबीज़ा से था।

अनुमान होता है कि वे महानुभाव खुरासान के सूफियों से अध्यात्मिक स्तर पर लाभान्वित हुए होंगे। स्वभावत: प्रभावित भी हुए होंगे।[4]

ग्यारहवीं शताब्दी में सूफी मीर मुहम्मद, अबुल क़ासिम कलंदर सकी ने हिंदुओं के प्राचीन ग्रंथ 'योगवासिष्ठ' का फ़ारसी अनुवाद किया था। यह पुस्तक भारतीय योग विद्या के सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। दाराशिकोह के युग में भी इसे फ़ारसी में अनूदित किया गया था। अनुवादक सूफी ने इसका भाष्य भी लिखा है। सईद नफ़ीसी का विचार है कि जिस दिन से ईरान में तसव्वुफ़ पर विचार-विमर्श आरंभ हुआ, तब से भारत में ईरानी तसव्वुफ़ को सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा। आज भी ईरान के सूफियों की चिश्तिया, सुहरावर्दिया, कादरिया और नक्श बंदिया आदि परंपराएं भारत में विद्यमान हैं। विशेष रूप से बौद्ध मत के अनुयायियों से इनकी

बड़ी निकटता है। इस देश में तसव्वुफ़ का संबंध केवल मुसलमानों से नहीं बल्कि हिंदुओं से भी है।

इस्लाम के उत्कर्ष के बाद ईरान से बौद्ध धर्म का अंत

यह माना जाता है कि ईरान के उत्तरी और पूर्वी क्षेत्र जब मुसलमानों के अधिकार में आ गए, जैसे बलख और बामियान आदि, जहां बौद्ध मत के केंद्र थे, तो उन्होंने बौद्ध विहारों और मंदिरों के प्रबंधकों से साज़िश करके उनसे जज़िया कर वसूल करना शुरू कर दिया, जिस तरह कि वे अन्य जगहों पर गैर-मुस्लिम आबादी से वसूल किया करते थे। इस कारण धीरे-धीरे ईरान के समीपवर्ती क्षेत्रों से बौद्ध धर्म का लोप होने लगा। हजरत उमर की खिलाफत के दौर में फारस के 635 इलाके जैसे इराक और मदाइन आदि इस्लामी हुकूमत में शामिल कर लिए गए।

तसव्वुफ़ का आरंभ

सबसे पहले तसव्वुफ़ से विरक्त और उदासीन लोगों के आचरण में दिखाई दिया जिन्हें नाज़ी लोग 'नसाख़' कहते थे क्योंकि इराक़ और दजला फरात के परिवेश में बसने वाले तर्सी लोग बहुत से फिरकों में बंट चुके थे। सासानी युग के अंत और इस्लामी युग के आरंभ में इन फिरकों के कुछ लोगों ने संसार से संबंध विच्छेद कर दिन-रात पूजा स्थलों में रहकर साधना करनी आरंभ कर दी थी। वे कठोर शारीरिक कष्ट उठाकर साधना किया करते थे।

इस प्रकार तसव्वुफ़ का उदय पहले पूर्व में हुआ और बाद में वह पश्चिम यानि शाम, मिस्र और इस्पानिया आदि में आया। ईरान में तसव्वुफ़ पर ईरानी रंग चढ़ गया था। इसके विपरीत पश्चिम में अफलातून (प्लेटो) जैसे यूनानी दार्शनिकों के चिंतन ने तसव्वुफ़ को प्रभावित किया। इसलिए तसव्वुफ़ को तीन भिन्न केंद्रों से जोड़कर समझना चाहिए।

1. इराक़ में तसव्वुफ़

इस क्षेत्र का तसव्वुफ़ नसारा,[5] याकूबी, सायबीन और मार्कियों के उसूल और इब्नेदीसान और हर्मिस से प्रभावित था।

2. ईरान और भारत में तसव्वुफ़

यहां के तसव्वुफ़ ने ईरानी ज़रतुश्त और भारतीय बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को आत्मसात कर लिया था।

3. मिस्र, शाम व पश्चिम में तसव्वुफ़

यहां का तसव्वुफ़ नव-प्लेटोवादियों, यहूदियों और अस्कंदरानी के फलसफों से प्रभावित था।

बड़ी आश्चर्यजनक बात है कि ईरानी तसव्वुफ़ को तसव्वुफ़-ए-शिर्क़ी के नाम से भी जाना जाता है। खिलाफ़त के पतन के बाद भी ईरान में बौद्ध लोग रहते थे। और हालांकि मुसलमानों ने उनकी अनेक इमारतों को ध्वस्त करने में कोई कसर न उठा रखी थी फिर भी उनकी स्मृतियां सुरक्षित रहीं। अर्थात बलख़ और रोस की धरती से तीन बलखी महापुरुषों ने जन्म लिया-अबुल सहाक इब्राहीम बिन आदहम बिन सुलमान बिन मन्सूर बलखी (निधन 161, 162, 166 हिज्री अर्थात 777, 778, 782ई.), अबू अली शफीक इब्नेइब्राहीम बलखी (निधन 174 हिज्री अर्थात 790 ई.) और अब्दुर्रहमान हातिम बिन उनवान आसिम उल मारूफ बा हातिम असम (निधन 238 हिज्री अर्थात 852 ई.)।

ईरानी और इराक़ी तसव्वुफ़ में अंतर

वे पूर्वी लोग जिन्होंने ईरानी तसव्वुफ़ को यहूदी, नसारा, नव अफलातूनी, असकंदरानी और पश्चिमी चिंतन का अनुगामी बताया है और इराकी द्वीप समूह के तसव्वुफ़ में विशिष्टता पैदा की है, वे लोग दो बातें नहीं समझ पाए हैं। पहली बात तो यह है कि उन्होंने तसव्वुफ़ और इस्लाम धर्म की सभी शिक्षाओं को एक-दूसरे का समानार्थी समझा है और दोनों के स्रोत को एक ही माना है। और दूसरी बात यह है कि उन्होंने ईरान और इराक़ के तसव्वुफ़ को अलग करके नहीं देखा है और इसी तरह उन्होंने मिस्र, इस्पानिया आदि पश्चिमी देशों तथा उत्तरी अफ्रीका के तसव्वुफ़ के बीच अंतर को नहीं समझा है। हालांकि इन तीनों के स्रोत अलग-अलग थे। उन्होंने इस बात की ओर भी ध्यान नहीं दिया कि इब्ने अल अरबी के अनुयायियों की जब ईरान से निकटता बढ़ी तो इब्ने अल अरबी के चिंतन ने ईरानी तसव्वुफ़ को बहुत गहरे में प्रभावित किया। हालांकि इससे पूर्व इस चिंतन का ईरान पर कोई प्रभाव न था।

ईरान में जलालुद्दीन रूमी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इब्ने अल अरबी के विचारों को ग्रहण किया था और सदरूद्दीन कोननवी और नैमतउल्लाह वली ने इस नए चिंतन को और आगे बढ़ाया। उनका पालन-पोषण पश्चिमी शिक्षाओं के प्रभाव में हुआ था। उनके बाद फखरूद्दीन इराक़ी का नाम आता है। इस पृष्ठभूमि में ईरानी तसव्वुफ़ में परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हो गई और एक नया रंग उभरने लगा। लेकिन दूसरे क्षेत्र जो इरान से अलग-थलग हो गए, जहां ईरानी तसव्वुफ़ अपनी जड़ जमा चुका था, अब भी अपने पुराने उसूलों पर कायम रहे। केवल इब्ने अल अरबी के अनुयायी

नैमतउल्लाह वली के तरीकों ने दक्षिण भारत में काफी असर जमा लिया। इसलिए ईरान में इन तरीकों का चलन उतना नहीं हो सका जो ईरानी तसव्वुफ़ के विपरीत पड़ते थे जैसे कि नाजियों में प्रचलित तरीका-ए-कादरिया और तरीका-ए-रफाई आदि।

वर्तमान समय में अफगानिस्तान, भारत और पाकिस्तान तसव्वुफ़ के मुख्य केन्द्र हैं। और इन देशों में प्राचीन ईरानी तरीके अर्थात सहरवर्दी, नक़्शबंदी, चिश्ती और मुजद्दिदी आदि प्रचलित हैं।

इस पृष्ठभूमि में यह उचित होगा कि ईरान के तसव्वुफ़ के तरीकों का नाम तरीका-ए-ईरान व हिंद रखा जाए ताकि इसकी भौगोलिक सीमाएं स्पष्ट हो जाएं। ईरान से आशय ईरान के पठार और उस किनारे से है जिसे फ़लात ईरान कहा जाता है। फलात उच्च भूमि के मैदान को कहते हैं।

सूफ़ी शब्द की खोज

स्रोत, उदय और प्रभाव

सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में मतभेद है। शेख अली हजवेरी का कथन है–

''लोगों ने इस धारणा के विषय में बहुत सी बातें की हैं और पुस्तकें लिखी हैं।'' सामान्यत: तसव्वुफ़ की पुस्तकों में इसकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दर्शाई गई है।

1. सफ़ा-अर्थात पवित्रता।
2. अहले सुफ़्फ़ा-रसूल के जमाने में कई ऐसे फकीर थे जो खुदा की बंदगी और रसूल की सोहबत की खातिर मस्जिद नबवी में रहा करते थे और दुनिया के सभी बखेड़ों से दूर थे तथा अपनी रोज़ी के बारे में खुदा पर भरोसा रखते थे।
3. सूफ़ा-एक पुराने कबीले का नाम था जो काबा की खिदमत किया करता था।
4. सफूत-उल-क़फ़ा-गुद्दी पर जो बाल होते हैं उनको सफूत-उल-क़फ़ा कहते हैं।
5. यस्व सूफिया-एक यूनानी शब्द है जिसका अर्थ खुदा की हिकमत है।
6. सुफ़-वे लोग जो हमेशा पहली पंक्ति में नमाज़ अदा करने की कोशिश करते थे।
7. सूफ़ाना-एक प्रकार का पौधा होता है।
8. सूफ़-पशमीना या ऊन।
9. सफ़वी-परिवर्तन होते-होते यह शब्द सूफ़ी बन गया।

शेख अली हजवेरी ने लिखा है कि सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में कुछ विद्वानों का यह मत है कि सूफ़ी इसलिए कहते हैं कि वह सूफ़ का लिबास पहनता है। दूसरे लोग सूफ़ी इसलिए कहते हैं कि वह असहाब सुफ़्फ़ा के साथ मुहब्बत करता है

और कुछ लोगों के अनुसार इस संज्ञा का संबंध सफ़ा शब्द से है। विद्वानों ने अपने-अपने पक्ष में अनेक तर्क दिए हैं।

तसव्वुफ़ के स्रोत

तसव्वुफ़ की व्याख्या विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से की है। शेख अली हजवेरी के अनुसार जो आदमी ज्यादा नेक है वह सूफ़ी है। मधुर संबंध दो प्रकार के होते हैं। एक खुदा के साथ, दूसरे खुदा की बनाई दुनिया के साथ। सूफ़ी खुदा और दुनिया दोनों के प्रति अपने कर्त्तव्यों को निभाता है। अच्छे साधक का यही गुण है। खुदा की सत्ता एक है। तसव्वुफ़ की आठ विशेषताएं हैं–जैसे उदारता, मैत्री, धैर्य, त्याग, निर्धनता, सूफ़ के कपड़े पहनना, भ्रमण और फकीर। तसव्वुफ़ का वास्तविक अर्थ है कि सूफ़ी की सभी आंतरिक तथा बाह्य गतिविधियां खुदा के साथ जुड़ी हुई हों अर्थात कोई सांसारिक आकर्षण खुदा की ओर से उसे नहीं फेर सकता, उसे रास्ता नहीं भटका सकता।

तसव्वुफ़ और जुहद[6] में स्पष्ट पाया जाता है। शेख शहाबुद्दीन सहरवर्दी ने कहा है कि तसव्वुफ़ फ़क्र है और जुहद गैर फ़क्र तसव्वुफ़ गैर जुहद है। तसव्वुफ़ एक ऐसा शब्द है जिसमें फक्र और जुहद दोनों के अर्थ निहित हैं, जिनके बिना आदमी सूफ़ी नहीं हो सकता चाहे वह ज़ाहिद और फ़कीर क्यों न हो।

तसव्वुफ़ के तीन स्रोत

1. तसव्वुफ़ भारतीय दर्शन और विशेष रूप से वेदांत से प्रभावित है।
2. तसव्वुफ़ की प्रमुख आस्थाओं का संबंध ईरान से है।
3. ये आस्थाएं नव अफलातूनी दर्शन से ग्रहण की गई हैं।

भारतीय प्रभावों का खंडन करते हुए निकलसन ने लिखा है कि संसार से संबंध विच्छेद की बात करने वाले इब्राहीम बिन आदम, तव्वकुल[7] पर बल देने वाले शफ़ीक़ बलख़ी और मुहब्बत को सर्वोपरि मानने वाले फ़ज़लबिन अयाज़ तीनों महापुरुष खुरसान या मावराउनहर के रहने वाले थे। अनुमान होता है कि इनका संबंध बौद्ध दर्शन से भी रहा होगा। लेकिन उनके कृतित्व में फ़ना (प्रलय) की अवधारणा का नामो-निशान तक नहीं पाया जाता। बाद के तसव्वुफ़ में क़ज़ा की अवधारणा को बहुत महत्व दिया गया। कुछ विद्वानों ने इसकी तुलना निर्वाण से करने की कोशिश की है। लेकिन निकलसन ने एक घटना का उल्लेख किया है कि इब्राहीम बिन आदम ने नौ वर्ष तक नया सवूर के पास एक गुफा में निवास किया था। साधना की यह पद्धति इस्लामी नहीं बल्कि भारतीय है।

ईसाई धर्म का प्रभाव

निकलसन के अनुसार इस्लाम का बुनियादी सिद्धान्त निष्काम इबादत है। हालांकि यह कोई नया विचार नहीं था। कुर्आन के अनुसार अल्लाह सख्ती से गिरफ़्त करने वाला, पहुंच से बाहर और मुतलक उन अनान[6] कर्मा रवां है जो अपने अहकाम की बिना किसी मीन मेल के साथ पाबंदी चाहता है। और जो इंसानी जज़्बात और ख्वाहिशों का क़तई लिहाज़ नहीं रखता है। ऐसा ख़ालिक़ और मालिक-उल-मुलूक मज़हबी भावनाओं की तसल्ली नहीं कर सकता था। इस प्रकार तसव्वुफ़ की पूरी तारीख इंसान और खुदा के बीच अस्वाभाविक संबंधहीनता से जुड़ी हुई है। इसलिए निकलसन की मान्यता है कि सूफी आस्थाओं के स्रोत ढूंढने के लिए हमें इस्लाम के बाहर जाने की जरूरत नहीं है।

इस्लाम के आरंभिक दिनों में ईसाइयत के प्रभाव को अनदेखा करना एक बड़ी भूल होगी। वजूदियत[7] का जो रूझान उनमें पाया जाता था वह उम्मिया और अब्बासिया युग के सौ साल बाद तक इस्लामी तसव्वुफ़ में थोड़ा बहुत मौजूद रहा। इस्लाम के स्रोतों के विषय में इब्ने-खुल्दून की मान्यता है कि इसकी जड़ इस्लामी शिक्षाओं में ही है। वह लिखता है:-

प्राचीन सूफियों का तरीका, जिनमें रसूल के सहयोगी और उनके बाद की पीढ़ी के लोग शामिल थे, मुसलमानों की दृष्टि में मुक्ति का सच्चा मार्ग समझा जाता था। अल्लाह की राह में सब कुछ त्याग देना, सांसारिक विषय वासनाओं से विरक्ति, धन-दौलत और अधिकार की भावना को मन से निकाल देना और केवल अल्लाह के लिए अपना जीवन बिताना, ये सूफियों के बुनियादी सिद्धांत थे। रसूल के सहयोगियों व आरंभिक दौर के मुसलमानों ने इन सिद्धांतों आचरण किया। जब मुसलमानों की पश्चातवर्ती पीढ़ियों में सांसारिक वैभव के प्रति आसक्ति बढ़ने लगी और वे अध्यात्म के रास्ते को भूलने लगे, तब भी उनमें कुछे ऐसे व्यक्ति मौजूद थे जो वैराग्य और उदासीनता का जीवन बिताते थे। समाज में ऐसे लोगों को सूफिया नाम से पुकारा जाने लगा।

कुल मिलाकर इस विषय में चार प्रकार के मत पाए जाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि तसव्वुफ़ का जन्म यूनानी दर्शन या नव अफलातूनी दर्शन के प्रभाव वश हुआ। प्रो. निकलसन ने इस धारणा का प्रबल समर्थन किया है और अपनी रचनाओं में यूनानी दार्शनिकों तथा सूफी संतों के विचारों में समानता खोजने की कोशिश की है। यूनानी तसव्वुफ़ के बारे में डा. ताराचंद की राय है कि यूनानी और रूमी तसव्वुफ़ भारतीय अध्यात्म से प्रभावित थे। इन दोनों का स्रोत भारतीय चिंतन में है।

वेदांत का प्रभाव

डोजी (Dozy) और वॉनक्रेमर (Vonkremer) जैसे विचारकों के अनुसार तसव्वुफ़ की उत्पत्ति वेदांत दर्शन से हुई है। प्रो. मुहम्मद हबीब की राय है कि तसव्वुफ़ इस्लाम से कई सौ वर्ष, पहले मानवीय सोच में जन्म ले चुका था। उन्होंने दाराशिकोह के विचारों का समर्थन करते हुए लिखा है कि तसव्वुफ़ मूल रूप में उपनिषदों में विद्यमान है। दाराशिकोह ने 'मज्मा-उल-बहरैन' की भूमिका में लिखा है-

''फकीर दाराशिकोह कहता है कि हक़ीक़तों की हक़ीक़त को दरयाफत करने के बाद, सूफियों के हक़ीक़ी मज़हब की बारीकियों को समझने के बाद और असली सच्चाई को जानने के बाद मेरी यह ख्वाहिश हुई कि हिंदुस्तान के बुजुर्गों और महात्माओं से, जिन्होंने अपने ब्रह्म ज्ञान के बल पर ईश्वर से साक्षात्कार कर लिया था, सत्संग करने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि इन दोनों (इस्लाम और हिंदू धर्म) के ईश्वर को प्राप्त करने के मार्ग में शाब्दिक अंतर के अलावा और दूसरा कोई अंतर नहीं है। अतएव दोनों प्रकार के चिंतकों के विचारों का सार लेकर मैंने यह पुस्तक तैयार की है जिसका नाम रखा मज्मा-उल-बहरैन अर्थात् समुद्र संगम। क्योंकि यह पुस्तक दो भिन्न समुदायों के विद्वानों के विचारों का संग्रह हैं।''

वस्तुतः यह पुस्तक हिंदू और इस्लाम धर्म का तुलनात्मक अध्ययन है ,जिसके माध्यम से दाराशिकोह ने बहुत सी भ्रांतियों को दूर करने का प्रयास किया था।

इस पुस्तक में दाराशिकोह ने जीव, जगत, ब्रह्म, प्रकाश, आत्मा, परमात्मा, धरती, आकाश, भाग्य, स्वर्ग, नरक, सृष्टि, प्रलय और मोक्ष आदि से संबंधित तसव्वुफ़ और वेदांत की धारणाओं को संगृहीत किया है। और दोनों विचार-सरणियों के बीच समानता के आधार खोजने का प्रयास किया है। इसकी चर्चा यहां उपयोगी सिद्ध होगी।

दाराशिकोह का बुनियादी दर्शन यह था-''दपर हमाओस्त ज़ाहिर वाहमा अज़ोस्त जलवागर, अव्वल ओस्त व आख़िर ओस्त व ग़ैर ओ मौजूद न बा शुद।''

अर्थात् सभी पदार्थ उसका प्रकट रूप हैं और सभी पदार्थों का वह सृष्टा है। प्रलय और सृष्टि उसी की सत्ता है और वही सृष्टि के कण-कण में भास्वर है। इसी प्रकार हिंदुओं की आस्था के विषय में मिर्ज़ा क़तील ने लिखा है कि हिंदुओं का धर्म भी तसव्वुफ़ से मिलता-जुलता है। इसलिए वे हर दृश्यमान वस्तु को परम सत्ता की अभिव्यक्ति समझते हैं। वह सत्ता सभी बंधनों से मुक्त और संदेह से परे है। वही मानवीय रूप में दिखाई देती है।[10]

पंचतत्व

दाराशिकोह के अनुसार संपूर्ण सृष्टि का निर्माण पांच तत्वों से हुआ है। यथा-

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। भारतीय भाषा में इन्हें पंचभूत कहा जाता है। नामों में कोई अंतर नहीं है। आकाश तीन प्रकार के हैं। भूत आकाश, मन आकाश और चित्त आकाश। अन्य तत्वों को परिधि में बांधने वाले को भूत आकाश कहते हैं। जो दृश्यमान वस्तुओं को एक परिधि में बांधता है उसे मन आकाश कहते हैं। जो सब पर प्रभावी है और सर्वोपरि है वह चित्त आकाश कहलाता है। चित्त आकाश शाश्वत है। कुर्आन और वेद में कोई आयत या श्लोक नहीं मिलता जिससे उसकी नश्वरता सिद्ध होती हो। चित्त आकाश से प्रेम उत्पन्न हुआ, जिसे वेदांत दर्शन में माया कहते हैं। कुर्आन में इसकी दलील मौजूद है, "मैं एक गुप्त खजाना था। बाद में मेरी इच्छा हुई कि मुझे जाना जाए इसलिए मैंने अपनी पहचान कराने के लिए सृष्टि को पैदा किया।" प्रेम या इश्क से रूह या जीवात्मा का जन्म हुआ जिसे परमात्मा भी कहते हैं। भारतीय इसे हिरण्यगर्भ और अवस्थात्मन कहते हैं जो इनकी विद्वता का प्रमाण है। इस्लाम में इसे रूहेकुल कहा गया है। इसके बाद वायु का तत्व है। जिसको नफ़सुर्रहमान कहते हैं। जिससे सांसारिक वायु जन्म लेती है। अल्लाह के वजूद से जब वह बाहर निकली तो जिस्म में कैद होने के कारण गर्म निकली और उससे आग पैदा हो गई। और क्योंकि इस हवा में दया और एकता के गुण मौजूद थे इसलिये शीतल हो गई और आग से पानी पैदा हो गया। कतिपय चिंतकों का मत है कि पहले जल की उत्पत्ति हुई, उससे ख़ाक़ या पृथ्वी अस्तित्व में आई और इस ख़ाक़ को पानी के ऊपर झाग के समान बताया गया है। और उस दूध की तरह है जिसे आग में रखा जाए तो उसमें उबाल आता है और उससे झाग निकलता है।

'क़यामते कब्रा' को हिंदू शास्त्र में महाप्रलय कहा गया है। पहले पृथ्वी नष्ट होगी और जल उसे अपने में लीन कर लेगा। जल को अग्नि शुष्क कर देगी और अग्नि को वायु ठंडा कर देगी। महाकाश में वायु परमात्म में विलीन हो जाएगी अर्थात् हर वस्तु जल है।[11]

खुदा के चेहरे के अतिरिक्त, जो महाकाश है, जो भी वस्तुएं संसार में हैं, सब नष्ट हो जाएंगी। सिर्फ अल्लाह ताला का वजूद बाकी रहेगा। जो साहिबे जलाल हैं। कुर्आन की इन दोनों आयतों में हर चीज के फ़ना होने की दलील मौजूद है। और इसी महाकाश की अवधारणा की पुष्टि करती है जो अनश्वर और शाश्वत है। महाकाश का अर्थ अल्लाह ताला का शरीर है। हिंदी भाषा में खाक को 'दिवि' कहते हैं। सभी वस्तुओं का निर्माण इसी से हुआ है और अंत में सभी वस्तुएं इसी में मिल जाती हैं। कुर्आन में आता है, "तुमको ख़ाक़ से पैदा किया और दोबारा ख़ाक़ में मिला दूंगा। और फिर इस ख़ाक़ से तुमको ज़िंदा करूंगा।"

इंद्रियां

इन पांच तत्वों के अनुरूप पांच हवास-ए-खम्सा हैं, जिन्हें हिंदी में पांच इंद्रियां कहते हैं। यथा-शाम्या, ज़ायक़ा, बासरा, सामा और लामसा। हिंदी में इनके नाम हैं-घ्राण, रसना, चक्षु, श्रोत्र और त्वक। इनकी अनुभूति को गंध, रस, रूप, शब्द और स्पर्श के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक इंद्रिय का संबंध एक तत्व से है और ये परस्पर एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। घ्राण का संबंध पृथ्वी से है, क्योंकि पृथ्वी के अतिरिक्त और किसी तत्व में घ्राण की शक्ति नहीं है। रसना का संबंध जल से है क्योंकि पानी का स्वाद हमारी जिह्वा महसूस कर सकती है। चक्षु का संबंध केवल अग्नि से है क्योंकि रंगों को आंख देख सकती है। और दोनों में ज्योति होती है। स्पर्श का संबंध वायु से है क्योंकि सभी बाह्य वस्तुओं की अनुभूति वायु द्वारा की जा सकती है। और श्रोत्र का संबंध महाकाश से है और सहृदय लोग कान के मार्ग से आकाश की वास्तविकता जान लेते हैं। सूफी संत और हिंदू महात्मा दोनों यह अभ्यास करते हैं। सूफी इस क्रिया को शग़ल-ए-पास अनफ़ास कहते हैं और हिंदू योगी इसे ध्यान कहते हैं।

पांच ज्ञानेंद्रियां हैं-हिसमुश्तरक, मुतख़ैयुला, मुतफिक़्क़रा, हाफ़िज़ा और दाहिमा। हिंदुओं में चार इंद्रियां हैं। बुद्धि, मनस, अहंकार और चित्त। इन चारों के सम्मिलित रूप को अंतःकरण कहते हैं। अंतिम को पांचवीं ज्ञानेन्द्रिय समझना चाहिये। चित्त को सतप्रकृति कहते हैं। और इसकी स्थिति पैर के समान है। यदि पांव न हों तो चित्त दौड़ नहीं सकता। बुद्धि अर्थात् अक्ल वह है जो कल्याण के विषय में सोचती है और हिंसा से बचाती है। दूसरा मन है। इसमें संकल्प-विकल्प की शक्ति होती है। चित्त दृश्य का संदेशवाहक है, इसका काम इधर-उधर भटकना है। यह भलाई-बुराई के विषय में नहीं सोचता। अहंकार व्यक्ति को केवल 'अंह' में सीमित रखता है। अहंकार परमात्मा की विशेषता है क्योंकि उसमें माया का गुण विद्यमान होता है। माया को प्रेम भी कहा गया है। अहंकार तीन प्रकार का होता है-सत्विक, राजस और तामस। सत्विक अंहकार ज्ञानस्वरूप होता है। यह परमात्मा के समान होता है। "हर चे हस्त हमा मनम" अर्थात् जो कुछ भी है वह मैं हूँ। साधना का यह वह सोपान है, जहां सारी सृष्टि अहं की परिधि में आ जाती है। कुर्आन शरीफ में आया है, अव्वल वही है आख़िर वहीं है वही बातिन है। दूसरा अहंकार राजस है। यह मध्यम कोटि का होता है। इसमें साधक जीवात्मा को दृष्टि में रख सकता है। क़ुर्आन में आया है, 'मैं भौतिक शरीर की कैद से मुक्त हूँ और शरीर का मुझसे कोई संबंध नहीं है।' तीसरा अहंकार तामस है जो अधर्म है और अविद्या का प्रतीक है। मनुष्य परम सत्ता को भूलकर अपने आप को मिथ्या और नश्वर पदार्थों से जोड़ लेता है और उन्हें ही सत्य मान लेता है। वह कह उठता है-"मन वा तो" अर्थात् मैं और तू दो अलग चीजें हैं। इस प्रकार वह अद्वैत की

भावना से दूर हो जाता है। कुर्आन शरीफ में आया है कि "ऐ मुहम्मद कह दो मैं तुम्हारी तरह फ़ना होने वाला हूँ" यानि मैं भी तुम्हारी तरह एक इंसान हूँ। अतएव योग वासिष्ठ में कहा गया है कि जब ईश्वर ने चाहा कि वह प्रकट हो तो यह सोचते ही तुरंत वह परम आत्मा के रूप में बदल गया और जब यह निश्चय और अधिक बढ़ा तो अहंकार की कोटि में पहुंच गया। और जब पुन: यह निश्चय आगे बढ़ा तो महत् तत्व अर्थात् 'अक्लेकुल' का नाम इसे दिया गया। संकल्प और महत्तत्व से मन की उत्पत्ति की गई जिसे प्रकृति भी कहते हैं। और संकल्प या मन से पांच ज्ञानेंद्रियां प्रकाश में आईं। फिर संकल्प और पांचों ज्ञानेंद्रियों के मिश्रण से शरीर का निर्माण हुआ। परम आत्मा को अबुल अरवाह भी कहते हैं। जिसका प्रथम प्रकाश मुहम्मद साहब और द्वितीय प्रकाश मज़हर रूहुल कुदस अर्थात् जिब्रील अमीन में निहित है।

शरीर की कारा को मनुष्य अपनी इच्छा से स्वीकार करता है। जैसे कि रेशम का कीड़ा अपने मुख के तरल पदार्थ से रेशम के धागे निकालता है लेकिन स्वयं भी इसमें कैद हो जाता है। अतएव अल्लाह ताला ने ये तमाम काल्पनिक कैदें और पाबंदियां खुद से पैदा की और स्वयं उनमें कैद हो गया। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि एक बीज एक वृक्ष को जन्म देता है। वह वृक्ष में भी विद्यमान रहता है, पत्तों और फूलों में बसता है। इसलिए हमारे खुदा ने अपने को दुनिया में परिमित कर रखा है। यह बात समझ लेनी चाहिए कि इस सृष्टि के अस्तित्व से पहले वह अपनी निजी सत्ता में लीन था और अब उसकी सत्ता समूची सृष्टि में विद्यमान है।

योग साधना

भारतीय साधकों के अनुसार साधना के अनेक मार्ग हैं। लेकिन अजपा इनमें श्रेष्ठतम समझा जाता है। इस साधना को कोई भी व्यक्ति सोते-जागते और किसी भी अवस्था में और किसी भी क्षण संपन्न कर सकता है। कुर्आन शरीफ में आया है, "कोई ऐसी चीज नहीं है जो उसके तारीफ़ और तौसीफ़ के बयान में रूतबुललसान[12] न हो। लेकिन तुम उनकी हम्द[13] को नहीं समझ सकते।" इस आयत में भी उसी सच्चाई की ओर संकेत मिलता है।

श्वास के भी दो रूप हैं। जो श्वास बाहर आती है वह "ऊ' (वह) कहलाती है। और जो अंदर जाती है वह 'मन' (मैं) कहलाती है। अर्थात् ऊ मन (मैं वह हूँ) इन दो शब्दों का उच्चारण सूफ़ी लोग किया करते हैं। हू अल्लाह। उनका मानना है कि जब सांस अंदर जाती है तो 'हू' की ध्वनि निकलती है और जब यह बाहर निकलती है तो 'अल्लाह' की अतएव संसार के सभी प्राणी अपनी सांस के आने-जाने के साथ में नाम लेते रहते हैं। उन्हें इस सच्चाई का पता नहीं चल पाता है।

ईश्वर या अल्लाह के गुणों का वर्णन

सूफियों के अनुसार अल्लाह ताला में दो सिफतें पाई जाती हैं-जलाल और कमाल। संपूर्ण सृष्टि इन गुणों से युक्त है। भारतीय चिंतन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणमयी है। अर्थात् सत्व, रज और तम। इन्हें सृष्टि, विकास और प्रलय भी कह सकते हैं। सूफी दर्शन में इन्हें तखलीक, बक़ा और फ़ना कहा गया है। सूफ़ियों ने बक़ा को जमाल से जोड़ कर देखा। ये तीनों गुण एक दूसरे में किसी न किसी अंश में अवश्य निहित रहते हैं। इसलिए हिंदू साधकों ने इन्हें त्रिमूर्ति नाम दिया है अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जो सूफियों के जिब्रील, मीकाइल और इस्राफ़ील के समान हैं। ब्रह्मा या जिब्रील में जन्म देने की शक्ति निहित है।[14] दूसरी शक्ति विष्णु या मीकाइल से संबंधित है। तीसरी शक्ति प्रलय या संहार करने की है, जिसके प्रतीक महेश या इस्त्राफ़ील हैं। जल, वायु और अग्नि का संबंध इन्हीं तीन शाक्तियों से है। पानी का संबंध जिब्रील से है, हवा का संबंध इस्त्राफ़ील से और आग का संबंध मीकाइल से है। ये तीनों चीजें सभी जीवधारियों में पाई जाती हैं। अतएव जल के रूप में विद्यमान ब्रह्मा ईश्वर की वाणी को अभिव्यक्ति देते हैं। विष्णु अग्नि के समान हैं जिनके नेत्रों से तेज और दृष्टि अस्तित्व में आए। महेश श्वास के प्रतीक हैं। यदि श्वास का आना जाना बंद हो जाए तो मृत्यु हो जाती है।

अतएव भारतीय चिंतन में जो तीन गुणों की अवधारणा है, उसका संबंध अल्लाह ताला के ईजाद, बक़ा और फ़ना तीन गुणों से है। इन गुणों के योग से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। वह एक निश्चित समय तक अस्तित्व में रहती है और अंत में विलीन (फ़ना) हो जाती है। इन तीनों गुणों की आंतरिक शक्ति को त्रिदेवी कहते हैं। त्रिदेवी ने सरस्वती, पार्वती और लक्ष्मी को जन्म दिया।

आत्मा या रूह

रूह दो प्रकार की है। पहली आम रूह दूसरी अबुल अरवाह। भारतीय दर्शन में इन्हें आत्मा और परमात्मा कहा गया है। जल की लहर की भांति शरीर और आत्मा का संबंध होता है। या जिस प्रकार आत्मा और शरीर का संबंध है। लहरों में निहित शक्ति को अबुल अरवाह या परम आत्मा कहा जा सकता है। जबकि पानी सिर्फ अल्लाह के वजूद या शुद्ध और चेतन सत्ता के समान है।[15]

वायु

मनुष्य के शरीर में वायु विद्यमान है। इसके पांच स्थान हैं। इसलिए इसके पांच नाम हैं-प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

प्राण वायु का वह रूप है जो नथुनों से पांव के अंगूठे तक प्रभावित है। इसमें श्वास लेने की शक्ति होती है। अपान का संबंध मलेंद्रिय से है। समान, नाभि और वक्ष में प्रभावित रहती है। उदान, गले से मस्तिष्क तक विद्यमान है। व्यान वायु बाहर और भीतर हर जगह प्रवाहित होती है।

चार अवस्थाएं

कई सूफियों के अनुसार हर प्राणी को चार आलमों (अवस्थाओं) से गुजरना पड़ता है। नासूत, जिबूत, मल्कूत और लाहूत। कुछ लोग पांच बताते हैं। और इनमें आलमे मिसाल को भी शामिल करते हैं। हिंदू चिंतक चार अवस्थाएं मानते हैं। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जागरण नासूत के समान है। स्वप्न मल्कूत, सुषुप्ति जिबूत के समान है। यह वह अवस्था है जब मैं और तू का द्वैत नहीं रहता। चाहे आंखें बंद करके देखो या खोलकर दोनों में एक जैसी अनुभूति होती है। जुनेद बग़दादी ने कहा है कि "तसव्वुफ़ आं बूद कि साअत न नशस्ती बीतीमार" अर्थात् एक क्षण बिना तीमारदार के बैठने का नाम तसव्वुफ़ है। इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि उस वक्त आलमेनासूत और मल्कूत का ख्याल तक जहन में न आए। लाहूत और तुरीय एक समान हैं। यह ध्यान की सर्वोच्च अवस्था है।

ध्वनि या आवाज

आवाज़ अल्लाह ताला की उसी सांस से पैदा हुई जिसका जन्म 'कुन',[16] शब्द से हुआ था। भारतीय चिंतक इस ध्वनि को श्रुति कहते हैं। भारतीय चिंतक जिस ध्वनि को नाद कहते हैं वह तीन प्रकार की है। पहली अनाहत अर्थात् वह नाद जो सदैव से विद्यमान थी, अब भी है, भविष्य में भी रहेगी। सूफी लोग इस आवाज को आवाज-ए-मुतलक़ और सुल्तान-ए-अज़कार कहते हैं जो कि शाश्वत है। महाकाश की अनुभूति का माध्यम है। यह नाद हर व्यक्ति नहीं सुन सकता। लेकिन इन दोनों धर्मों के महान साधक इससे परिचित हैं। आहत वह नाद है जो दो वस्तुओं के परस्पर टकराने से होती है। शब्द वह नाद है जो शब्दों की रचना से पैदा होती है। मुसलमानों के विश्वास के अनुसार इस नाद से इस्मेआजम पैदा होता है, जिसे हिंदू वेद मुख कहते हैं। इसी से 'ऊँ' (प्रणव) का उच्चारण होता है। इस्मे आजम वह शक्ति है जो तख़लीक, बक़ा और फ़ना तीनों गुणों से युक्त है। फ़तहा, ज़म्मा और कसरा को वेद में अकार, उकार और मकार कहते हैं। हिंदू इस नाद को एक विशेष प्रतीक ऊँ के रूप में याद करते हैं जो हमारे इस्मेआजम से बहुत मिलता-जुलता है।

प्रकाश या नूर

नूर तीन प्रकार का है। जमाल, जलाल और अनवर। तीसरा अनवर बेरंग होता है। इसकी प्रतीति उन बंदों को होती है जिन पर अल्लाह की विशेष कृपा होती है। क़ुरान शरीफ़ में आया है, "अल्लाह ताला जमीनों और आसमानों का नूर है। हिंदू योगी इस नूर को ज्योति स्वरूप, स्वप्रकाश और श्वासप्रकाश के नाम से जानते हैं। यह तेज स्वयं प्रकाशित है। हिंदू साधक और सूफ़ी लोग दोनों इस प्रकाश के माध्यम से ज्योतिस्वरूप ब्रह्म की अनुभूति करते हैं।"[17]

ईश्वर की अनुभूति या साक्षात्कार

खुदा ताला के दीदार को हिंदू योगी 'साक्षात' कहते हैं। अर्थात् चर्म चक्षुओं से अल्लाह ताला का दीदार करना। इस लोक या परलोक में अल्लाह ताला के दीदार को लेकर हर धर्म के ग्रंथों में चर्चा पाई जाती है। हर धर्म और संप्रदाय के लोग इस बात पर विश्वास करते हैं।

ईश्वर या अल्लाह के नाम

अल्लाह ताला के अनगिनत नाम हैं। ये ज्ञान की सीमा से बाहर हैं। हिंदू तत्वचिंतकों की भाषा में उस सर्वशक्तिमान खुदा को असंग, निर्गुण, निरंकार, निरंजन, सत् और चित् कहते हैं। उसे चैतन्य भी कहा जाता है। इस्म-उल-हक़ को अनंत, क़ादिर को समर्थ, समी को श्रोता, बसीर को दृष्टा कहते हैं। यदि हक ताला से रूह को जोड़ दें तो हिंदू लोग इसको वक्ता कहते हैं। अल्लाह को ऊं, 'हू' को सः और फरिश्ता को देवता कहते हैं। मज़हर अतम को अवतार कहते हैं। अवतार का अर्थ मज़हर ही होता है। अर्थात् किसी में ईश्वरीय गुणों की विद्यमानता को अवतार कहते हैं। एक समय में एक ही अवतार होता है। 'वही' को 'आकाशवाणी' कहते हैं। हिंदू ऊपर से उतरी हुई (इल्हामी) किताबों को वेद कहते हैं। परियों को अप्सरा, शैतान को राक्षस और आदमी को मनुष्य कहते हैं। वली को ऋषि और नबी को महासिद्ध कहते हैं।

ब्रह्मांड

ब्रह्मांड का अर्थ 'कुल' है।

दिशाएं

मुसलमान चिंतक मशरिक, मग़रिब, शुमाल, फ़राज और नशेब को अलग-अलग

दिशाएं मानते हैं। इसलिए उनके अनुसार छः दिशाएं हुईं। हिंदू दस दिशाएं मानते हैं। वे पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के बीच के अंतरालों को भी दिशाओं में गिनते हैं।

आकाश

आसमान जिन्हें गगन कहा जाता है। हिंदुओं के अनुसार इनकी संख्या आठ है। इनमें सात-सात सैयारों (नक्षत्रों) के स्थान हैं। अर्थात् जुहल, मुश्तरी, मिर्रीख, शम्स, जुहरा, अतारद और कमर। हिंदू सात सितारों को नक्षत्र कहते हैं। शनि, बृहस्पति, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुध और चंद्र। और वह आकाश जिसमें सातों सितारें हैं उसे आठवां आकाश कहा जाता है। हिंदू सितारों के गिरोह को सप्तर्षि कहते हैं और मुसलमान अपने संशोधन के साथ कुर्सी कहते हैं। कुर्सी कुरआन में आया है, ''उसकी कुर्सी (तख़्त) ज़मीन और आसमानों के ऊपर स्थित हैं।'' नवां महाकाश है। इसकी गिनती आसमानों में नहीं होती। क्योंकि वह सबके ऊपर है और कुर्सी आसमानों और ज़मीनों को अपनी परिधि में लिए हुए हैं।

भूमि

हिंदुओं के अनुसार भूमि के सात स्तर हैं। या सप्ततल हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं-तल, अतल, वितल, तलातल, सुतल, महातल, रसातल और पाताल। मुसलमानों के विश्वास के अनुसार भी ज़मीन के सात तबके हैं। क़ुरआन शरीफ में आया है, ''अल्लाह ताला वह खुदा है जिसने सात आसमानों की तख़लीक़ की और इन आसमानों के मानिंद ज़मीनें भी पैदा कीं।''

भूमियों का विभाजन

शास्त्रकारों ने भूमि को भी सात वर्गों में विभक्त किया है। इसलिए इन्हें हफ़्त अक़्लीम कहते हैं और हिंदू सप्तद्वीप कहते हैं। इन सातों वर्गों को वे एक प्याज की पर्तों की तरह नहीं मानते बल्कि एक सोपान की भांति समझते हैं। सात पहाड़ पृथ्वी की समूची परिधि को अपने भीतर समेटे हुए हैं। हिंदू इन्हें सप्त कुलाचल कहते हैं। इनके नाम हैं सुमेरू, शुक्तिमान, हेमकूट, हिमवान, निषध, पारियात्र और कैलाश।[18] कुरआन में आया है, ''जमीन के ऊपर पहाड़ मेखों के मानिंद हैं।''

इन सातों पहाड़ों के आसपास सात समुद्र हैं, जो पहाड़ का घेरा बनाए हुए हैं। इन्हें सप्तसमुद्र कहते हैं। इनके नाम हैं-लवण समुद्र (दरिया-ए-शोर), इक्षुरस (दरिया-ए-आबनेश्कर), सुरा समुद्र (दरिया-ए-शराब), घृत समुद्र (दरिया-ए-रोगन), दधि समुद्र (दरिया-ए-जुगरात), क्षीर समुद्र (दरिया-ए-शीर) और स्वाद जल

(दरिया-ए-आब जुलाल)।

हिंदू पहाड़ों और समुद्रों को स्वर्ग कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे बहिश्त या जन्नत कहा जाता है। वह धरती जो सभी भूमियों, पर्वतों और समुद्रों के नीचे है, नरक कहलाती है। इसका मतलब दोजख़ और जहन्नुम है। हिंदुओं का विश्वास है कि स्वर्ग और नरक ब्रह्मांड के भीतर ही हैं।

नरक का वर्णन

एक अवधि के बाद आत्मा शरीर छोड़ देती है। और सूक्ष्म शरीर में प्रवेश कर जाती है। शरीर अच्छे और बुरे कर्मों के आधार पर मिलता है। अच्छे कर्म हों तो अच्छा शरीर और बुरा कर्म हो तो बुरा शरीर मिलता है। रूह के जिस्म से अलग होने के बाद और सवाल-जवाब होने के बाद जो जन्नत के अधिकारी हैं उन्हें जन्नत में तथा जो दोजख़ के अधिकारी हैं उन्हें दोज़ख में ले जाया जाएगा। इसका ज़िक्र कुरआन में भी मौजूद है।[19]

प्रलय या क़यामत

हिंदुओं की आस्था है कि लंबे समय तक स्वर्ग और नरक में ठहरने के बाद महाप्रलय होती है। इसका जिक्र क़ुरआन में भी मौजूद है। आसमानों, जन्नतों और दोजखों के खत्म होने के बाद जन्नत और दोजख़ के रहने वालों को निजात (मुक्ति) मिल जाएंगी अर्थात् जन्नत और दोज़ख दोनों खुदा की ज़ात में फ़ना (विलीन) हो जाएंगी। क़ुरआन में इस बात का ज़िक्र भी मिलता है।

मुक्ति

मुक्ति से अभिप्राय सभी चीजों का परम तत्व में विलीन हो जाना है।[20] जैसा कि क़ुरआन में आया है, रिज़वाने अकबर यानि फ़िरदोस-ए-आला में दाख़िल होना सबसे बड़ी निजात है। इसी को मुक्ति कहते हैं। मुक्ति के तीन प्रकार हैं। पहली जीवन मुक्ति अर्थात् जीवन में ही ब्रहम से साक्षात्कार कर लेना। ऐसे साधक समूचे जगत को ब्रह्म स्वरूप समझते हैं। हर वस्तु में ईश्वर का प्रतिबिंब देखते हैं। अखिल ब्रह्मांड को ब्रह्म स्वरूप मानते हैं। सूफी लोग जिसे आलम-ए-अकबरी कहते हैं। उनसुर-ए-आजम अर्थात् महाकाश को खुदा का बदन अर्थात् सूक्ष्म शरीर समझते हैं। और खुदा की ज़ात को इस शरीर की आत्मा के समान समझते हैं। मुस्लिम सूफियों की वाणी में इस बात का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार भारतीय ऋषि-मुनियों जैसे व्यास आदि ने ब्रह्मांड अर्थात् आलम-ए-कबीर को अद्वितीय माना है। और उसके गुणों का इसी रूप में

बखान किया है। इसका उद्देश्य यह है कि जब कोई सूफी या साधक किसी वस्तु पर दृष्टिपात करे तो उसे ऐसा प्रतीत हो जैसे कि वह महापुरुष के किसी अंग या अंश को ही देख रहा है। अर्थात् ईश्वर से ही साक्षात्कार कर रहा है।

पाताल, जो भूमि का सातवां स्तर है, महापुरुष के पैर का तलुआ है। और रसातल जो भूमि का छठा स्तर है, महापुरुष के पैर का टखना है। शैतान महापुरुष के पैर की अंगुलियां हैं और शैतान की सवारी जानवर महापुरुष के पैर के नाखुन हैं। महातल, जो भूमि का पांचवां स्तर है, उसका घुटना है। चौथा स्तर तलातल महापुरुष की पिंडली है। अतल महापुरुष की जंघा है। वितल महापुरुष की गति है। पर्जन्य देवता, जो समूची सृष्टि की निर्माता है, महापुरुष के शौर्य और पराक्रम का प्रतीक है। वर्षा महापुरुष की संतान या मणि है। भूलोक अर्थात् पृथ्वी से आकाश तक का भाग महापुरुष की नाभि है। दक्षिण के तीन पहाड़ महापुरुष के दाएं हाथ और उत्तरी तीन पहाड़ महापुरुष के बाएं हाथ हैं। सुमेर पर्वत महापुरुष का मेरूदंड है। ऊषा कालीन प्रकाश महापुरुष का परिधान और प्रातः का प्रकाश महापुरुष की सफेद चादर है। संध्याकालीन प्रकाश उसकी वेष-भूषा है। समुद्र उसकी नाभि की गहराई है और बड़वानल अग्निगृह, जो सातों समुद्रों को जलाकर सुखा देता है। इनमें ज्वार नहीं आने देता और महाप्रलय के दिन समूचा जल सुखा देगा। ग्रीष्म महापुरुष की प्रकृति है। अन्य नदियां उसकी शिराएं हैं। क्योंकि सभी शिराएं नाभि तक जाती हैं। गंगा, यमुना और सरस्वती महापुरुष की मुख्य शिरा है।

भू-लोक के ऊपर गंधर्व देवता निवास करते हैं। वहां से सभी ध्वनियां उत्पन्न होती हैं। वह स्थान महापुरुष का उदर है और महा-प्रलय (क़यामत कब्रा) की अग्नि महापुरुष का स्वल्पाहार है। पानी का शुष्क हो जाना महापुरुष का जलपान करना है। स्वर्गलोक महापुरुष का वक्ष है। उसमें सदैव हर्ष और आनंद का निवास रहता है। सभी नक्षत्र महापुरुष के विभिन्न रूप है। प्रश्न करने से पहले कल्याण का आशीर्वाद देना महापुरुष का दायां स्तन है और प्रश्न करने के बाद उसकी जो कृपा होती है वह उसका बायां स्तन है। त्रिगुणमयी प्रकृति महापुरुष का हृदय है। उसके हृदय कमल में श्वेत, लाल और पीले रंग होते हैं। इन तीन रंगों में तीन गुण निहित होते हैं। इन तीनों रंगों की अभिव्यक्ति ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। ब्रह्म जिसका नाम मन है, महापुरुष के हृदय का स्पंदन है। विष्णु महापुरुष की कल्याणकारी वृत्ति है। महेश महापुरुष के रौद्र रूप की अभिव्यक्ति है। चंद्रमा महापुरुष का हास्य है। रात्रि महापुरुष का धनुष है, सुमेरू पर्वत महापुरुष का मेरूदंड है, बाईं और दाईं तरफ के पहाड़ महापुरुष की पसलियां हैं। और आठ फरिश्ते जो कोतवाल हैं, इंद्र इनका पेशवा या सेनापति है। वह बहुत शक्ति संपन्न है। वर्षा उसकी इच्छा पर निर्भर करती है। महापुरुष

का दायां हाथ कल्याण करने वाला और बायां हाथ वर्षा करने वाला है। अप्सराएं (बहिश्त की हूरें) महापुरुष की हथेली की रेखाएं है। और यक्ष (फरिश्ते) महापुरुष के हाथ की अंगुलियों के नाखून हैं और लोकपाल (तीन विशेष फरिश्ते) महापुरुष के दाएं हाथ हैं और यम (एक फरिश्ता) महापुरुष की भुजा है और उसके बाएं हाथ का लोकपाल है।

कल्पवृक्ष (तूबा का दरख्त) महापुरुष की लाठी है। उत्तरी और दक्षिणी नक्षत्र (कुतब) महापुरुष के बाएं और दाएं कंधे हैं। वरुण महापुरुष की गर्दन की हड्डी है। अनहद या अनाहत (सुल्तान-उल-अज़कार) महापुरुष का मधुर स्वर है। स्वर्गलोक के ऊपर स्थित महरलोक महापुरुष की ग्रीवा है। महरलोक के ऊपर स्थित जनलोक महापुरुष का मुख है। इच्छाएं महापुरुष की ठोड़ी हैं। दुर्गुण महापुरुष का निचला अधर है। प्रेम महापुरुष का मसूढ़ा है। संसार की सभी भक्ष्य वस्तुएं महापुरुष का भोजन है। जल महापुरुष का पात्र है, अग्नि उसकी जिह्वा और सरस्वती उसकी वाक्क्षमता है। चार वेद उसकी वाणी हैं। माया, जिसके कारण जगत की सृष्टि हुई, महापुरुष का हास-विलास है। आठ दिशाएं महापुरुष के कान हैं। अश्विनी कुमार महापुरुष के दो नथुने हैं। गन्धतन मात्रा (खाक) महापुरुष की घ्राण शक्ति है। वायु उसकी श्वास है। स्वर्ग का पांचवा वर्ग जनलोक और छठा वर्ग तपलोक उसके तेज से आलोकित हैं। इसके उत्तरी और दक्षिणी भाग महापुरुष के दाएं और बाएं नेत्र हैं। सूर्य महापुरुष की दृष्टि है। सांसारिक दिन और रात उसके निमिष हैं (पलक झपकना) प्रेम सिखाने वाला मित्र और घृणा को प्रेरित करने वाला त्वस्त त्वष्ट्री महापुरुष की प्रतिष्ठा हैं। लोक जो सबसे ऊपर है, महापुरुष का कपाल है। आयात-ए-तौहीद और किताब अल्लाह (कुरआन) महापुरुष का इमाम-उल-दिमाग (दुर्मात्र) है। काले मेरु महापुरुष के केश हैं। पर्वतों की वनस्पति महापुरुष के शरीर के रोम हैं। लक्ष्मी महापुरुष का सौंदर्य है। तेजवान सूर्य उसके शरीर की स्वच्छता है। चिदाकाश महापुरुष की आत्मा है। हर प्राणी का शरीर महापुरुष का आवास है। सिद्ध पुरुष (इंसान-ए-कामिल) महापुरुष के रहने का विशेष घर है। जैसा कि अल्लाह ताला ने दाऊद से कहा था, "ऐ दाऊद मेरे लिए एक घर तामीर करो।" उन्होंने जवाब दिया, "ऐ अल्लाह आप मकान से बेनियाज़[21] हैं।" खुदाबंद ने फरमाया, "तुम मेरे घर हो, तुम अपने घर को दूसरों से खाली कर दो।"

जो विशेषताएं समूचे ब्रह्मांड में पाई जाती हैं वे मनुष्य के पिंड में भी निहित हैं। जो व्यक्ति इस सत्य को जानता है उसे मोक्ष प्राप्त होता है। कुरआन शरीफ की एक आयत में इस सत्य की ओर संकेत किया गया है-खुशहाल वह जमात है जिस पर अल्लाह ताला ने अपना फ़ज़ल किया है।

सर्वमुक्ति से अभिप्राय है समस्त सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर ब्रहम की सत्ता (ज़ात-ए-बारीताला) में लीन हो जाना। यह मुक्ति सभी प्राणियों को सुलभ है। आकाश, धरती, स्वर्ग, नरक, ब्रह्मांड, दिन और रात सबका अस्तित्व है लेकिन ये सब एक दिन उसकी सत्ता में विलीन होकर मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। कुरआन की आयतों में इस प्रकार के मोक्ष (निजात) की ओर संकेत पाया जाता है सबसे उम्दा व अफ़ज़ल बात अल्लाह ताला की खुशनूदी[22] है। यानि ये बड़ी शानदार कामयाबी है। और यकीनन अल्लाह के महबूब के लिए न तो खौफ होगा न अंदोह।[23]

सर्वदा मुक्ति से आशय है शाश्वत मुक्ति। यह सच्चे साधक होने पर निर्भर करती है। इसका संबंध ईश्वर प्राप्ति के मार्ग पर निरंतर अग्रसर होने से है। सांसारिक विषयों से ऊपर उठने या उदासीन होने पर ही इसकी प्राप्ति संभव है। यह कालातीत होती है। कुरआन में जहां कहीं भी बहिश्त[24] का जिक्र आया है वहां बताया गया है कि हमेशा इस बहिश्त में रहेंगे। सर्वदा मुक्ति को इस्लाम में मारिफ़त कहा गया है। मुक्त और अब्दा समानार्थी हैं।[25]

दिन और रात

हिंदुओं के अनुसार ब्रह्मा (जिब्रील) समय है और ब्रह्म का विलीन हो जाना समूची सृष्टि का अंत है। संसार के अठारह अंज उसके एक साल के बराबर हैं। एक अंज एक हजार वर्ष के बराबर है जैसा कि कुरआन की दो आयतों में बयान किया गया है। ''और उसका हर एक दिन एक हजार साल के बराबर है इसलिए मेरे(दाराशिकोह) शुमार के मुताबिक जिब्रील का जमाना और दिन और तमाम आलम की जिदंगी का जमाना ब्रह्मा से मिलता जुलता है। दुनिया के अठारह अंज उसके एक साल के बराबर हैं और हर एक अंज एक हजार साल के बराबर है इसमें किसी किस्म की कमी बेशी नहीं होती।''[26]

भारतीय शास्त्रकारों की गणना का यही तरीका था। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि यह अठारह का गणित आठ और दस की संख्या पर निर्भर करता है जिसके बाद किसी चीज की गणना नहीं की जा सकती। कयामत-ए-सग़रा को खंड प्रलय कहते हैं। जो पहले भी हुई है और बाद में भी होगी। अग्नि, जल और वायु के प्रकोप के रूप में खंड प्रलय घटित होती है। इस प्रलय के बाद जब हमारा दिन रात्रि में बदल जाएगा तो उसे महाप्रलय या क़यामत-ए-कब्रा कहते हैं। जैसा कि कुरआन की दो आयतों में आया है-'क़यामत-ए-कब्रा के बाद शब-ए-बतून में जो रोशन के बराबर है, तमाम मौजूदात[27] जात-ए-वाहिद[28] में जम[29] हो जाएंगे। और इसका जमाना अठारह अंज के बराबर है।''

अवस्थात्मन अर्थात् ज़बूत की अवधि खुदाताला की उम्र के बराबर है, जिस पर प्रलय का कोई असर नहीं होता। इसका क़ुरआन में जिक्र पाया जाता है।[30]

काल या समय

हिंदू आस्थाओं के अनुसार ब्रह्मा सांसारिक दिन और रातों में परिमित नहीं है। जब सांसारिक रात्रि समाप्त हो जाएगी तब पुनः सूर्योदय होगा और जब दिनांत होगा तब फिर रात्रि आएगी। यह एक अनवरत क्रम है, इसे अनादि प्रवाह कहते हैं। हाफ़िज़ शीराज़ी के निम्नांकित शेर में इस काल चक्र की ओर संकेत किया गया है-

मा जरायी मन ओ माशूक-ए-मिरापायां नेस्त
हर चे आगाज़ न दारद पज़ीरद अंजाम

अर्थात् मेरे और मेरे मेहबूब के बीच जो मामला है उसकी कोई सीमा नहीं क्योंकि जाहिर है जिस चीज़ का आगाज़ नहीं होता, उसका अंजाम भी नहीं होता।

अंत में दाराशिकोह इस पुस्तक की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए लिखता है कि जो व्यक्ति न्यायप्रिय है और सहृदय है वह तुरंत समझ जाएगा कि मुझे इन विचार बिंदुओं को एकत्र करने में इतनी कठिनाई उठानी पड़ी होगी। यह विश्वास है कि समझदार और विवेकशील लोग इस पुस्तक के अध्ययन से आनंदित होंगे, लेकिन दोनों धर्मों के संकीर्ण और विवेकहीन लोग इससे लाभान्वित नहीं हो सकेंगे।

दाराशिकोह ने अन्यत्र लिखा है कि मित्रो, जो कुछ इस अध्याय (21) में लिखा गया है वह मेरे निजी परिश्रम और शोध का परिणाम है। हालांकि तुमने ये बातें न तो किसी किताब में पढ़ी होंगी और न किसी से सुनी होंगी लेकिन मेरे निष्कर्ष कुरआन की उन दो आयतों के एकदम अनुरूप हैं। अगर कुछ अज्ञानियों को ये बातें अखरती हैं तो मुझे इसका कोई डर नहीं है। कुरआन में आयत है-यकीनन अल्लाह ताला खुद कफ़ील (आत्मनिर्भर) है और दुनियावी चीजों की ज़रूरत से बालातर है।[31]

यह बात स्पष्ट है कि दाराशिकोह के इन विचारों को संकीर्ण मुसलमानों ने पसंद न किया होगा। विशेष रूप से उन उल्माओं ने जो अकबर और दाराशिकोह के पथभ्रष्ट हो जाने का नारा बुलंद करते थे और इस्लाम के खतरे में होने का प्रोपेगंडा करके धार्मिक सहिष्णुता और व्यापक दृष्टिकोण को क्षति पहुंचाना चाहते थे। दाराशिकोह इस समूह की साजिशों से अवगत था इसलिए मज्मा-उल-बहरैन की अंतिम पंक्तियों में वह यह बात लिखने पर विवश हुआ कि मैंने अपने शोध से प्राप्त होने वाले निष्कर्षों को अपने परिवार जनों के लिए लिपिबद्ध किया है। दोनों कौमों के अवाम से मेरा कोई वास्ता नहीं है।

वस्तुत: इस पुस्तक में दाराशिकोह ने हिंदुओं और इस्लाम धर्म के अध्यात्म चिंतन का तुलनात्मक विवेचन किया है। इससे संबंधित बहुत सी भ्रांतियों को दूर किया है। और इस प्रकार उसने एक नई चिंतन पद्धति का सूत्रपात किया है। यदि यह सिलसिला जारी रहता तो संभव था कि भारतीय मुसलमान राजनीतिक दृष्टि से अलग-थलग न दिखाई पड़ते। लेकिन संकीर्ण उलेमाओं ने दाराशिकोह के इन प्रयासों को असफल कर दिया।

मिर्ज़ा क़तील एक ही साथ सूफी और योगी दोनों था। और हमेशा कलंदराना जिंदगी बसर करता था। उसने दोनों धर्मों के अध्यात्म का गहरा अध्ययन किया था और उसने तसव्वुफ़ और वेदांत के बीच समानता खोजी थी। वह लिखता है, ''वेदांतियों के कथनों का अनुवाद किसी नुस्खे (प्रति) में नहीं है लेकिन सूफियों के विधि-विधान वही हैं जो कि वेदांतियों के हैं।''

रक्स (नृत्य) और वज्द (ध्यान) जो चिश्ती सूफियों में मिलते हैं उन पर बैरागियों का प्रभाव है क्योंकि वे भी प्राय: मूर्तियों के सामने नाचा करते हैं।[32]

दूसरी रोचक बात यह है कि व्यास के पुत्र शुक देव की कथा और राम की धर्मपत्नी सीता के पिता की कथाओं का प्रभाव कई सूफियों में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए शुक देव की कथा इब्राहीम बिन आदहम से जुड़ी हुई हैं।[33]

आधुनिक युग के विचारकों ने भी तसव्वुफ़ पर वेदांत के प्रभाव को स्वीकार किया है। ऐ जाज-उल-हक कुदूसी लिखते हैं, ''भारत और मध्यपूर्व में तसव्वुफ़ पर हिंदू वेदांत और नव अफलातूनी चिंतन का प्रभाव दिखाई देता है। इस प्रकार तसव्वुफ़ ने हर देश और स्थान की संस्कृति से श्रेष्ठतम तत्वों को चुनकर उनमें एक नई आत्मा को प्रतिष्ठित कर दिया। उसे मानवीय ज्ञान के और अधिक समीप पहुंचा दिया। इसमें ऐसी रोचकता और कशिश पैदा कर दी कि तसव्वुफ़ ने एक आंदोलन का रूप धारण कर लिया।''[34]

तसव्वुफ़ में भारतीय तत्व

तसव्वुफ़ एक महत्वपूर्ण वैचारिक आंदोलन था। इसलिए उसके विविधतापूर्ण विचारों का कोई एक स्रोत नहीं हो सकता। तसव्वुफ़ सदैव से उन्मुक्त विचारों का पक्षधर रहा है। दूसरों के विचारों को आत्मसात करता रहा है और आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन-संशोधन करता रहा है। यही कारण है कि इसके अनुयायियों में अलग-अलग विचारों के लोग शामिल हो गए थे। इस दर्शन पर यूनानी चिंतन का प्रभाव तो था ही साथ में भारतीयता के तत्व भी शामिल हो गए थे।

हमारा उद्देश्य तसव्वुफ़ में विभिन्न बाहरी तत्वों की अलग-अलग पहचान करना

नहीं है। अपने विषय की सीमाओं की दृष्टि से यहां हम केवल उन तत्वों की ओर संकेत करना चाहेगे जिनमें भारतीय दर्शन के प्रभाव लक्षित होते हैं।

नृत्य और ध्यान में समानता

इस समतामूलक तत्व की चर्चा पहले की जा चुकी है।

देवालयों का सम्मान

जिस प्रकार हिंदू लोग अपने देवालयों और पूजा स्थलों की पवित्रता का बहुत अधिक ध्यान रखते हैं और उनमें नंगे पैर प्रवेश करते हैं उसी प्रकार जर तुश्ती लोग अपने आतिश कदों में नंगे पैर प्रवेश करते हैं। यही हाल भारतीय मुसलमान का है। जब वे लोग मजारों पर जाते हैं तो बहुत दूर से ही जूते उतार लेते हैं और मजार के पास नंगे पैर जाते हैं। हिंदुओं के मंदिरों की भांति मजारों के दरवाजे भी बहुत छोटे और तंग होते हैं। और अगर कोई आदमी अंदर जाना चाहे तो उसे सिर झुकाकर प्रवेश करना पड़ता है। जैसा कि हिंदू, मंदिरों में दाखिल होते समय करते हैं।

कटिबंध या कमरबंदी की रस्म

जरतुश्तों में यह प्रथा पाई जाती है कि जब कोई लड़का या लड़की युवा अवस्था में प्रवेश कर जाते हैं तो उनकी कमर में एक धागा बांध दिया जाता है जो आजीवन बंधा रहता है। हिंदुओं में भी यह कटिबंध की प्रथा पाई जाती है।

संसार से विरक्ति

वृतांतकारों की राय है कि फ़ज़्ल बिन अयाज़ और इब्राहीम बिन आदहम बलखी ने संसार से विरक्ति की प्रेरणा गौतम बुद्ध से ली थी–''हमीं नुक्ता रा दर बारा ए इब्राहीम आदहम बलखी अज़ पेशवाने तसव्वुफ़ ईरान आवर्दा अंद।''[35]

गौतम बुद्ध और इब्राहीम आदहम बलखी दोनों ने राजकुमार (शहजादा) होते हुए सांसारिक विषयों से मुक्ति प्राप्त की। इस समानता के बारे में गोल्ड ज़ेहर का विचार है कि ''संसार से संबंध विच्छेद के भाव को गौतम बुद्ध से ग्रहण किया गया है।'' यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि संसार से संबंध विच्छेद करने की प्रेरणा का संबंध कुरआन से है। वास्तविकता यह है कि बुद्ध के मन से संसार में दुःखों की अधिकता के कारण विरक्ति का भाव जागृत हुआ था। जबकि इब्राहीम बिन आदहम ने अल्लाह के हुक्म के अनुसार दुनिया से अपना नाता तोड़ा था। जैसा कि मुसलमानों का विश्वास है कि अल्लाह ताला इंसान को खुद अपनी तरफ रूजू (आकृष्ट)

फरमाता है। लेकिन तर्क-ए-दुनिया के बारे में दोनों के उद्देश्य में विरोध नहीं पाया जाता।[36]

इस्लामी तसव्वुफ़ और भारतीय अध्यात्म में समानता

निर्वाण या फ़ना

निर्वाण और फ़ना की कल्पना में समानता को लेकर कई विद्वान एकमत हैं। इस्लामी तसव्वुफ़ में फ़ना की कल्पना बायजीद बुस्तामी से शुरू होती है। उनके उस्ताद अबूअली सिंधी थे., जो धर्मांतरण के बाद मुसलमान हुए थे। सईद नफ़ीसी लिखते हैं-

"इस सिलसिले में सबसे पहला प्रमाण ईरानी तसव्वुफ़ के सैर-ओ-सुलूक के सिद्धांत में पाया जाता है जो हमारे तसव्वुफ़ के तमाम फ़िरक़ों में मौजूद है। यह सिद्धांत वस्तुतः तरीका-ए-मानी में मिलता है और थोड़े बहुत अंतर के साथ बौद्ध मत में भी पाया जाता है। हमारे तसव्वुफ़ का अंतिम सोपान यह है कि सालिक (साधक) सुलूक (साधना) की मंजिलों से गुजर कर अपने ख़ालिक (ब्रह्म) से मिल जाए और फ़ना फ़िल्लाह (ब्रह्मलीन) हो जाए। साधना की यह सर्वोच्च स्थिति है। तसव्वुफ़ के उन तमाम सिद्धांतों की पृष्ठभूमि में बौद्ध धर्म की निर्वाण से संबंधित शिक्षाएं हैं। जिनकी चरम परिणति फ़ना फ़िल्लाह है।

तौहीद[37] और फ़ना से संबंधित अवधारणाएं सबसे पहले अबू यजीद बुस्तामी (निधन 848 ई०) के संवादों के माध्यम से उभर कर सामने आईं। वे एक गैर मुक्लिद[38] विचारों के सूफी थे। ऐसे विचार जरतुश्ती आस्थाओं में भी मिलते हैं। गोल्डज़ेहर और निकलसन आदि की राय यह है कि ये विचार उपनिषद् और वेदांत से लिए गए हैं। इन विद्वानों की यह मान्यता भी है कि अबुल यजीद बुस्तामी ने यह विचार अपने उस्ताद शेख अबू अली सिंधी से प्राप्त किए थे। अबूअली सिंधी एक प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी थे। सामान्यतः यह माना जाता है कि वे सिंध के निवासी थे लेकिन अनुमान किया जाता है कि वे संध के निवासी थे जो कि खुरासन का एक गांव था। प्राचीन वृतांतों में सिंधी के बजाय संधी आया है। संध बुस्ताम के बहुत पास था। शेख अबू अली सिंधी ने अबू यजीद बुस्तामी को तौहीद के सिद्धांतों की शिक्षा दी थी। जबकि अबू यजीद ने अपने उस्ताद को इस्लाम के कर्तव्यों की शिक्षा दी थी। मैसिग्नोन (Massignon) के कथनानुसार अबू यजीद ने अपने उस्ताद को हनफी अकीदों की शिक्षा दी थी। हाल ही में ज़ेहनेर (Zaehner) ने एक तर्कों से सुसज्जित शोध आलेख प्रस्तुत किया है।

इसके अनुसार अबू अली सिंधी को इस्लाम की शिक्षाएं देने की आवश्यकता महसूस हुई थी। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि वह आखिपकार एक हिंदू धर्म का

अनुयायी रहा होगा और उसने बाद में इस्लाम कुबूल किया होगा। अनुमान किया जाता है कि वह उपनिषद् के उन विचारों को सिंध से अपने साथ लाया होगा जिनके अनुसार एक सूफी अपने आपको ईश्वर की सत्ता (खुदा का वजूद) से अभिन्न समझता है। यह वह समय था जब शंकराचार्य ने वेदांत का भाष्य लिखा था। ज़ेहनेर की यह राय अबू यजीद और उपनिषद् के विचारों की समानता पर आधारित है।

इस विषय में अज़ीज़ अहमद का मत है कि यदि इस बात को मान भी लिया जाए कि फ़ना की कल्पना का स्रोत बौद्ध मत है तो भी इसे निर्वाण के समकक्ष नहीं समझा जा सकता। इन दोनों अवधारणाओं के मूल में 'अंह' का अंत है। निर्वाण इससे अलग हटकर है। इस्लामी तसव्वुफ़ में फ़ना के बाद बक़ा की मंज़िल आती है। और इस मंजिल पर पहुंचकर इंसान खुदा की ज़ात में फ़ना होकर दवामी बक़ा[39] हासिल कर लेता है।

वहदतुल वजूद अर्थात् अद्वैत ब्रह्म

इस्लामी तसव्वुफ़ में वहदतुल वजूद का विचार इब्नुल अरबी के साथ आया है। लेकिन प्रो. मुहम्मद मुजीब की राय है कि वहदतुल वजूद की शिक्षा सबसे पहले उपनिषदों ने दी है।

मरिफ़त अर्थात् ब्रह्म से साक्षात्कार

अल बेरूनी के अनुसार मरिफ़त के संबंध में सूफियों और हिंदुओं के विचारों में समानता दिखाई देती है। आरिफ (सत्य का जिज्ञासु) के लिए दो रूहें हो जाती हैं। एक वह रूह जो क़दीम (प्राचीन) है और जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इस रूह से आरिफ गैब (परोक्ष सत्ता) को जानता है। दूसरी रूह बशरी (लौकिक) है। जिसमें परिवर्तन का सिलसिला जारी रहता है।

मशहूर सूफी नूरउद्दीन अब्दुर्रहमान जामी (817-898) तसव्वुफ़ के अंतिम दौर के विद्वानों में गिने जाते हैं। उनकी रचना 'लवायह' सूफी शिक्षाओं का संग्रह है। लाहिया 26 में एक बयान पाया जाता है जो हू-ब-हू बौद्धों के निर्वाण की अवधारणा की पुष्टि करता है।

बौद्धों के ध्यान और तसव्वुफ़ के मुराकबा[40] में समानता है। गोल्ड ज़ेहर के अनुसार ये दोनों एक जैसे ही हैं।

ख़िर्क़ा अर्थात् ऋषियों के वस्त्र

ख़िर्क़ा के बारे में सूफियों का विचार है कि यह परिधान उन्हें विरासत में मिला

था[41] लेकिन गोल्ड ज़ेहर का मत है कि यह परिधान बौद्धों से प्राप्त हुआ था। निकलसन की मान्यता है कि यह ईसाइयों से लिया गया था।

तौहीद

गोल्ड ज़ेहर ने यह भी कहा है कि सूफियों की तौहीद संबंधी अवधारणा इस्लामी तौहीद से भिन्न है। और उन्होंने यह विश्वास हिंदू धर्म शास्त्रों से ग्रहण किया। इस संबंध में डा. ताराचंद ने एक बातचीत के दौरान मुझे बताया था कि ईरानियों के यहां खुदा और इंसान में उतना फासला नहीं है जितना कि इस्लाम में। कुरआन में इंसान को दूर रखा गया है और इंसान को बंदे का दर्जा दिया गया है। खुदा एक आला चीज है और इंसान की हैसियत बहुत अदना रखी गई है। भारतीय चिंतन में खुदा इंसान के बहुत क़रीब है।

भारतीय दृष्टांत

बाद के समय में मावरा-उन-नहर में बौद्ध धर्म के विचारों का वहां के तसव्वुफ़ पर गहरा असर पड़ा। गोल्ड ज़ेहर के अनुसार अबू यजीद बुस्तामी की कृतियों में समुद्र और नदियों के दृष्टांत मिलते हैं। इनके स्रोत बौद्ध मत के अवधान वर्ग में तलाश किए जा सकते हैं।

अन्य बातों में समानता

मध्य एशिया में बौद्ध स्तूपों के खंडहरों में अनेक सूफी बुजुर्गों के मकबरे बने हुए हैं। इस बात से ऐसा महसूस होता है कि मावरा-उन-नहर में इस्लाम के आगमन के बहुत दिनों बाद तक वहां के लोगों में प्राचीन विश्वास सुरक्षित रहे थे। बुखारा के पास एक गांव कस्रे हिंदी (हिंदी महल) कहलाता है जहां सहरवर्दी परंपरा के प्रणेता शेख शहाबुद्दीन सहरवर्दी दफन हैं। किसी ज़माने में वह स्थान बौद्ध भिक्षुओं का केन्द्र था। क्योंकि यहां सहरवर्दी सूफी की मज़ार थी इसलिए बाद में इसका नाम बदल कर कस्रेइरफ़ान रख दिया गया।

हब्स-ए-दम[42] या प्राणायाम

हब्स-ए-दम का अर्थ है सांस खींचना या रोकना। सूफियों ने श्वास रोकने का अभ्यास बौद्धों से सीखा था। हब्स-ए-दम को बौद्ध योग या प्राणायाम कहते थे। दाराशिकोह ने 'रिसाला-ए-हक़नुमा' में इस अभ्यास की सविस्तार चर्चा की है। दाराशिकोह ने यह अभ्यास मुल्लाशाह कादरी से सीखा था। हज़रत शाह शरफुद्दीन बू

अली कलंदर पानीपती भी यह अभ्यास किया करते थे। अपने रिसाले में उन्होंने इसका उल्लेख किया है-

चश्म बंदोगोश बंदोलब बंद
गर न बीनी सिर्रे हक़ बर मा नख़ंद

अर्थात् आंखें, होंठ और कान बंद कर लो। हक़ीकत का भेद तब तुम पर खुलेगा। हम पर क्यों हंसते हो?

ख़्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती अजमेरी भी प्राणायाम किया करते थे। यह योगियों की पद्धति थी। सैयद सुल्तान मुहीउद्दीन बादशाह कादरी लिखते हैं कि मैंने एक बूढ़े आदमी को देखा जिसका नाम शेख हुसैन था। उन्होंने तीस साल तक योगियों का संगति में रहकर प्राणायाम का योग सीखा था। हिंदी भाषा में इसे 'त्रिकोटि' कहते हैं। कादरी और सहरवर्दी परंपरा के सूफियों में अब भी मुरीदों को सांस रोकने का अभ्यास कराया जाता है।

शेख का तसव्वुर

अज़ीज़ अहमद का बयान है कि नक्शबंदी सिलसिले में तसव्वुर-ए-शेख का आम रिवाज था और ऐसा प्रतीत होता है यह शेख का तसव्वुर भी बौद्ध धर्म से लिया गया है। वैदिक युग में इसे ध्यान कहा जाता था। मध्य एशिया में बलख बौद्ध धर्म का बड़ा शिक्षा केन्द्र था। बाद में यहां अनेक प्रसिद्ध सूफियों का जन्म हुआ।

मिर्ज़ा मज़हर जान जानां ने तसव्वुर-ए-शेख़ और मूर्ति पूजा को एक समान बताया है। कहते हैं:

''इन लोगों (हिंदुओं) की मूर्ति पूजा की वास्तविकता यह है कि ईश्वर के आदेश से जो देवता इस मृत्युलोक में अवतरित हुए हैं या ऐसे महापुरुष जिनकी आत्मा मृत्यु के बाद भी इस लोक में लोक कल्याण के लिए विचरण कर रही है या ऐसे जीवित महात्मा जो हजरत खिज्र के समान अनश्वर हैं-हिंदू धर्म के अनुयायी इन तीनों की मूर्तियां बनाते हैं और पूजा-अर्चना के माध्यम से उनसे तादात्मय स्थापित कर लेते हैं। इस उपासना के द्वारा वे अपने इहलोक और परलोक को सुधारते हैं। तादात्मय स्थापित करना और राबता कायम करना एक ही बात है। मुसलमान सूफी भी मूर्तिपूजक हिंदुओं की भांति अपने मुर्शिद (गुरु) की सूरत का तसव्वुर करते हैं। और आत्मसुख की अनुभूति करते हैं। अंतर केवल इतना है कि मुसलमान पीरों की प्रतिमा नहीं बनाते।''

तस्बीह या माला

तस्बीह का इस्तेमाल गैर इस्लामी बताया गया है। इसलिए अनुमान होता है कि

तस्बीह के इस्तेमाल की प्रेरणा ईसाइयों या बौद्धों से प्राप्त हुई है। लेकिन पूरे विश्वास के साथ यह बात नहीं कही जा सकती कि दोनों में से किस संप्रदाय ने इसकी प्रेरणा दी।

गेरूए रंग के कपड़े

कहा जाता है कि गौतम बुद्ध के शिष्य गेरूए वस्त्र पहनते थे और आज भी बौद्ध भिक्षु इसी रंग का परिधान धारण करते हैं। यह बात पूरे विश्वास के साथ नहीं कही जा सकती कि मुसलमानों ने गेरूआ लिबास कब अपनाया। अनुमान होता है कि जब इस्लाम पूर्व एशिया और ईरान में पहुंचा तो उस समय इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का वर्चस्व था। चिश्ती परंपरा के सूफी आज़ भी गेरूए कपड़े पहना करते हैं। इससे भी अनुमान होता है कि इन्होंने यह परिधान बौद्धों के प्रभाव से अपनाया होगा। हालांकि शाह अब्दुल रज़्ज़ाक बांसवी की धार्मिक शिक्षा क़ादरी परंपरा में हुई थी लेकिन वे प्रायः गेरूए रंग की पगड़ी बांधते थेऔर इसी रंग के चादर और रूमाल इस्तेमाल करते थे।

तसव्वुफ़ में भारतीयता के तत्वों का समावेश है। दोनों के तरीकों या पद्धतियों में काफी समानता है। अल बेरूनी ने दोनों के पारस्परिक संबंधों पर गहराई से विचार किया है। पातंजलि के विचारों का उल्लेख करते हुए अल बेरूनी ने लिखा है:

''केवल ईश्वर की एक सत्ता में लीन होने पर व्यक्ति को एक नई स्थिति का बोध होता है। जो व्यक्ति सभी सांसारिक विषयों से उदासीन होकर केवल अपने आत्म तत्व में मग्न रहता है तो उसकी किसी सांस से, चाहे वह भीतर जाती हो या बाहर आती हो, उसे कोई लाभ नहीं होता। जो व्यक्ति इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है अर्थात तत्व चिंतन में लीन हो जाता है, उसके श्वास की शक्ति शारीरिक शक्ति पर प्रभावी हो जाती है। और उसका आठ वस्तुओं पर अधिकार हो जाता है। इनको पाकर वह उदासीन हो जाता है।''

इसके बाद अल बेरूनी उन आठ वस्तुओं की व्याख्या करता है और लिखता है:

''आरिफ (साधक) जब मारिफत (ब्रह्म से साक्षात्कार) की अवस्था में पहुंच जाता है, तब सूफी लोग भी ऐसा ही महसूस करते हैं। वे कहते हैं कि आरिफ के लिए दो रूहें एक शाश्वत तथा दूसरी परिवर्तनशील।''

इमाम अलगज़ाली की दुनियावी और रूहानी तफरीक[43], शेख अल हजवेरी के इल्म-ए-इलाही और इल्म-ए-मख़लूक और अनेक सूफियों के इल्हामों से संबंधित विश्वासों और उपनिषद् के वेदांत दर्शन में समानता पाई जाती है। माधव (1197-1276 ई.) ने हिंदू अध्यात्म में वहदतुल शहूद के सिद्धांत को सम्मिलित किया। इस सिद्धांत को 16वीं 17वीं शताब्दी में शेख अहमद सरहिंदी (मुजहिद्द अलिफ सानी)

ने भारतीय तसव्वुफ़ का अंग बनाया था। हालांकि शेख़ साहब को न तो माधव के विषय में जानकारी थी और न ही साफ़ तौर पर ऐसा लगता है कि वे हिंदू वेदांत के चिंतन से प्रभावित हुए थे। वस्तुत: दोनों चिंतकों के सोच में उस समय साफ अंतर झलकने लगता है जब माधव यह कहते हैं कि इस भौतिक जगत की सृष्टि का कारण ईश्वर नहीं हैं। इसी प्रकार हिंदू और मुस्लिम अध्यात्म चिंतन की पारिभाषिक शब्दावली में काफी समानता है। दाराशिकोह इसी से प्रभावित हुआ था। दोनों चिंतनों में तौहीद के लिये एक जैसे शब्द हैं। जैसे-मुतलक़ अर्थात् परम और हकीकत-उल-हक़ायक अर्थात् सत्यस्य सत्यम्। यह बात भी दिलचस्प है कि दोनों संप्रदायों के शास्त्र विरुद्ध आचरण करने वाले समुदाय (मलामती और पाशुपती) शास्त्र विरोधी होने के कारण हेय दृष्टि से देखे जाता हैं। बकौल अज़ीज़ अहमद जहां तक तसव्वुफ़ का संबंध है यदि इस बात को स्वीकार भी कर लिया जाए कि अबू यजीद बुस्तामी ने जाने या अंजाने उपनिषद् के ज्ञान को आत्मसात कर लिया था। लेकिन जुनेद बगदादी ने बाद में इन विचारों को पूरी तरह से पुन: व्याख्यायित किया और उन्हें इस्लाम धर्म के अनुकूल बनाया।

भारत में सूफियों ने तसव्वुफ़ के भारतीय अध्यात्म में एकदम घुल मिल जाने के भय से अपने शरीयत विरोधी व्यवहार में परिवर्तन किया। यही कारण था कि भारत के सूफियों ने शरीयत पर अमल करने पर अत्यधिक बल दिया।[44] लेकिन यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि जो हिंदू बाद में मुसलमान हो गया थे उनमें से बहुत से योगी और बैरागी भी थे। उदाहरण के लिये ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के प्रभाव के कारण जयपाल योगी मुसलमान हो गया था।[45] इसी तरह शाह बरकत उल्लाह के मुरीदों में जैन बैरागी और किशनदास बैरागी के नाम आते हैं। बहुत संभव है कि इन बैरागियों ने इस्लामी शरीयत की पाबंदी करने की कोशिश की हो लेकिन अनुमान होता है कि उन्होंने अपनी पुरानी पैतृक आस्थाओं को एकदम नष्ट नहीं होने दिया होगा। और उन्होंने इस बात की कोशिश भी की होगी कि व्यावहारिक और धार्मिक जीवन में एकरूपता पैदा की जाए।[46]

खानकाहों का जीवन

ईरानियों में खानक़ाहों[47] का विचार कहां से आया, इस विषय में अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने बौद्ध विहारों से खानक़ाहों के निर्माण की प्रेरणा ली होगी। बौद्ध मत के अनुसार भिक्षुओं को शालाओं में रहकर जीवन बिताना होता था, यही कारण है कि मध्य एशिया में बड़ी संख्या में बौद्ध विहार पाए जाते थे। फाह्यान ने बौद्ध विहारों के विषय में लिखा है-

"घड़ियाल की आवाज़ें सुनकर तीन हजार भिक्षु भोजन के लिए इकट्ठे होते थे। जब वे रसोई में प्रवेश करते थे तो बड़े शालीन और गंभीर दिखाई देते थे। वे लोग क्रम से बैठ जाते थे। वातावरण शांत होता था। वे अपने प्याले नहीं खड़खड़ाते थे और न ही सेवकों और खाना खिलाने वालों को पुकारते थे, बल्कि हाथों के संकेतों से उन्हें बुलाते थे।"

शेख शहाबुद्दीन सहरवर्दी ने सबसे पहले खानक़ाही जीवन से संबंधित सामग्री को एकत्र किया। उन्होंने सूफियों और खानक़ाह में रहने वालों के जीवन में समानता पैदा करने की कोशिश की। दोनों के विषय में उन्होंने विस्तार के साथ लिखा है। 'अवारिफ-उल-मारूफ' के महत्व पर प्रकाश डालते हुए प्रो. खलीक अहमद निज़ामी ने लिखा है-

"यह तसव्वुफ़ की बेहतरीन किताबों में शुमार की जाती है। तेरहवीं सदी में जब सिलसिलों की तंजीम शुरू हुई तो सहरवर्दिया सिलसिले के अलावा अन्य सिलसिलों ने भी इस किताब को अपना लिया। 'अवारिफुल मारूफ़' की खूबी यह है कि इसमें तसव्वुफ़ की बुनियादी धारणाओं, खानक़ाहों की व्यवस्था, मुरीदों और शेखों के संबंध और अन्य विषयों पर बड़ी गंभीरता के साथ विचार-विमर्श किया गया है। तसव्वुफ़ से संबंधित पारिभाषिक शब्दावली के अर्थ भी दिए गया हैं। इस किताब की सबसे बड़ी अहमियत यह है कि एक ओर तो तसव्वुफ़ का समूचा दर्शन इसमें विद्यमान है, दूसरी ओर इसमें खानक़ाही जीवन की झांकियां प्रस्तुत की गई हैं।"

सूफी फ़िरके की संरचना

पीर-ओ-मुर्शिद इस संरचना का केंद्र होता था या फिर उसका जांनशीन (उत्तराधिकारी) इस व्यवस्था को देखता था। पहले उसे ख़लीफ़ा और फिर बाद में उसे सज्जादा-नशीन के नाम से याद किया जाता था। उसका यह फ़र्ज़ होता था कि वह इस परंपरा (सिलसिला) के मुरीदों को आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करे और इन शिक्षाओं के जरिये अवाम तक खुदा के ज्ञान को पहुंचाए। सूफियों की गतिविधियों को जारी रखे और नये मुरीदों को दाखिल करे। पीर-ओ-मुर्शिद खानक़ाह में निवास करता था। फकीरों की जमात की एक प्राचीन संस्था खानक़ाह थी। आमतौर पर ये खानक़ाहें किसी परंपरा के महापुरुष की मज़ार के आसपास बनाई जाती थीं या उनके भीतर ही मजार हुआ करती थी।

ईरानी और भारतीय सूफी सिलसिलों में पारस्परिक संबंध

वास्तव में ईरान और भारत के तसव्वुफ़ का जन्म एक ही स्रोत से हुआ था और

इनमें हमेशा सौहार्द और आत्मीयता बनी रही थी। ईरान और भारत का सबसे प्राचीन सूफी सिलसिला, सिलसिला-ए-क़ादरिया था। जिसका ईरान, भारत और अफगानिस्तान में बहुत अधिक प्रभाव था।

दूसरा सिलसिला नक़्शबंदी था। शेख बहाउद्दीन नक़्शबंदी से पहले इस सिलसिले के शेखों को ख्वाजगान और तरीका-ए-ख्वाजगान कहते थे। शेख बहाउद्दीन के जमाने में इस सिलसिले को सिलसिला-ए-नक़्शबंदी कहने लगे। दसवीं शताब्दी के अंत और ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में इस तरीके में शेख अहमद सरहिंदी हुए और उनके लकब के आधार पर यह सिलसिला-ए-मुजाहिदी कहलाया। भारत के नक़्शबंदी सिलसिले के शेख मुजाहिदी के नाम से जाने जाते हैं।

तीसरा सिलसिला चिश्तिया है। इस सिलसिले की शुरूआत ख़रासान और मावराउन्नहर में हुई और वहां से भारत पहुंचा। बाद में सिर्फ अफगानिस्तान में बाकी रहा और वर्तमान में भारत में बहुत प्रसिद्ध है।

चौथा तरीक़ा-ए-सहरवर्दी है। इसका पहला केंद्र बगदाद था। बाद में दक्षिणी ईरान अर्थात् खुज़स्तान, फ़ारस और करमान में इसका आगमन हुआ और वहां से भारत पहुंचा।

भारत में खानक़ाहें

भारतीय तसव्वुफ़ में हिंदू मत के खंडन की परंपरा ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के जमाने से शुरू हुई। पंजाब के आरंभिक सूफियों ने और बाद में चिश्ती सिलसिले के सूफियों ने हिंदुओं को इस्लाम धर्म ग्रहण करने की प्रेरणा दी। उन्होंने एक बड़ी मुहिम चलाई। लेकिन शेख निजामुद्दीन औलिया के जमाने में इसकी गति धीमी पड़ गई। इसका कारण यह नहीं था कि हिंदू आमतौर पर इस्लाम की कृपाओं से वंचित हैं और उन्हें आसानी के साथ मुसलमान नहीं बनाया जा सकता। वे लोग केवल उस सूरत में मुसलमान हो सकते थे अगर उन्हें एक लंबी अवधि तक किसी मुस्लिम सूफी की सोहबत में रहने का अवसर मिले।

'मलफूज़ात्' और सूफी वृतांतों में ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख मिलता है कि हिंदू योगियों और सूफियों के बीच आध्यात्मिक चमत्कारों के मुकाबले हुआ करते थे। सफीउद्दीन काजोरवी ने एक हिंदू योगी से हवा में उड़ने की होड़ लगाई थी। करामात और चमत्कारों के जरिए हिंदुओं को मुसलमान बनाने की घटनाओं का उल्लेख शेख जलालुद्दीन बुखारी की रचनाओं में भी मिलता है। अठारहवीं शताब्दी में मुहम्मद बिलगरामी जैसे सूफियों और हिंदू योगियों के बीच अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने की प्रतिस्पर्धाओं का उल्लेख मिलता है।

दूसरी ओर धर्म प्रचारक और उन्मुक्त चिंतन के पेशवाओं की हैसियत से सूफियों का संपर्क सबसे पहले हिंदू अवाम से हुआ। इस प्रकार हिंदू लोग तसव्वुफ़ की विशेषताओं और योग की बारीकियों से परिचित हुए। हिंदू और मुसलमान दोनों ख्वाजा मुईनउद्दीन चिश्ती के प्रति एक सी श्रद्धा रखते थे। बाबा फरीदगंजशकर की खानक़ाह में योगियों का आना जाना बना रहता था। एक अवसर पर शेख निजामुद्दीन औलिया की योगी से भेंट हुई थी। शेख साहब ने उस योगी से सवाल किया-

''असल कार तुम्हारे दरम्यान कौन सा है?''

उसने जवाब दिया-

''हमारी किताबों में यही लिखा हुआ है कि मनुष्य के भीतर दो लोक हैं। एक सिफली[48] और दूसरा अल्वी[49]। अल्वी सिर से नाभि तक और सिफली नाभि से पैरों तक है। अल्वी में ईश्वरीय सौंदर्य की विद्यमानता है और सिफली में सांसारिक शिष्टाचार की शिक्षाएं निहित हैं।'' इस बातचीत के बाद शेख साहब ने कहा मुझे उसकी बात बहुत अच्छी मालूम हुई।

भारतीय सूफियों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने तरीकत के मर्म की व्याख्या करने के लिए हिंदुओं की पुराण कथाओं तथा तत्वदर्शन से संबंधित नैतिक शिक्षाओं से प्रेरणा ग्रहण की क्योंकि भारतीय मुसलमान इस्लामी परंपराओं की अपेक्षा भारतीय परंपराओं से अधिक परिचित था। इस प्रकार उन्हें बड़ी आसानी के साथ आध्यात्मिक रहस्यों को समझाया जा सकता था। एक अवसर पर शेख निजामुद्दीन औलिया ने एक ब्राह्मण की घटना का बयान किया था। जिसने अपना सब कुछ खो दिया था, लेकिन उसे इस बात का गर्व था कि उसके गले में अब भी 'जनेऊ' पड़ा है। इस घटना से यह नैतिक शिक्षा ग्रहण की गई कि मनुष्य को सांसारिक अर्थ और यश से संबंध नहीं जोड़ना चाहिए और सब कुछ खो देने के बाद भी अल्लाह से मुहब्बत को तर्क (छोड़ना) नहीं करना चाहिए। अल्लाह की मुहब्बत ही एक ऐसी दौलत है जिसको हासिल करने के लिये इंसान को पूरी जद्दोजहद करनी चाहिए। हजरत सैयद बंदानवा गैसूदराज को पंडितों और योगियों से बहस मुबाहिसा करना पड़ा था। गैसू दराज ने भी हिंदुओं की पुराण कथाओं को नैतिक शिक्षा देने के लिए इस्तेमाल किया था।

अल बेरूनी के अलावा एक दूसरे मुसलमान रूक्नुद्दीन समरकंदी ने हिंदू अध्यात्म के महत्वपूर्ण ग्रंथ 'अमृत कुण्ड'[50] का पहले अरबी में और बाद में फारसी में अनुवाद किया था। इस कार्य में उन्होंने भूजन नामक एक ब्राह्मण से सहायता ली थी और उससे संस्कृत भी सीखी थी। लखनोती में अपने निवास के दौरान उस ब्राह्मण को मुसलमान भी बना लिया गया था। यह घटना 13वीं शताब्दी की है। इस पुस्तक में हिंदू

योगियों और संन्यासियों की साधना पद्धतियों का वर्णन है। वास्तव में अकबर बादशाह के दौर से हिंदू अध्यात्म की पुस्तकों के फारसी अनुवाद का काम ठीक तरह शुरू नहीं हुआ था।

14वीं शताब्दी में बौद्धों के संसार से विरक्ति के सिद्धांत और 'चरवेति-चरैवेति' के नारे ने सूफियों को बहुत प्रभावित किया। वे इन पर आचरण करने लगे। मिसाल के तौर पर शेख निजामुद्दीन औलिया के उपदेशों में संसार से संबंध विच्छेद का जिक्र मिलता है। एक मजलिस में उन्होंने संसार से संबंध विच्छेद के बारे में कहा था, "दुनिया से रिश्ता तोड़ने का मतलब यह नहीं है कि नंगे होकर लंगोट बांधकर बैठे रहें, बल्कि रिश्ता तोड़ना तो यह है कि कपड़े पहने, खाना खाए और जो जीत में हासिल हो उसे लोगों में लेता-देता रहे, जमा न करे और अपने मन को किसी चीज में लिप्त न होने दें।"[51]

ऐसा मालूम होता है कि अपने फक्कड़पन के कारण शेख शरफुद्दीन अबू अली (निधन 1323ई.) को कलंदर के नाम से पुकारते थे। शेख नसीरउद्दीन चिराग देहलवी और उनके खलीफा और मुरीद मीर सैयद गैसू दराज ने भी ऐसा ही रहन-सहन अपना लिया था और घुमक्कड़ों व दरवेशों की तरह घूमना-फिरना शुरू कर दिया था। शेख चिराग देहलवी को निजामुद्दीन औलिया ने परामर्श दिया था कि वे शहरों में रहकर अवाम के बीच जिंदगी बसर करें और उनके साथ रहकर रूहानी जिंदगी गुजारें। इस क्रम में सबसे महत्वपूर्ण प्रसंग शेख शरफुद्दीन याहिया मुनीरी का है जिन्होंने भारत में फिरदोसिया सिलसिले की नींव डाली थी। इस सिलसिले के प्रवर्तक शेख जुनेद बगदादी और मारूफ करख़ी थे। शेख शरफुद्दीन ने बहुत यायावरी करने के बाद अपनी साधना के लिए मगध में एक झरने के किनारे अपना ठिकाना बनाया। यह स्थान हिंदू और बौद्धों की दृष्टि में पवित्र समझा जाता था। और अब वह स्थान मखदूम कुण्ड कहलाता है। लाला (लाल दीद) नामक एक कवयित्री ने नक़्शबंदी सिलसिले के सूफियों को शैव मत से परिचित कराया। वह 15वीं शताब्दी में कश्मीर की रहने वाली थी। वह लल्लेश्वरी या लल्ला आरिफ़ा के नाम से भी मशहूर है।

14वीं और 15वीं शताब्दी में तसव्वुफ़ का प्रचार जब उन लोगों के बीच हुआ जो नए मुसलमान थे या पूरी तरह मुसलमान नहीं हुए थे तो सूफियों के बढ़ते हुए प्रभाव की रोकथाम के लिए भक्ति आंदोलन का आविर्भाव हुआ। इस युग में शरआ (इस्लामी शास्त्र) के विरुद्ध आचरण करने वाले कई फिरके अस्तित्व में आ गए। ये फिरके लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने लगे। इसमें उन्हें काफी सफलता मिली। हालांकि उनके अनुयायियों की संख्या ज्यादा न थी। इन फिरकों ने तांत्रिकों की तुच्छ प्रथाओं को अपना लिया। वैष्णव संप्रदाय के प्रभावों की चर्चा करते हुए शेख मुहम्मद इकराम ने

लिखा है, ''इस संप्रदाय का उद्देश्य कबीर मत या गुरुनानक के सिख मत की भांति हिंदू और मुसलमानों को एक जमीन पर खड़ा करना नहीं था। इस संप्रदाय के प्रभाव के कारण न केवल बंगाल में इस्लाम के प्रचार में बाधा उत्पन्न हुई बल्कि कई मुसलमानों ने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया। मुसलमानों के बीच हिंदू विश्वास और आचार-विचार प्रवेश कर गए। शरआ के विरुद्ध आचरण करने वाले फिरकों की विस्तार से चर्चा बाद में की जाएगी।

16वीं शताब्दी में भारत में सूफियों के 14 सिलसिले पाए जाते थे। इनमें से 8 सिलसिले विशुद्ध शरीयत पर आचरण करते थे। दूसरे सिलसिलों में ईसाई और यहूदी शामिल थे। काज़ोरवी सिलसिले का बानी अबू इसहाक बिन शहरयार (निधन 1625 ई.) था। जो जरतुश्त धर्म छोड़कर इस्लाम की शरण में आया था।''

शरई सिलसिलों में केवल शत्तारी सिलसिला एक अकेला सिलसिला है जिसने योग और हिंदू अध्यात्म से प्रभाव ग्रहण किया था। मूल की दृष्टि से इस सिलसिले का संबंध बुस्तामी सिलसिले से था। शत्तारी सिलसिले के अनुयायी योगियों की भांति जंगलों और गुफाओं में रहते थे और अल्पभोजी होते थे। फल और पत्तों पर गुजर करते थे, हठयोग की साधना करते थे। शत्तारी सिलसिले में 'ज़िक्र' (कुरआन-शरीफ का पाठ) के आयोजन के लिए एकांत आवश्यक था। जिक्र कलमा से शुरू होता था लेकिन जिक्र अरबी, फ़ारसी या हिंदी किसी भी भाषा में किया जा सकता था। जिक्र के कुछ वाक्य ऐसे हैं जिन्हें पढ़ने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि वे सीधे-सीधे हिंदू अध्यात्म से लिए गए हैं। इनमें उपनिषदों की झलक मिलती है। इनके यहां 'हाय' का अर्थ तमाम खुदा होता है। [52]इस सिलसिले के लोग योगियों की भांति आसन और समाधि लगाते थे।

उलेमाओं के विरोध से बचने के लिए शत्तारी सूफियों को यह हुक्म दिया गया था कि वे अपनी गतिविधियों को गुप्त रखें। ग्वालियर के क्षेत्र में इस सिलसिले का कुछ प्रचार हुआ था। क्योंकि इस सिलसिले के मशहूर व मारूफ पेशवा मुहम्मद गौस का यह वतन था। अपनी जवानी में अकबर बादशाह उनका बड़ा सम्मान किया करता था। मुहम्मद गौस हिंदू संन्यासियों और सूफी संतों का बड़ा आदर करते थे। 'बहर-उल-हयात' उनकी एकमात्र पुस्तक है जो किसी मुसलमान ने हिंदू योगियों की साधनापद्धति पर लिखी थी। शेख अलस्सलाम शेख गदाई के विरोध के कारण उन्हें अकबर के दरबार से अलग होना पड़ा था। और वे दोबारा फक्कड़पन का जीवन बिताने लगे थे।

ऐसा महसूस होता है कि पंद्रहवीं शताब्दी के भारत के सूफियों ने इब्न अल अरबी के वहदतुल वजूद के उसूलों और वेतांत के सिद्धांतों में समानता के आधार खोजने शुरू कर दिए थे। लेकिन सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के अकबर बादशाह

और उसके उत्तराधिकारियों के संरक्षण में भारतीय वेदांत की पुस्तकों का संस्कृत से फारसी में अनुवाद हुआ। इसके बावजूद शत्तारी सिलसिले के अलावा किसी दूसरे सिलसिले में वेदांत के प्रति रूचि दिखाई नहीं देती। सूफी वृत्तांतों में कबीर के अलावा जो बुनियादी तौर पर हिंदू थे, 'अखबार उल अखबार' में बाबा कपूर का जिक्र मिलता है। सिर्फ अहमद (निधन 1613ई०) एक ऐसे सूफी थे जिन्होंने वैष्णव संप्रदाय के प्रभाव के कारण शरई तसव्वुफ़ से संबंध विच्छेद कर लिया था। और वे भारतीय विषयों पर हिंदी में लिखते थे।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में शिक्षित वर्ग के मुसलमानों में तसव्वुफ़ और वेदांत को सार रूप में एक समझने का रूझान पैदा हो चुका था। मुल्ला शाह और दूसरे समकालीन शेखों के वहदतुल वजूदी के मार्ग और भारतीय वेदांत के मार्ग में कोई बुनियादी अंतर नहीं दिखाई देता। ईश्वर की वहदत (एक सत्ता) से विभिन्न धर्मों की एक सत्ता तक पहुंचने का मार्ग दुर्गम और कठिन न था। इसलिए दाराशिकोह ने दूसरे धर्मों, विशेष रूप से हिंदू वेदांत की गहरी खोजबीन शुरू की। इसका परिणाम सबसे पहले 'मज्मा-उल-बहरैन' (1654-55ई.) के रूप में प्रकाश में आया। यह पुस्तक मुसलमान सूफियों और वेदांतियों की मान्यताओं का सार संग्रह है। इस कारण इसका नाम 'मज्मा उल बहरेन' रखा गया था-समुद्र संगम। दाराशिकोह के सोच पर कादरी सिलसिले के शेख महबुद्दीन इलाहाबादी के व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण का प्रभाव लक्षित होता है। उनका विचार था कि रसूल मकबूल (खुदा) काफिर और मोमिन (धर्मनिष्ठ) दोनों के लिए कल्याणकारी है। सत्रहवीं शताब्दी के अंत और अठारहवीं शताब्दी के आरंभ के शाह कलीमुल्लाह चिश्ती सूफी का ख्याल था कि इस्लाम कुबूल करने से पहले भी हिंदुओं की रूहानी तरबीयत की जा सकती थी।

भारत में तमाम बड़े सूफी सिलसिलों (चिश्तिया, नक़्शबंदी, कादरिया) का हिंदू धर्म के प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार रहा। लेकिन धीरे-धीरे उनके बीच सह-अस्तित्व की भावना विकसित होती गई और वे सहिष्णुता के व्यापक धरातल पर सोचने लगे। जैसा कि हजरत निजामुद्दीन औलिया के इस वाक्य से स्पष्ट होता है-''हर कौम रास्त राहे, दीने व किब्ला गाहे।'' सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दाराशिकोह और जहांआरा बेगम के प्रभाव से कादरी सिलसिले ने सबसे अधिक सहिष्णुता का परिचय दिया। नक़्शबंदी सिलसिला हिंदुओं के साथ किसी भी प्रकार की निकटता स्थापित करने के पक्ष में नहीं था। इस सिलसिले के एक सूफी शायर मिर्ज़ा मजहर जान जानां (1699-1708ई.) ने सर्वधर्म समभाव और धार्मिक सहिष्णुता के मार्ग को अपना लिया था, जो कि दाराशिकोह से बहुत मिलता-जुलता था। जैसा कि पहले कहा गया है कि उन्होंने वेदों को इल्हायी किताबें बताया था। उनमें भी रसूल और नबी हुए थे। हिंदू भी तौहीद

परस्त (ईश्वर को एक मानना) थे। इस प्रकार मिर्ज़ा मजहर ने उन्हें मूर्ति पूजा के आरोप से मुक्त कर दिया था। उनकी मूर्ति पूजा को सूफियों के तसव्वुफ़-ए-शेख के समतुल्य ठहराया था।[53]

शाह वली उल्लाह और उनके उत्तराधिकारियों, जिनमें सैयद अहमद बरेलवी भी शामिल थे, ने बहुत से कमजोर सिलसिलों को अपने भीतर पचा लिया था।[54] इस प्रकार वे सिलसिले पुनः शरीयत की मुख्य धारा में शामिल हो गए और उसी रंग में रच-बस गए और उन बुजुर्गों की शिक्षाएं हिंदू आस्थाओं के खंडन पर आधारित थीं। यह बात बड़ी रोचक है कि शाह वली उल्लाह के पुत्र और उत्तराधिकारी शाह अब्दुल अज़ीज़[55] कृष्ण भगवान को औलिया में शुमार करते थे क्योंकि वे भगवद्गीता से प्रभावित थे।[56] एक व्यक्ति ने आप से पूछा,

''हुजूर, कन्हैया जी के विषय में क्या फरमाते हैं?''

आपने कहा, ''बेहतर तो यह है कि उनके विषय में मौन रहना चाहिए। लेकिन हिंदुओं के एक पवित्र ग्रंथ भगवद्गीता से ऐसा मालूम होता है कि कन्हैया जी औलिया में से थे।''[57]

लकड़ी की खड़ाऊ

चिश्ती सूफियों में खड़ाऊ पहनने का आम रिवाज था बाबा फरीद गंज शकर खड़ाऊ पहना करते थे।[58] किसी व्यक्ति को खिलाफत सौंपी जाती थी तो अन्य चीजों के साथ खड़ाऊ भी दी जाती थी, जो उसके मुर्शिद पहन चुके होते थे। शेख नसीर उद्दीन चिराग देहलवी की मजार में वे सभी पवित्र चीजें दफन कर दी गई थीं, जो मेहबूब इलाही ने खिलाफत सौंपते समय उन्हें प्रदान की थीं। इनमें खड़ाऊ भी शामिल थीं।[59]

समरूपीय धार्मिक संप्रदाय

भारतीय मुसलमानों ने हिंदू धर्म की मान्यताओं और इस्लाम के उसूलों में परस्पर एकरूपता पैदा करने की कोशिश इसलिए की थी कि उनमें से अधिकांश हिंदू धर्म छोड़कर मुसलमान हुए थे। उनके लिए इस्लाम के सूक्ष्म रहस्यों को समझना बहुत कठिन था। इससे भी आगे, उनके भीतर हिंदू आस्थाएं इतनी गहरी समाई हुई थीं कि उनसे एकदम मुक्त होना असंभव था। इसलिए उन्होंने दोनों धर्मों के कुछ बाहरी तत्वों को अपना लिया और कुछ को छोड़ दिया। इस प्रकार उन्होंने एक तीसरा मध्यम मार्ग अपना लिया। जो न तो विशुद्ध हिंदू था न खालिस इस्लामी बल्कि भारतीय था। यही कारण है कि इस्लामी दुनिया यहां के मुसलमान, भारतीय मुसलमान के नाम से जाने

जाते हैं। क्योंकि उनके कृत्य और विश्वास दूसरे देशों के मुसलमानों से भिन्न हैं इसलिए इस देश का इस्लाम भारतीय इस्लाम कहलाता है। इस आस्थामूलक साम्य का परिणाम यह हुआ कि उनकी आस्थाएं यद्यपि किसी एक धर्म पर ज्यादा टिकी हुई थीं लेकिन दूसरे धर्म से भी उन्होंने कुछ तत्व ले लिए थे। इस धार्मिक मार्ग के अनुयायियों की संख्या बहुत कम हुआ करती थी और ऐसे लोग किसी क्षेत्र विशेष में रहा करते थे। इस प्रकार भारत में इस्लाम ने क्षेत्रीय या स्थानीय रंग अख्तियार कर लिया और आज भी यही सूरते-हाल पाई जाती है।

आरंभ में समन्वित आस्थाएं स्वाभाविक रूप से प्रकट हुई थीं। इनका जन्म प्रायः सिंध में हुआ था, क्योंकि उत्तर भारत में सबसे पहले मुसलमानों का आधिपत्य सिंध क्षेत्र में हुआ था और यहां इस्लामी हुकूमत का परचम लहराया था। इस्लाम के आगमन से पूर्व इस क्षेत्र में कुछ ऐसे संप्रदाय पाए जाता थे जो सिंध नदी की पूजा करते थे। हिंदुओं ने सिंध नदी को इंदरू लाल का रूप दिया था और इसे पूजते थे। बाद में इस संप्रदाय ने, जो दरिया पंथी कहलाता था, सिंध नदी को अवतार का रूप दे दिया। सिंध में मुसलमानों के प्रभुत्व के बाद इंदरू लाल को खिज्रअलिया अस्सलाम के समान स्वीकार कर लिया गया। 19वीं शताब्दी के अंत तक पटियाला के जाट खिज्र के नाम से सिंध नदी की पूजा करते हुए देखे गए और उसको जिंदा पीर का नाम दे दिया था।[60]

सिंध में एक दूसरे बुजुर्ग पीर झैरों के नाम से जाने जाते थे। हिंदू और मुसलमान दोनों इन्हें मानते थे और उनकी इबादत करते थे। ये जंगलों के स्वामी समझे जाते थे। उनका संबंध प्राचीन वन देवताओं से जोड़ दिया गया था। एक गोगा पीर भी हुए थे। उनकी गिनती भी वन देवताओं में की जाती थी। हिंदू और मुसलमान दोनों उनकी पूजा करते थे और उनका इस्लामी नाम जाहिर पीर था। वे नागों के देवता कहलाते थे। उनके नाम की छड़ियां दिल्ली से रवाना होती थीं, जैसा की पहले लिखा जा चुका है। पंचपीर, पांच पीरों का एक समूह था जिन्हें हर इलाके में अलग नाम से जाना जाता था। निम्न वर्ग के हिंदू व मुसलमान दोनों उनकी पूजा करते थे और विशेष रूप से गवैये। आरंभ में शायद ये पीर पंजाब की पांच नदियों के अवतार थे। हालांकि उनकी पूजा पंजाब से बंगाल तक समूचे भारत में होती थी।

उत्तर भारत में कुछ और भी ऐसे संप्रदाय पाए जाते हैं जिनके अनुयायियों में हिंदू और मुस्लिम बराबर के शरीक हैं। यहां इन पर विस्तार से चर्चा की गुंजाइश नहीं है इसलिए सिर्फ उनके नाम गिनकर ही संतोष करना होगा। उदाहरण के लिए मदारिया फिरका, जलालिया, अब्बासी, चेहलबदार, बेकैदोबेतार, काकाक, जुनेदिया और मलंगों का फिरका। आरिफी फकीर नाम से भी एक फिरका मिलता है। इन फकीरों के पेशवा के बारे में विस्तृत ब्यौरे नहीं मिलते। हजरत शाह सैयद आरिफ अली शाह नामक

बुजर्ग की मजार दिल्ली में है। शायद इस फिरके के लोग उनके मुरीद और अनुयायी थे। बोलचाल में लोग इन्हें अरबशाही भी कहते थे। उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले में मुस्लिम जोगियों के बारह गांव हैं, जो उनके मुरीद थे और इस सिलसिले से जुड़े हुए थे।[61]

कुछ अन्य फिरके इस प्रकार हैं। सुल्तान सखी सरवरी फिरका, सालारी फिरका, पीर भैरों का फिरका, सतपीर के अनुयायियों का फिरका, रसूल शाही फिरका, छज्जूपंथी, मख्जूबों का फिरका, लालबेगी फिरका, लालदासी फिरका, शमसी फिरका, गौरमुतशरअ फिरका और कलंदरिया आदि।

19वीं शताब्दी में मुसलमान सूफियों की धार्मिक उदारतावादी दृष्टि अपनी चरम बिंदु पर पहुंच चुकी थी। शाह गौस कलंदर ने एक कम्बल धारी दरवेश के बारे में लिखा है कि उनकी नजर में इस्लाम और कुफ्र बराबर थे। अगर कोई अंतर था तो ऐसा कि उसे महसूस नहीं किया जा सकता था। पटियाला में एक आदमी था जिसका नाम सबगत-उल्लाह था। एक बार ऐसा हुआ कि उन्होंने अपने माथे पर तिलक लगा लिया। पंडितों जैसा रूप बना लिया। गले में जनेऊ डाला और अपना नाम रंगीन रख लिया। एक दिन किसी आदमी ने उनसे नाम पूछा। बोले, ''सबगत के माने रंगीन और अल्लाह के बजाय हमने राम कर लिया। याने रंगीन राम हमारा नाम है।''

कुल मिलाकर चाहे इस्लामी तसव्वुफ़ हो या भारतीय, वह काफी हद तक भारतीय आस्थाओं और धारणाओं को स्वीकार कर चुका था। इसके साथ ही सूफियों के आचार-विचारों में बड़ी हद तक भारतीय संस्कृति और हिंदू अध्यात्म के तत्व देखे जा सकते हैं।

1. काला सागर (ब्लैक सी)
2. अल बेरूनी: किताबुल हिंद, 1-1, पृष्ठ 31-32 और 46
3. नहर के उस पार वाला क्षेत्र, जैसे तूरान
4. सरचश्मा-ए-तसव्वुफ़ दर ईरान पृष्ठ-197
5. ईसाई लोग
6. परहेज़गारी, सदाचार
7. खुदा पर भरोसा करना
8. स्वच्छंद, निरंकुश
9. अस्तित्व का बोध
10. हफ्त तमाशा, पृष्ठ 10
11. हिंदू आस्थाओं के अनुसार सृष्टि से पूर्व जल के सिवा कुछ नहीं था। हफ्त तमाशा-5
12. बोलने में सक्षम

13. प्रशंसा
14. देखिए हफ्त तमाशा-10, शाह मुहम्मद गौस बहर-ए-उल-हयात, 68-70
15. विस्तार के लिए देखिए-मज्मा-उल बहरैन (फ़ारसी) पृष्ठ 88
16. हो जा, ये वे शब्द हैं जो अल्लाह के मुख से निकले ते जिनसे दुनिया बनी। संस्कृत में इसके लिये 'भव' शब्द है।
17. विस्तार के लिए देखिये मज्मा-उल-बहरैन-(फ़ारसी) पृष्ठ, 88
18. सप्ततल और सप्त कुलाचल जैसी धारणाओं को विष्णु पुराण में देखें।
19. विस्तार के लिए देखिए, मज्मा-उल बहरैन, पृष्ठ 105-106
20. कहा गया है-तत्स्रष्टवा तदैव आनुप्राविशत।
21. उदासीन, निरलिप्त
22. रज़ामंदी
23. दुखः
24. जन्नत
25. देखिए मज्मा उल बहरैन
26. देखिए मज्मा उल बहरैन
27. अस्तित्ववान वस्तुएं
28. परम तत्व
29. विलीन
30. मज्मा उल बहरैन, पृष्ठ 114-115
31. शाह मुहम्मद गौस बहर-उल-हयात में वे सब बातें पहले ही लिख चुके थे जो बाद में दाराशिकोह ने लिख ही हैं।
32. हफ़त तमाशा, पृष्ठ 63,
33. पूर्वत्त् पृष्ठ 63-65
34. तजकिरा सूफिया-ए-सिंध, उर्दू अकादमी कराची, 1959-वेदांत दर्शन के विषय में देखिए दबिस्तान-ए-मजाहिब, पृष्ठ 165-175
35. सर चश्मा-ए-तसव्वुफ़ दर ईरान, पृष्ठ 21
36. Aziz Ahmed: Studies In Islamic Culture in the Indian Environment, Page 125
37. ईश्वर की एक सत्ता का विश्वास
38. शास्त्र विहित आचरण न करने वाला
39. शाश्वत अस्तित्व
40. समाधिस्थ या अंतर्लीन
41. विस्तार के लिए देखिए-अवारिफ़-उल-मारूफ (अलिफ़, ते) पृष्ठ 133-135
42. एक प्रकार का प्राणवायु जिसका कंठ है। इसकी गति हृदय से कंठ और तालु तक तथा सिर से भू मध्य तक है।
43. सांसारिक और आध्यात्मिक विभाजन
44. अज़ीज़ अहमद, पृष्ठ 131
45. सैरुल अक़ताब, 127-131, सैरुल आरिफ़ीन, 14, कबायदुल ज़वाद (2ते) पृष्ठ 164

46. काशिफ-उल-अस्तार (कलमी), 209-210 राजू नामक योगी ने शेख अली हजवेरी के द्वारा धार्मिक शिक्षा ग्रहण की थी और मुसलमान हुआ था।--कशफ-उल-महबूब (अलिफ, ते) 7-8
47. दरवेशों के रहने का स्थान
48. अधम लोक
49. उच्च लोक
50. शाह मुहम्मद गौस ने बहर-उल-हयात के नाम से ''अमृत कुण्ड'' का फ़ारसी अनुवाद किया था। विस्तार के लिए देखिए-मुहम्मद गौसी-गुलजार (उर्दू) 300, शेख मुहम्मद इकराम, रोद-ए-कौसर, लाहौर 1956 पृष्ठ 34-36
51. क़वाय दुल ज़बाद, पृष्ठ 37
52. अज़ीज़ अहमद, पृष्ठ 137 और भी देखिए बहरूल हयात
53. कुल्लियात-ए-तैयब्रात (आगरा, 1940) पृष्ठ 37-40
54. हयात सैयद अहमद बरेलवी:मौलाना गुलाम रसूल 'महर'
55. विस्तार के लिए देखिए -मल्फ़ूजात शाह अब्दुल अज़ीज़ देहलवी
56. रोद-ए-कौसर, पृष्ठ 569
57. देखिए मल्फू जात शाह अब्दुल अज़ीज़ देहलवी
58. सेरूल आरिफ़ीन, पृष्ठ 46
59. वही, पृष्ठ 97
60. Temple R.C.-legends of the Punjab 1893-1901, Page 508, Also see-Crook.V.-Popular Regligion & Folklore of Northern India, (Allahabad 1893) pp. 26-27 Ain-i-Akbar (V.T.) 11, pp. 340-42, A.Glosory of Tribes and Culture of the Punjab, etc. 1, p. 218
61. वाक्याते दारूल हुकूमत देहली (3) पृष्ठ 63-64

नवां अध्याय

भारतीय संगीत

ललित कलाओं में संगीत का स्थान

ललित कलाओं में संगीत का स्थान सदैव से सर्वोपरि रहा है। मानवीय सभ्यता और समाज के विकास के साथ-साथ यह कला भी निरंतर समुन्नत होती रही है। जब मानवीय इतिहास का पता चला तब संसार ने इस कला को भी पहचाना। ललित कलाएं मनुष्य के इन्द्रिय बोध से किसी न किसी रूप में संबद्ध हैं। चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला ने उन्नति की तो मनुष्य की आंखें चमत्कृत होकर रह गईं। धीरे-धीरे ये कलाएं अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुंच गई लेकिन संगीत का स्थान हमेशा से इनके ऊपर रहा है। क्योंकि चित्रकला तो सिर्फ दृष्टि का भ्रम है। इसकी वास्तविकता जब आंखों के सामने आई तो इससे जुड़ा हुआ भ्रम स्वत: समाप्त हो गया। श्रवण के माध्यम से संगीत सीधे-सीधे हृदय पर अधिकार कर लेता है। जैसे-जैसे यह कला समुन्नत होती गई वैसे-वैसे इसका जादू बढ़ता गया। इस कला से मनुष्य और पशु दोनों एक समान प्रभावित हुए। यहां तक कि संगीत के द्वारा जानवरों का शिकार किया जाने लगा।

हर युग में अपनी परिस्थितियों के अनुरूप संगीत की प्रशंसा होती रही है। भारतीय लेखकों ने और विशेष रूप से मुसलमानों में अबुल फ़ज़ल ने संगीत को 'तिलिस्मकदा-ए-इरफ़ान'[1] की संज्ञा दी है। वह लिखता है–

''इस तिलिस्मकदा-ए-इरफ़ान अर्थात् एक नग़में को सुनकर होने वाली अनुभूति को वाणी की सीमाओं के कारण बयान नहीं किया जा सकता। इस फ़न के कमाल का यह आलम है कि कभी तो आवाज़ के ज़रिये शबिस्तान[2] के परीजमाल बाशिंदों की ज़बान तक लाकर उनकी जलवा आराई से नाज़रीन (दर्शकगण) को महब (अभिभूत) करता है और कभी तक़्‌दुस (पवित्रता) का जामा पहनकर हाथ और तार के ज़रिये से रूहनुमा होता है और मजलिस को गरम करता है। कल्ब (हृदय) से निकलता और

फिर कानों से होते हुए अपनी असली जगह पर वापस जाता और इस बार हज़ारों खुशी से भरे हुए तोहफ़े अपने साथ ले जाता है।''

इसके बाद अबुल फ़ज़ल ने संगीत कला के आध्यात्मिक पक्ष को उजागर करने की कोशिश की है और इसे आध्यात्मिक खुराक के समान बताया है। यह सूफ़ियाना नज़रिया है–

''गायन को सुनने की अवस्था में श्रोताओं पर अपने बोध के अनुरूप अलग-अलग प्रकार का प्रभाव होता है। इससे यह बात बखूबी साबित हो जाती है कि गायन-कला संसार से संबंध विच्छेद करने वालों के साथ-साथ संसार में आसक्ति रखने वाले लोगों के मन को भी आध्यात्मिक खुराक देती है।''

अबुल फ़ज़ल ने 'आईन-ए-अकबरी' में संगीत कला पर एक स्वतंत्र अध्याय लिखा है। उनका विचार है कि हर प्रकार के राग, साज़ और नृत्य के तरीकों का इस विद्या (संगीत) से गहरा संबंध है। उसने भारतीय संगीत को सात भागों में विभाजित किया है–

सुर

स्वर दो प्रकार के हैं–आहत और अनाहत।

अनाहत स्वर–बिना किसी कारण के उत्पन्न स्वर को अनाहत स्वर कहते हैं। जब आदमी अंगुलियों से दोनों कान बंद कर लेता है इस स्थिति में वह जो कुछ सुनता है वह अनाहत है। ब्रह्मा इस स्वर का ज्ञान रखते हैं। जब कोई व्यक्ति बिना किसी माध्यम के या बिना किसी कारण के इस स्वर को सुनने लगता है तो उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

आहत स्वर–किसी कारण से उत्पन्न होने वाले स्वर को आहत स्वर कहते हैं। यह स्वर हवा के माध्यम से कान तक पहुंचता है। दो वस्तुओं के संघर्षण से यह स्वर उत्पन्न होता है। कहा जाता है कि विधाता ने मनुष्य के पेट और तालु में बाईस शिराएं बनाई हैं। नाभि से वायु की गति आरंभ होती है और उसे खींचने में जितनी शक्ति लगाई जाए उसी हिसाब से वह निकलती है। कहते हैं कि पांचवीं, छठी, सोलहवीं, उन्नीसवीं शिराएं गूंगी हैं और शेष अठारह के साथ स्वर हैं।

षडज

इसको मोर की आवाज़ से लिया गया है। यह चौथी शिरा तक पहुंचता है।

ऋषभ

इस स्वर को पहिए की आवाज़ से लिया गया है। पहिया बरसात के मौसम में बोलता है। इस स्वर को सातवें स्तर से दसवें स्तर तक ले जाते हैं।

गांधार

यह स्वर बकरी की आवाज़ से लिया गया है। यह स्वर नवें से तेरहवें वर्ग तक जाता है।

मध्यम

इस स्वर को गूंज से लिया गया है। यह तेरहवें वर्ग से सोलहवें तक जाता है।

पंचम

यह कोयल की कूक से लिया गया है। यह स्वर सत्रहवें वर्ग पर है।

धैवत

यह मेंढक की आवाज़ है। यह स्वर आठवें वर्ग से बाइसवें वर्ग तक जाता है।

निषाद

यह हाथी की चिंघाड़ से लिया गया है। यह बाइसवें वर्ग से दूसरी किस्म के तीसरे वर्ग तक जाता है।

इन सात सुरों में से प्रत्येक स्वर आरंभ से अंत तक तीन अलग-अलग रूप रखता है। बस 'निषाद' अपने तीसरे रूप में बाइसवें वर्ग से आगे नहीं जाता। हर वह राग संपूर्ण राग कहलाता है जिसकी रचना सातवें स्वर से होती हो और यदि छः स्वरों से रचना की जाए, जिसमें पहला स्वर तो अनिवार्य है, तो उसको खांडव कहते हैं। पांच स्वर वाले राग को आदडब कहते हैं। इसमें पहला स्वर अनिवार्य है। इससे कम स्वरों से राग की रचना नहीं होती लेकिन तान के लिए दो स्वर काफी होते हैं। तान एक विशेष प्रकार की आवाज़ होती है।

दूसरा राग-इस राग का जन्म महादेव और पार्वती से माना जाता है। महादेव के पांच मुख थे और प्रत्येक मुख से एक राग निकला। इनका परिचय इस प्रकार है-1. श्री राग 2. बसंत 3. भैरव 4. पंचम 5. मेघ 6. नट नारायण।

इन छः स्वरों को हिंदी में राग कहते हैं। और इन्हें रागों का मूल माना जाता है।

इनमें से हर एक राग के बहुत से भेद हैं। श्री राग को संपूर्ण समझा जाता है। इस राग में ऋषभ आठवें वर्ग तक जाता है। गांधार दसवें, मध्यम तेरहवें वर्ग से आगे नहीं जाता, धैवत इक्कीसवें वर्ग तक और निषाद एक ही वर्ग तक जाता है। इस प्रकार रागों में विभिन्न वर्गों के कारण भेद पैदा हो गया है।

पहले राग के ये छ: विभाग हैं–मालवी, त्रिवेणी, गौरी, केदारी, मध्य-माधवी और पहाड़ी।

दूसरे राग के भेद-देसी, देवगिरि, वैराटी, तोडी, हिंडोली।

तीसरे राग के भेद-मध्यमाद, भैरवी, बंगाली, बराटका, संदवी, पुनरज्ञ

चौथे राग के भेद-विहास, भोपाली, कानरा, हंसा, मौलिश्री, पड, हिमंजरी।

पांचवें राग के भेद-मल्हार, सौरठी, आसावरी, केसकी, गंधारी, हरसिंगारी।

छठे राग के भेद–कामोदी, कल्याण, अहेरी, शुद्ध नाट, सालक, नटहमीर।

कुछ संगीत मर्मज्ञ इनमें से प्रत्येक की पांच उपशाखाएं और बताते हैं। और इन रागों में उलट फेर पैदा करते हैं। कुछ लोग बसंत पंच और मेघ के बजाए मालकोंस, हिंडोल और दीपक कहते हैं। और उन छ: में से हर एक की पांच-पांच शाखाएं (राग रागनियां) बताते हैं। प्रत्येक शाखा में थोड़ा बहुत अंतर होता है। कुछ लोग दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें राग को शुद्ध भैरवी, हिंडोल और शुद्धनाट कहते हैं।

हर राग दो प्रकार से गाया जाता है। एक प्रकार को 'मार्ग' कहते हैं। इसमें देवस्तुतियां गाई जाती हैं। हर स्थान पर यह एक जैसा गाया जाता है। इसे एक पवित्र राग समझा जाता है। इसके जानकार दक्षिण भारत में बहुत हैं।

दूसरी गायन-पद्धति को देसी कहते हैं। यह राग क्षेत्र विशेष में गाया जाता है। ध्रुपद इसका उदाहरण है। यह राग राजधानी आगरा[3] और ग्वालियर में तथा उनके आसपास गाया जाता है। पहले इस क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ राग गाए जाते थे। जिस समय मानसिंह ग्वालियर का राजा हुआ तो नायक बख्शू, मच्छू और बहनू की सहायता से, जो अपने समय के नामी संगीतकार थे, एक आम पसंद की तर्ज का आविष्कार किया गया। जब मानसिंह का दौर समाप्त हो गया तो बख्शू और मच्छू को सुल्तान महमूद गुजराती के दरबार में शरण मिली और यहां इस तर्ज को बहुत पसंद किया गया।

ध्रुपद की रचना चार लयात्मक वाक्यांशों से की जाती है। शब्द या वर्णों में एकरूपता या क़ाफ़िया बंदी आवश्यक नहीं है। इसमें प्रेम की भावनाओं का उद्गार किया जाता है। दक्षिण में इसे 'चंद' कहा जाता है। यहां यह तीन या चार वाक्यांशों से रचा जाता है। इसमें ज़्यादातर प्रशंसा की जाती है। यह तिलंगी और कर्नाटक की भाषा में गाया जाता है। इसको धुरूद कहते हैं। जो बंगला में गाया जाता है उसे जंगलात कहते हैं। जो जौनपुर में गाया जाता है उसे चुटकला कहते हैं। जो दिल्ली में गाया जाता

है उसे क़ौल या तराना कहते हैं। अमीर खुसरो ने इसे मामत और ततार में हिंदी व फ़ारसी तर्ज़ को मिलाकर ईजाद किया है। जो मथुरा में गाया जाता है उसे विष्णुपद कहते हैं। इसमें चार, छः और आठ वाक्यांश होते हैं। इसमें कृष्ण की स्तुति गाई जाती है। जो सिंध में गाते हैं उसे 'काफ़ी' कहते हैं। इसमें प्यार-मुहब्बत की बातें होती हैं। जो पूर्वी भाषा में गाया जाता है उसे लहचारी कहते हैं। इसका आविष्कार विद्यापति ने किया है। इसमें प्रेम और विरह के उद्गार होते हैं। जो लहादर के आस-पास गाया जाता है उसे छंद कहते हैं। जो गुजरात में गाया जाता है उसका नाम जकरी है।

लड़ाई के समय बहादुर पहलवानों की प्रशंसा में गाए जाने वाले राग को करका कहते हैं। इसे सावरा भी कहा जाता है। इसमें भी चार या छः वाक्यांश होते हैं। इसे कई भाषाओं में गाया जाता है।

इनके अलावा और बहुत सी शैलियां हैं। जैसे-सारंगु, पूर्वी, धनासरी, रामकली, कुराई। अंतिम के लिए अकबर बादशाह ने नाम दिया है।

अलाप

यह दो प्रकार की होती है। पहली राग अलाप, दूसरी रूप अलाप।

अबुल फ़ज़ल ने चौथे अध्याय का नाम प्रबंध अध्याय रखा है। इसमें गीत रचने के नियम बताए गए हैं। गीत वह नज़्म है जिसमें राग गाया जाता है। इसके छः तत्व हैं-सुर, विरद,पद, प्रशंसा, प्रशंस्य का नाम, तिना तिनतना कहने और बोल अदा करने की तरकीब, पाट और तनतना ना ना। इस प्रकार के तीन से लेकर बीस अक्षर एक विशेष व्यवस्था के साथ गाए जाते हैं। और इन वाक्यांशों में इनसे मिलते-जुलते दूसरे वाक्यांश भी जोड़ लिए जाते हैं। ताल को ज़र्ब कहा जाता है। अगर छः ताल हों तो मेदनी कहते हैं और अगर एक ताल कम हो तो आंदनी कहते हैं। अगर दो कम हों तो दीपनी और अगर तीन कम हों तो बहावनी और अगर चार कम हों तो तारावली कहते हैं। लेकिन दो ताल से कम नहीं रखते।[4]

इन चार अध्यायों में स्वर के विविध रूपों का वर्णन है। पांचवें अध्याय में ताल के विविध प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है।

वाद्य अध्याय

इसमें अबुल फ़ज़ल ने विविध प्रकार के वाद्य यंत्रों का वर्णन किया है, जो अकबर के समय में प्रचलित थे। साज़ चार प्रकार के होते हैं-

तंत-तार से बनाए गए बाजों को तंत्र वाद्य कहते हैं।

वितत-अर्थात् बिना तार का बाजा या चर्मवाद्य।

गहन–हड्डियों से बनाया गया वाद्य यंत्र।

सुखर–वे वाद्य यंत्र जो सांस से बजाए जाते हैं।

उपर्युक्त चारों वाद्ययंत्रों की कई किस्में पाई जाती हैं।

पहली किस्म

जंतर–यह एक गज़ लंबी लकड़ी है जिसे खोखला कर दिया जाता है। इसके दोनों सिरों पर दो कद्दू लगाए जाते हैं। इसके सिरे पर लकड़ी की सोलह खूंटियां लगाकर इसमें पांच लोहे के तार लगाते हैं। और इन तारों को दूसरे सिरे तक ले जाकर मज़बूत बांध देते हैं। और आवाज़ को धीमा या तेज़ करने के लिए इसके आसपास थोड़े-थोड़े अंतर पर लकड़ी के टुकड़े बांधते हैं।

बीन–यह जंतर जैसा होता है। लेकिन इसकी लकड़ी उससे कुछ ज़्यादा लंबी होती है। इसमें तीन कद्दू और दो तार होते हैं।[5]

किन्नर–यह बीन जैसा होता है लेकिन इसमें लकड़ी के टुकड़े नहीं होते।

सुरबीन–यह भी बीन जैसी होती है लेकिन इसमें लकड़ी के टुकड़े नहीं होते।

इबनबरती–इसकी लकड़ी सुरबीन से बहुत छोटी और नीचे की तरफ का कद्दू ऊपर होता है। इसमें लोहे का एक ही तार होता है। शेष सभी पर्दे वैसे ही होते हैं।

रबाब–इसमें तांत के छः तार बंधे होते हैं और कई बार बारह या सोलह भी बांध देते हैं।

सुर मंडल–यह क़ानून नामक बाजे की भांति होता है। इसमें इक्कीस तार होते हैं।

सारंग–यह रबाब से बहुत छोटा होता है और गचक की तरह बजाया जाता है।

पिनाक–इसे सुरबुतान भी कहते हैं। एक लकड़ी जो कमान के बराबर लंबी होती है उसे थोड़ा-सा तिरछा करके तांत बांधते हैं। लकड़ी का औंधा प्याला दोनों तरफ रखते हैं और गचक की तरह बजाते हैं।

आदहटी–इसमें एक कद्दू और दो तार होते हैं।

किंगरा–बीन जैसा होता है मगर इसमें दो तार तांत के होते हैं और इसके कद्दू उससे छोटे होते हैं।

दूसरी किस्म

पखावज–एक लकड़ी को गोलाकार बनाकर उसे बीच से खाली कर लेते हैं। एक ग़ज़ और ज़्यादा लंबी रखते हैं। अगर इसके बीच में से दोनों हाथ फैलाकर बगल में लिया जाए तो दोनों हाथों की उंगलियां मिलती हैं। इसके दोनों मुंह कूजे के मुंह से

कुछ बड़े होते हैं। और इस पर खाल मढ़ी जाती है। इसके आस-पास चमड़े के तसमें डालकर नक्कारे की तरह खींचते हैं और चार लकड़ी के टुकड़े, जो एक हाथ में कुछ छोटे और दूसरे हाथ में कुछ बड़े होते हैं, हाथ में लेकर बजाते हैं। तसमों के पेच देने से इसकी आवाज़ कम-ज्यादा हो जाती है।

आवुज–लकड़ी को बीच से खाली कर लेते हैं और दो छोटे गोल तबल लेकर उन दोनों को मिलाकर रस्सी से मजबूत बांधते हैं और दोनों मुंह पर खाल मंढ़ते हैं।

दुहल–एक मशहूर बाजा है। बड़ा ढोल।

ढद्दा–यह ढोल की भांति होता है। लेकिन आकार में उससे बहुत छोटा होता है।

आरद हावज–हावज का यह आधा होता है।

दफ़–यह भी मशहूर है।

तीसरी क़िस्म

ताल–खुले हुए मुंह के प्याले की एक जोड़ फौलाद की बनाते हैं।

कटा ताल–छोटी मछली की भांति चार लकड़ियों या पत्थर से बनाते हैं।

चौथी किस्म

शहना–इसे फ़ारसी में सरना कहते हैं। हिंदुस्तान में शहनाई कहते हैं।

मुरली–नै की भांति होती है।[6]

उपनक–यह एक बांसुरी है, जो एक गज़ लंबी होती है, जिसे बीच से खाली कर लेते हैं और इसके ऊपर छेद करते हैं। इसमें एक बारीक नली रखते हैं।[7]

शाह आलम सानी के कलाम में इन बाजों और भारतीय साजों के नाम मिलते हैं। जैसे–अली तारे, बंसी (बांसुरी), बीन, परखवज, ताल, जैल, झांझ, घटतार, करनाई, कर्रा, खटजरी, घुंघरू, मृदंग, मंजीरा, महचंग, नफ़ीरी, नौबत, चंग, दादरा, दफ़, दमामा, ढोलक, ढोलकी, रबाब, सारंगी,[8] सितार, सरनाई, सरोद, तंबूरा और क़ानून।

उर्दू और फ़ारसी साहित्य में जहां कहीं भी नाच-गानों का जिक्र आया है वहां भारतीय साज़ों, रागों, रागनियों और विभिन्न शैलियों के नृत्यों का भी उल्लेख मिलता है। इससे न केवल उस युग के नृत्य-संगीत के प्रति प्रेम का पता चलता है बल्कि यह भी पता चलता है कि उस युग उर्दू शायरों और लेखकों को देश की ललित कलाओं के विषय में गहरी जानकारी थी। मिसाल के तौर पर 'सौदा' ने ताशा, ढोल, चंग, रबाब, और नै (बंसी) का जिक्र किया है। 'यकरु' ने एक शेर में शहनाई का ज़िक्र किया है–

शहे खूबां मेरे घर रात को आया है एक मुतरिब
मेरा दिल शाद है गा राग ऐ मुतरिब शहनाई का।

चला आया वो ज़ालिम इस लटक से रात मजलिस में
खबर रक़्क़ास मुतरिब को रह ने ताल ने सुर की

'ईंशा' के कलाम में करना, तबला, ढोलक, दहल, झांझ आदि का ज़िक्र मिलता है। नाच-गाने की एक महफिल का मीर हसन देहलवी ने इस प्रकार का चित्रण किया है –

बजे शादयाने जो वां उस पड़ी
हुई गिर्दों पेश आके आगे खड़ी
बहम मिल के बैठे जो शहना नवाज़
बना मुंह से फिरकी लगा उस पे साज़
लगे लेने उपचीं खुशी से नई
अड़ाना लगा बजने और सुघड़ई
टिकोरों में नौबत की शहना की धुन
सुघड़ सुनने वालों को कहती थी सुन
तुरही और करना-ए-शादी के दम
लगे भरने जेल और खरज में बहम
सुनी-झांझ ने जो खुशी की नवा
थिरकने लगा तालियों को बजा
लगे बजने कानून-ओ-बीन ओ रबाब
बहार तरफ जू-ए-इशरत का आब
लगी आप तबलों की मिरदंग की
सदा ऊंची होने लगी चंग की
कमांचों को सारंगियों को बना
खुशी से हर इक उनकी तरबीं मिला।

राग और रागनियां

भैरों, विहास, गुनकली, तोड़ी, असावरी
'सारंग, पूर्वी व यमन व कान्हड़ा बहम'
तेरे ही मुजरे में हो नग़मा सरा सुबह के वक्त
भैरवी, गुनकली, तोड़ी व अलैहा और खटा।

वो पूरवी करके जो गया भेस
जंगले की राह से चला परदेश।

'ऐजाज़-ए-खुसरवी' में अमीर खुसरो ने उन दोनों साज़ो का ज़िक्र किया है जो दिल्ली सल्तनत के युग में उत्तर भारत में पाए जाते थे और उन साज़ों के बजाने में मुसलमानों को भी दक्षता प्राप्त थी। चंग, रबाब, नै, (बांसुरी) दफ़, शहनाई, बाबगक, मुसकिक, ऊद (सितार की किस्म का एक बाजा), दम सरवी, दमदमा, दहलग़ाज़ी, दहल हिंदी (ढोल), दहलक ज़नान (ढोलक), बरबत, आदि। उसने तबीरा-ए-हिंदी का भी ज़िक्र किया है। जिसमें तबल, कुस और ढोल शामिल थे।[10] और हिंदुस्तानी कंगरा-ए-ज़नान या वे हिंदुस्तानी जो कंगरा बजाते थे। यह एक हिंदुस्तानी साज़ था जो किसी ज़माने में फ़ारस में बहुत प्रचलित हो चुका था। नवीं और दसवीं शताब्दी के अरबी लेखकों को इसका पता था। मिसाल के तौर पर अल हाफ़िज़ (निधन 869 ई.) और अल मसूदी (निधन 957 ई.) के अनुसार कद्दू के एक सांचे में एक तार होता था जिससे आवाज़ निकलती थी।

इस्लाम में संगीत का निषेध

इस्लाम में साज़ों के साथ संगीत सुनना हराम क़रार दिया गया है। इस संबंध में उलेमाओं और सूफ़ियों के विचारों में मतभेद पाया जाता है। इस विवाद के विभिन्न पहलुओं की जानकारी के लिए इमाम बिन तीमिया का रिसाला 'इसमा उल रक़्स', मौलाना अबुल फ़रह इब्न जोज़ी की किताब 'तलबीस व इब्लीस', मौलाना फखरुद्दीन रज़ावी का रिसाला 'उसूल उल समा', इमाम ग़ज़ाली की किताब 'कीमिया-ए-सआदत', शेख अली हजवेरी की 'कशफ-उल-हजूब', मीर खुर्द की 'सैर औलिया', शेख़ अब्दुल हक़ मुहद्दस देहलवी का रिसाला 'फ़रह-उल-इस्मा बा इख़्तलाफ इक़बाल उल मशाइख़ वा अहवाल हम फ़ी उल समा' का अध्ययन करना चाहिए।

दिल्ली के सुल्तानों में सुल्तान अल्ततमश पहला सुल्तान था जिसे संगीत से दिलचस्पी थी। उसके शासनकाल में संगीत की महफिलें सजतीं थीं। वह सुल्तान ख़्वाजा कुतबुद्दीन बख्तियार काकी की ख़ानकाह में जाकर कव्वाली सुना करता था। लेकिन समकालीन साहित्य में ऐसा कोई हवाला नहीं मिलता जिससे इस बात का अंदाज़ा मिल सके कि उसने किसी भारतीय संगीतकार को अपने दरबार में संरक्षण दिया था। अलबत्ता उसके बेटे रुकनुद्दीन फ़ीरोज़शाह (निधन 1236) को संगीत से बहुत प्रेम था। उसके दरबार में गायकों की कदर बढ़ गई थी। दूर-दूर के इलाकों से बड़े-बड़े गवैये और आला दर्जे की गायिकी में माहिर नर्तकियां उसके दरबार में जमा होती रहती थीं। यह वह ज़माना था जब भारतीय संगीत के महत्वपूर्ण ग्रंथ 'संगीत

रत्नाकर' की रचना को ज़्यादा समय नहीं बीता था। और अब ऐसा भी न था कि सिर्फ अज्मी (अरबी) गवैये हों बल्कि भारतीय गायक और कलाकार भी सामने आ चुके थे। पुरुष ही नहीं बल्कि स्त्रियां भी थीं और बड़ी संख्या में थीं। जो भारत के सिवा बाहर की नहीं हो सकतीं। वे 'संगीत रत्नाकर' में निर्दिष्ट नियमों के आधार पर ही गाती होंगी। उनके नृत्य की शैली भी भारतीय होगी।

'केक़वा' (निधन 1290) को शायरी और संगीत दोनों से दिलचस्पी थी। इसका नतीजा यह हुआ कि गायक और गायिकाएं बड़ी संख्या में जमा होने लगीं। बक़ौल बर्नी इस हुकूमत में हर गली में गवैये थे और मुहल्ले से कोई न कोई भाट सिर निकालता था। सुल्तान की प्रशंसा में गवैये फ़ारसी-हिंदी मिश्रित गाने गाते थे। क़ौल, गज़ल, होली और कलानी गाए जाते थे। इतिहासकार 'बर्नी' ने उन नर्तकियों का उल्लेख किया है जिनके नृत्य के वशीभूत होकर चिड़ियाएं हवा से उतर कर ज़मीन पर आ जाती थीं और दीवारें नृत्य करने लगती थीं।

सुल्तान जलाल-उद्दीन खिलजी (1290-1296 ई.) के युग में शाही दरबार से जुड़े हुए कलाकारों का बर्नी ने बहुत ही रोचक दृश्य प्रस्तुत किया है। वह लिखता है –

"सुल्तान के दरबार के गाने वालों में से मुहम्मद सना चंगी ढोल बजाता और फुतहा, फ़िकाही की लड़की और नुसरत खातून गाना गाती थीं। उनके खूबसूरत और दिलकश सुरों को सुनकर चिड़ियां ज़मीन पर उतर आती थीं। सुनने वाले होशो हवास खो बैठते थे, उनका दिल बेकाबू हो जाता। दुख़्तर ख़ासा, नुसरत बीबी और मेहर अफरोज़ा इतनी खूबसूरत और अजीबोगरीब चंचल सुंदरियां थीं कि जिसकी तरफ आंख उठा कर देख लेतीं या अदाएं दिखातीं तो लोग उन पर दिलोजान से फ़िदा हो जाते थे। वे सुल्तानी महफ़िल में नृत्य करतीं, जो आदमी उनके नाज़-नख़रे देख लेता, उसकी यही इच्छा होती कि वह उन पर अपनी जान निछावर कर दे। सुल्तान की महफिल ऐसी शानदार थी जिसकी झलक किसी ने सपने में भी न देखी होगी।"

अमीर खुसरो ने भी सुल्तान जलाल-उद्दीन खिलजी के संगीत प्रेम की चर्चा की है और मुहम्मद शाह के गवैयों की प्रशंसा की है।

सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316 ई.) के युग के अंतिम दौर में एक प्रकार से देश में शांति स्थापित हो चुकी थी। आम ज़रूरत की चीज़ें उपलब्ध रहती थीं। जनता की आर्थिक स्थिति सुधर रही थी। इस संपन्नता क़े माहौल में लोगों की ललित कलाओं के प्रति रुचि का विकसित होना स्वाभाविक था। इसलिए हम देखते हैं कि इस दौर में ललित कलाओं में नृत्य और गायन कलाओं ने काफी उन्नति की। इस कला के माध्यम से दरबार तक पहुंच भी संभव थी और सम्मान में वृद्धि भी हो सकती थी। यह

दौर बड़ी हद तक नृत्य और संगीत का दौर बन गई। इस युग के साज़िंदों और गवैयों का ज़िक्र करते हुए 'बर्नी' ने लिखा है:

"अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल के पहले दस वर्षों में गायकों में सबसे ज्यादा मशहूर मौलाना मसूद मुकरी के लड़के मौलाना लतीफ और हमीदुद्दीन थे। अंतिम दस वर्षों में मौलाना लतीफ़ के लड़के अल्ताफ और मुहम्मद हुए। उपर्युक्त चारों गायकों के मधुर स्वरों के जादू से रूह जिस्म से बाहर निकल आती है। किसी मनचले में उनकी आवाज सुनने की हिम्मत न थी। जिस महफिल में ये गवैये गाना गाते थे, उस महफिल की रौनक सौ गुनी बढ़ जाती थी।"

इसके अलावा 'बर्नी' ने चंग, रबाब, कमांचा, मश्काल और नौवत बजाने वालों का जिक्र किया है। इब्नेबतूता के अनुसार मुहम्मद बिन तुगलक (1325 ई.) के दरबार का सबसे बड़ा गवैया और उसके संगीत विभाग का दारोगा अमीर शम्सुद्दीन तबरेज़ी था। दरबार के सभी स्त्री-पुरुष कलाकार उसके निर्देशन में प्रदर्शन करते थे। जिनमें से अधिकांश भारतीय स्त्री-पुरुष कलाकार हुआ करते थे।

यद्यपि फ़ीरोजशाह तुगलक (1351-1393 ई.) ने लोगों से शरीयत का पालन करने की हर संभव कोशिश की। लेकिन वह मदिरापान और गाने सुनने के शौक से पीछा न छुड़ा सका। गाना सुनने का उसे इस कदर शौक था कि जुमे की नमाज़ के बाद सुल्तान चौर्बी महल में प्रवेश करता और उसके समक्ष कलाकार हाज़िर हो जाते। 'अफ़ीफ़' ने सुल्तान के अतिशय संगीत प्रेम के परिणामों का ज़िक्र करते हुए लिखा है:

"सुल्तान से इनाम पाने के लोभ में दूर-दूर से गायक कलाकार उसके दरबार में हाज़िर होते और धन प्राप्त करते। दिल्ली के गवैयों का यह हाल था कि दिल्ली छोड़कर अपने छोटे-छोटे बच्चों को साथ लेकर फ़ीरोज़ाबाद जाते। यहां तक कि चार पांच साल के बच्चों को भी साथ लाते क्योंकि सुल्तान छोटे और बड़े सभी कलाकारों को योग्यतानुसार इनाम देता था।"

उसने अज्मी (ईरानी) और भारतीय संगीतकारों में मेल-जोल कायम किया। जबकि इस्लाम में संगीत जायज़ नहीं है। इस मेल-जोल ने मुसलमानों के भीतर भारतीय संगीत के प्रति रुचि पैदा करने में सकारात्मक भूमिका निभाई। दूसरा कारण यह था कि वे हिंदू जो बाद में मुसलमान हुए थे, उनमें से भी कुछ ऐसे होंगे जिन्हें संगीत में महारत हासिल होगी। इस कारण धीरे-धीरे मुसलमान भारतीय संगीत के प्रति आकृष्ट हुए और उन्होंने यहां के शास्त्रीय संगीत की विधिवत शिक्षा प्राप्त की। इस मेल-जोल के रहते हुए मुसलमानों ने न केवल भारतीय संगीत सीखा बल्कि उसे उत्कर्ष के एक खास बिंदु तक पहुंचाया। मुसलमानों में भी ऐसे कलाकार हुए जो हिंदू

कलाकारों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर सभा में बैठते और अपनी श्रेष्ठ कला का प्रदर्शन करते थे।

इस सौहार्द और मेल जोल के फलस्वरूप संगीत विद्या पर दो पुस्तकें भी लिखी गईं। पहली 'गुन्नियतुल मीना', जिसमें भारतीय गायन शैली का वर्णन है। और दूसरी 'फ़रीदउज़्ज़मा' या 'फ़ीमारीफ़त-उल-अलहान', इसका फ़ारसी में भी अनुवाद हुआ।

अमीर खुसरो (1253-1325 ई.) ने जिस रूप में भारतीय संगीत कला की प्रशंसा की है उससे अनुमान किया जा सकता है कि भारतीय मुसलमानों में शायद वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय संगीत के मर्म को समझा था। मुहम्मद सईद अहमद मारहरवी का कथन है–

''आपकी संगीत की समझ ऐसी थी कि बड़े-बड़े सिद्धहस्त और संगीत विशेषज्ञ व गवैये आपकी शगिर्दी को गर्व की बात समझते थे। नायक गोपाल अपने समय का शीर्षस्थ कलाकार था। वह दक्षिण से केवल आपकी ख्याति सुनकर दिल्ली आया और मुद्दतों आपके सत्संग में रहकर कमाल हासिल किया। इसी प्रकार जसवन्त ने भी आपकी सोहबत उठाई थी, जो कि संगीत कला का मर्मज्ञ था।''

संगीत में आपने कई चीजों की ईजाद की। ध्रुपद की जगह क़ौल और क़लबाना बनाकर बहुत से राग ईजाद किए और हिंदी व फ़ारसी संगीत के योग से गीत बनाए थे। सितार की ईजाद आपका विशिष्ट योगदान है। उन्होंने बीन में संशोधन करके सितार बनाया था। बीन भारत का प्राचीन वाद्य यंत्र था।

अमीर खुसरो भारतीय संगीत के इस कदर प्रशंसक थे कि कई जगह उन्होंने अतिशयोक्ति से भी काम लिया है। लिखते हैं कि ''इस मुल्क के गवैयों की मीठी तानों पर लोगों के तो होश उड़ जाते थे।'' अमीर खुसरो स्वयं चंग और दफ़ बजाते थे। चंग का सुर ऊंचा और बरबत का नीचा होता था। जो तंबूर के कद्दू से बनाए गए थे, उन कद्दुओं ने लोगों को मस्त कर दिया था। कई तरह के भारतीय साज़ बजते थे। कद्दू तो कलाकार की पीठ पर होता था लेकिन श्रोताओं के शरीर की शिराएं रक्त से खाली हो जाती थीं। एक ताल नामक तांबे का बाजा होता था जो सुंदरियों की अंगुलियों में रहता था। हिंदी तुबुक भी बजता था। भारतीय सुंदरियों ने अपने होंठों की कला से सुनने वालों को पागल कर दिया था। वे नर्तकियां ताल के लिए हाथों में प्याले लिए हुए होती थीं। वे शराब से नहीं बल्कि अपने गानों से लोगों को मदमस्त करती थीं। संगीत के मधुर स्वरों पर नृत्यांगनाओं के पांव थिरकते थे।

दस कलाओं में अमीर खुसरो ने भारतीय संगीत को सर्वश्रेष्ठ बताया है। भारतीय संगीत कला के बारे में वे लिखते हैं कि ''वह एक ऐसी आग जलाती थी जिससे मन और प्राण दोनों भस्म हो जाते थे। वह दूसरे देशों की कला से कहीं ऊंची थी। एक

परदेसी इस देश में अगर तीस या चालीस बरसों तक भी रहे तो भी वह किसी एक सुर को अच्छी तरह से नहीं गा सकता। भारतीय संगीत न केवल इंसानों को बल्कि जानवरों को भी मंत्रमुग्ध कर सकता था। हिरन को गाने के ज़रिये वशीभूत करके उसका शिकार किया जाता था।''

'हश्तबहिश्त' में अमीर खुसरो ने एक सिद्ध संगीतकार का ज़िक्र किया है जो चारों साज़ों और बारह सुरों के गाने में पूरी महारत रखता था। एक बड़ा नामी दर्शन का अध्येता, हकीम और ज्योतिषी था जो तमाम सुरों की बारीकियों को बखूबी समझता था। यहां तक कि वह संगीत के ज़रिये लोगों को हंसा, रुला और सुला भी सकता था। वह 'दलाराम' को पढ़ाता था.

अमीर खुसरों ने 'जश्न-ए-सुल्तानी' और 'मजालिसे निहा नयान कि पखावज़ गहे नवा सरायानी अलवी अंद"[11] में संगीत से दिलचस्पी रखने वालों को इस बात की हिदायत की है कि वे लोग सभा के शिष्टाचार का ध्यान रखें और उन पर आचरण करें। गायकों के नियमों का पालन करें। इनाम देने में उदारता बरतें। कलाकार लोग रबाब, चंग, बखत और नै आदि बजाकर अपनी आजीविका कमाए लेकिन अपनी कला को शाही मजलिसों से धन बटोरने का साधन न बनाए। अमीर खुसरो की रचनाओं और उस दौर के साज़ बाज़ों का अध्ययन करने पर ऐसा महसूस होता है कि सल्तनत काल के आरंभ में ईरानी और अरबी संगीत का रिवाज था। लेकिन इस बात में भी कोई संदेह नहीं कि उस दौर के मुसलमान और विशेष रूप से बाहर से आए हुए मुसलमान अपने आप को भारतीय संगीत से निष्प्रभावित नहीं रख सके होंगे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वे धीरे-धीरे भारत के शास्त्रीय संगीत (गायन, वादन एवं नृत्य) में भी रुचि रखने लगे होंगे। यह वह युग था जब शासक और शासित अर्थात मुसलमान और हिंदू एक दूसरे के अधिक समीप नहीं आए थे। लेकिन भारतीय मूल के मुसलमानों का राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था, जैसा कि अमादउद्दीन रेहान के उत्कर्ष से पता चलता है। अभी भक्ति आंदोलन का ठीक तरह से आरंभ नहीं हुआ था और दोनों के बीच धार्मिक दृष्टि से कटुता का भाव विद्यमान था। अकबर के युग में ये धार्मिक मतभेद उग्र रूप धारण कर चुके थे लेकिन सुल्तानों, अमीरों और आला तबके के लोगों ने भारतीय संगीतकारों को आश्रय दिया। सुल्तानों के दरबारों में नाच और गानों की महफिलें सजने लगीं, शायर कसीदे पढ़ते और गवैये गाना गाते थे। जब अपने राजकाज के कामों से अल्तुतमश थक जाता था तो ऐसी महफ़िलों का आयोजन करता था। वह क़व्वाली भी सुना करता था। इन मजलिसों में दरबारी भी शरीक होते थे। जब सुल्तान बलबन लंबी बीमारी के बाद स्वस्थ हुआ तो खुशी में ढोल और नगाड़े बजाए गए और हर्षोत्सव मनाया गया। नौ रोज़ के जश्न के मौक़े पर शायर अपना कलाम

सुनाते और नर्तकियां सुल्तान और अन्य उपस्थित लोगों का मनोरंजन करती थीं। बर्नी का बयान है कि किश्लू ख़ां के दरबार में देश के दूर-दराज़ के इलाकों के शायर और गवैये आते थे। उनका वहां सम्मान होता था। मदिरापान की महफिलों में सुरों के साथ ग़ज़लें भी पढ़ी जाती थीं। साथ ही नर्तकियां अपनी चंचलता और हाव-भाव से दर्शकों के आनंद को दोगुना कर देती थीं।

जौनपुर का शासक सुल्तान हुसैन शिर्क़ी भारतीय संगीत का एक विख्यात गायक था। कहा जाता है कि उसने सत्रह रागों का आविष्कार किया था। 'ख़्याल' उनमें से एक है।

सुल्तान सिकंदर लोदी (1489-1517 ई०) संगीत का बड़ा प्रेमी था। उसके दरबार से कई गवैये और साजिंदे जुड़े हुए थे। हर रात को संगीत की सभाएं होती थीं और लोग शिरकत करते थे। अब्दुल्लाह ने सुल्तान के संगीत प्रेम और कलाकारों के साथ उसके व्यवहार की चर्चा करते हुए लिखा है-

"अगर साज़िंदे और गवैये, जो फ़नेमौसीक़ी में बेमिसाल होते, अगर हुजूर की ख़िदमत में हाज़िर होते तो सुल्तान स्वयं उनका सत्कार न करता था बल्कि इस काम के लिए ख़ास सरापर्दे के पास दो मित्र सैयद रुहुल्लाह और सैयद इब्न रसूल-सुल्तान के हुक्म से मौजूद रहते थे। जो कलाकार भी आते वे इन दोनों को गाने सुनाते थे और सुल्तान भी साथ में सुनता था। कलाकारों में दस शहनाईवादक भी थे। वे लोग हर रात को एक पहर बीतने के बाद शाही दरबार में हाज़िर होकर बारी-बारी से शहनाई बजाते थे। उनके लिए हुक्म था कि चहार मुकामों के अलावा कोई दूसरा राग न बजाएं। पहली मालकौंस इसके बाद कल्याण (रामकली) इसके बाद कानड़ा और अंत में हुसैनी बजाकर बंद कर दें। अगर कोई कलाकार कोई दूसरी चीज गाता था तो उसको सज़ा दी जाती थी।"

सुल्तान सिकंदर ने पंद्रह सौ दीनारों में चार गुलाम खरीदे थे। उनमें से एक चंग, दूसरा कानून, तीसरा तंबूरा और चौथा वीणा बजाने में माहिर था।[12] सिकंदर लोदी के ज़माने में संगीत पर एक किताब लिखी गई थी जिसका नाम "लहजात-ए-सिंकदरी" था।

सूरी सुल्तानों के शासन काल में संगीत कला की उपेक्षा नहीं की गई। सूरदास, इस्लामशाह के दरबार से जुड़ा हुआ था। उस समय के प्रसिद्ध गायक स्वामी हरिदास थे। मुहम्मद आदिल शाह सूर अपने ज़माने का मशहूर गवैया था। और मालवा का शासक बाजबहादुर व तानसेन उसको बहुत मानते थे। आदिल शाह आदमक़द पख़ावज को हाथों और पैरों से बजाया करता था। संगीत से उसे इस हद तक लगाव था कि उसने एक भागत के लड़के को संगीत में उसकी योग्यता के कारण पांच हज़ार का

मनसब अदा किया था। बाज बहादुर स्वयं एक गायक था और गाने वालों को उदारता के साथ संरक्षण देता था। उसे 'बाज़ख़ानी' नामक गायन शैली की ईजाद करने का श्रेय जाता है। उसने लय और स्वरों में भी संशोधन किया था। वह नृत्य का अभ्यास भी किया करता था और नर्तकों के झुंड में शामिल होकर नृत्य किया करता था। उनकी संख्या नौ सौ थी।

यात्रा के दौरान अमीरों के साथ कभी-कभी संगीतकार भी रहा करते थे। इब्ने बतूता ने लिखा है कि जब अमीर अला-उल-मुल्क सिंध नदी पार कर रहा था तो उस अवसर पर उसके साथ गवैयों की एक टोली थीं जो नाव पर अपने कमाल दिखा रही थी। नावों में ढोल, बांसुरी और बिगुल आदि साज़ थे। टोलियां साथ-साथ गाती थीं। जब वह अमीर खाना खाने के लिए बैठता तो भी बीच-बीच में गाना होता रहता। जब इब्ने बतूता ने दिल्ली से अमरोहा की यात्रा की तो उसके साथ गाने वालों की एक टोली भी थी।

इस युग के साहित्य में गाने की महफ़िलों का अनेकश: उल्लेख मिलता है। बाज़ारों में गाकर लोगों का मनोरंजन करने वाले गवैयों का हवाला भी आता है। गायक कलाकारों के आवास का भी उल्लेख मिलता है। दिल्ली के हौज़ख़ास के आस-पास गवैयों के मकान बने हुए थे। उनका अपना बाज़ार था जिसकी गिनती दुनिया के बड़े बाज़ारों में होती थी। बर्नी ने अवाम से संबंधित गानों के अड्डों को नष्ट करने की सलाह दी थी। इस बात से यह मालूम होता है कि इस ज़माने में गवैयों के ऐसे अड्डे भी थे जहां अवाम मनोरंजन के लिए जाया करते थे। इब्ने बतूता के एक कथन से नर्तकियों के शिष्ट और सुसंस्कृत जीवन का पता चलता है। हौज़ख़ास के आस-पास रहने वाली नर्तकियां रमज़ान में जमात के साथ नमाज़ पढ़ा करती थीं। उनके घर के मर्द और औरतें बड़ी संख्या में शरीक होते थे। अमीर सईदउद्दीन 'ग़दा' की शादी में जो गवैये शरीक हुए थे उनके साथ जानमाजें[13] भी थीं। जब वे अज़ान सुनते तो उठ खड़े होते, वजू करते और नमाज़ अदा करते थे।

इस अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत में मुसलमानों के आकर बस जाने के कारण इस देश की संगीत-परंपरा को कोई क्षति नहीं पहुंची। बावजूद इसके कि उनके मज़हब में साज़ या गाना सुनना हराम है। मुसलमानों ने भारत में आकर न केवल भारतीय संगीत को पसंद किया बल्कि काफी हद तक उसमें दक्षता भी प्राप्त की। संगीतकारों का उत्साहवर्धन किया और इस प्रकार संगीत मुसलमानों के सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया। सुल्तानों और उनके अमीरों ने अपने उदारतापूर्ण आश्रय से संगीत को न केवल जीवित रखा बल्कि उन्होंने भारतीय संगीत को अपने योगदान से समृद्ध भी किया।

मुगल काल

मुगल शासन की स्थापना के बाद नृत्य और संगीत के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ा। मुगल शहंशाह खुद भी संगीत में महारथ रखते थे और दोनों क़ौमों में सौहार्द बनाए रखने के लिए इस कला में प्रवीण लोगों को आश्रय भी देते थे। वे कलाकारों के निजी मज़हब पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते थे। वे भारत के विभिन्न क्षेत्रों से अच्छे संगीतकारों को बुलाते, उन्हें दरबार से जोड़ते, जागीरें और मनसब बांटते और उन्हें इनामों से मालामाल करते थे। औरंगज़ेब के अलावा, जो तख़्त पर बैठने से पहले संगीत में रुचि लेता था, सभी मुगल बादशाह संगीत से गहरा लगाव रखते थे। अतएव उन्होंने नाच व गाने का आनंद उठाने के लिए एक समय निश्चित कर रखा था।

बाबर स्वयं संगीत में दक्षता रखता था। वह गीत भी लिखा करता था। बाबर का सारा जीवन संघर्ष और आपाधापी में बीता इसलिए उसे इतना मौक़ा न मिल सका कि वह कलाकारों को अपने दरबार में आश्रय देता। लेकिन उसके दरबार से संगीतकारों और नर्तकियों के जुड़े होने का ज़िक्र मिलता है। अकबर के शासन काल को भारतीय और विदेशी संगीत की उन्नति का स्वर्ण युग समझा जाता है। जैसा कि विदित है, अकबर बादशाह ने हिंदुओं और मुसलमानों में भाईचारे के संबंध बनाने की कोशिश की थी। इसलिए उसने जीवन के दूसरे पहलुओं के अलावा संगीत की दो परंपराओं में भी एकरूपता लाने का प्रयास किया था। अकबर के संरक्षण में भारतीय संगीत खूब फला और फूला। उसने भारत के प्रसिद्ध गायकों को अपने दरबार में आश्रय दिया और उनका उत्साहवर्धन किया। अकबर बादशाह के संगीत के प्रति अनुराग की चर्चा करते हुए अबुल फ़ज़ल ने लिखा है–

''क़िबलाए-ए-आलम (अकबर) इस कला पर विशेष ध्यान देते हैं और हर प्रकार के संगीत को संरक्षण देते हैं। आपके दरबार में बेशुमार हिंदी, ईरानी, तूरानी और कश्मीरी गायक जमा हैं। इनमें पुरुष भी हैं और स्त्रियां भी। जहांपनाह ने हाज़रीने दरबार को सात गिरोहों में बांटा है, हर गिरोह हफ्ते में एक रोज़ हाज़िर होकर अपने कमाल दिखाता और श्रोताओं को अपनी गायन कला से अभिभूत कर देता है।''

'आईने-अखाड़ा' में लिखा है–

''संगीत की यह सभा बड़ी गरिमा के साथ आयोजित की जाती है। फायदा यह है कि भीतर की कनीज़ों को गायन वादन की तालीम दी जाती है और चार सुंदर औरतें नाचती हैं। और अजब हावभाव दिखाती हैं। दूसरी चार औरतें गाती हैं और दो पखावज़ और दो उपनक बजाती हैं। एक औरत रूबाब, दूसरी ढोलक, तीसरी बीन और चौथी चतर बजाती हैं। जश्न-ए-चिरागां होता है। दो औरतें हाथों में चिराग लेकर उनके आस-पास खड़ी रहती हैं। औरतों की एक जमात चिरागों में और इज़ाफ़ा करती

है। और ज्यादातर रिवाज यह है कि नटवा की जमात की निगरानी की जाती है और कम उम्र कनीज़ों को तालीम दी जाती है। कभी ऐसा भी होता है कि नटवे की जमात के लोग अपनी कनीज़ों को तालीम देकर बादशाह के पास ले आते हैं और अपना इनाम पाते हैं। क़िबला-ए-आलम को संगीत और इससे जुड़ी दूसरी चीज़ों से बेहद लगाव है। वे चीज़ें जो आनंद के अतिरेक में लोगों को बेसुध कर देती हैं। यह दुनिया खुदा की बेदारी की सबसे बड़ी दौलत है।[14]''

अकबर बादशाह देर रात तक नृत्य का आनंद उठाते थे और इसके बाद विश्राम करते थे।

जहांगीर मदिरापान और भोगविलास में लीन रहता था। उसके दरबार से मनोरंजन के साधन जुटाने वाले लोगों को जुड़ना स्वाभाविक था। 'इक़बालनामा-ए-जहांगीरी' में उस युग के प्रसिद्ध क़व्वालों और साज़िंदों के नाम आते हैं जैसे–हाफ़िज नाद अली, हाफ़िज़ गीत फ़तहा, नसीरा, बाकृया, हाफ़िज़ अब्दुल्लाह और उस्ताद मुहम्मद नाभी। भारतीय गायकों में जहांगीर दाद चतर ख़ां, परवेज़दाद, खुर्रमदाद, माखू और हमज़ा के नाम आते हैं।

शाहजहां बादशाह स्वयं भी अच्छा नृत्य करता था और अकबर की तरह साज़ों को बड़े कमाल से बजाता था। वह अपना कुछ समय गायन और वादन सुनने में व्यतीत किया करता था। संगीत की मजलिसों का बड़ा ध्यान रखता था। उसके युग में कहीं अधिक नृत्य और संगीत की सभाएं होती थीं। दिन भर की थकान के बाद अपने भीतर स्फूर्ति लाने और मनोरंजन करने के उद्देश्य से वह संगीत की महफ़िलें सजाता था। इशा[15] की नमाज़ के बाद वह हरम सराय[16] में चला जाता और एक घंटे तक गाना सुनता था। उसने जगन्नाथ को कविराज की उपाधि दी थी। लालखां, मियां तानसेन के मुक़ाबले में गाने वाला मशहूर गवैया था। एक अवसर पर जगन्नाथ और दुरंग खां को शाहजहां ने उनकी कला पर प्रसन्न होकर उनके वज़न के बराबर चांदी बतौर इनाम दी थी।

अमीन उद्दीन ख़ां ने औरंगज़ेब से पहले के मुगल बादशाहों के दौर में नाच गानों की महफिलों का वर्णन करते हुए लिखा है–

''अपनी कला में प्रवीण गायकों और वादकों की टोलियां बहुत मनभावन और सधे हुए ढंग.से अपना हुनर दिखाती हैं। गीत और संगीत में माहिर लोग हिंदुस्तानी रागों को गाते हैं। जिनकी तादाद छ: है–पहला भैरव, दूसरा मालकौंस, तीसरा हिंडौल, चौथा श्रीराग, पांचवा मेघ मल्हार,छठा दीपक। अपने उचित समय पर वे लोग (यानि गायक, कव्वाल, कलावंत, ज़ाहिद, नटवे और साज़िंदे), ऊद, चंग, रबाब, तंबूरा, पखावज़, मृदंग, बीन, सुरमंदल, कनेर, सारंगी, ताल, ढोलक आदि बजाते हैं। और

दूसरे कलाकार अपने कमाल दिखाते हैं। इसके साथ-साथ सुंदर और कोमल कंचनियां, लूलियां (वेश्याएं) और हदक़यान आदि जहांगीर और शाहजहां के युग में दीवाने आम के सामने की चौकी में हाज़िर होती थीं। वे हर पल अपनी कलाओं का प्रदर्शन करने में व्यस्त रहती थीं। उनमें से जो उच्चकोटि के कलाकार थे उन्हें अच्छी मनसबें दी गई थीं। मनसब पाने वाले कलाकार को कलावंत का नाज़िर कहा जाता था।[17]''

तख़्तनशीनी से पहले और बाद के ग्यारह वर्षों तक औरंगज़ेब को भी संगीत से अच्छी ख़ासी दिलचस्पी थी। उसने अपने समय के मशहूर कलावंत खुशहाल ख़ां को रुपयों में तुलवाया था। वह सब धन-राशि उसे इनाम में दे दी थी। इस कलावंत के अलावा अरबाब ख़ां भी एक मशहूर उस्ताद था जो उसके दरबार से संबद्ध था। लेकिन उलेमाओं के प्रभाव में आ जाने के कारण औरंगज़ेब ने 1668 ई. में सभी दरबारी कलाकारों को निकाल बाहर कर दिया था।

लेकिन मनूची के कथन से मालूम होता है कि औरंगज़ेब ने सिर्फ दरबार में ही संगीत पर पाबंदी लगाई थी। जहां तक शाही हरम का संबंध था वहां कि औरतों के मनोरंजन के लिए नृत्य और संगीत का आयोजन बदस्तूर होता रहा। अंत:पुर से जुड़ी गायिकाओं के विशेष नाम रखे गए थे जो कि भारतीय थे। गायिकाओं और नर्तकियों के नाम इस प्रकार थे—सुंदरबाई, सरोशबाई, मृगनयनी, चहलाबाई, लालबाई, हीरबाई, मनसाबाई, जलीसाबाई, रसबाई, नैनजोत बाई, मृगमाला बाई, गुलरूबाई, चंचलबाई, ध्यान बाई, ग्यान बाई, हरबाई, मुरादबाई, मतलब बाई, आकाशबाई, अप्सराबाई, खुल्दारबाई, बैकुंठबाई, खुशहालबाई, निहालबाई, फर्रख़बाई, गुलालबाई, कस्तूरीबाई, बंसाबाई, ऊदबाई और केसरबाई आदि। मनूची ने इन नर्तकियों के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि वे मूलतः भारतीय थीं जिन्हें किशोरावस्था में देहातों से या बाग़ी राजाओं के दरबार से हासिल करके शाही महल में दाख़िल कर लिया गया था। अमीन ख़ां के कथन से भी मनूची के मत की पुष्टि होती है। वह लिखता है कि हरम की दीवार को 'ख़वास पर्दा' कहते थे। इस चारदीवारी के भीतर स्त्री-पुरुष कलाकारों को अपनी कला के हिसाब से अलग-अलग डेरों में रखा जाता था। जब दरबार लगता था तो प्रत्येक टोली बादशाह की सेवा में हाज़िर होकर मुजरा अदा करती थी। सबके अलग-अलग नाम और ख़िताब थे जैसै-रंगराई, निरतराई, सौगुहर, तरल, नटरंग, परमरंग, निरतकौंधा, सरस परम रूपरंग, तिरंग निरत, सांजीराग सिंगार, सोग्यान, चंद्रकार, उर्वशी, कामकंदला, कौंधा और चौंथा। कलावंत अपनी चीज़ें इस्लाह (संशोधन) के लिए उनकी (औरंगज़ेब) की सेवा में पेश किया करते थे। यही हाल उनके नाती मीर मुहम्मदी रंज का था। बड़े-बड़े उस्ताद उनके सामने कान पकड़ते और ख़ाक चाटकर नाम लेते थे।

नादिरशाह के हाथों पराजित होने के बाद मुहम्मद शाह नृत्य संगीत से विमुख हो गया था। बढ़ती हुई आर्थिक दरिद्रता को देखते हुए कलाकारों की टोलियां दरबार से विदा होने लगी थीं या उन्हें निकालकर बाहर कर दिया गया था। इसलिए ये कलाकार अपनी आजीविका के लिए अवाम के बीच में गाने-बजाने लगे। फलस्वरूप अवाम में भी संगीत को सुनने की उमंग पैदा हो गई। बाद में इस पर विस्तार से बात की जाएगी।

'बज़्म-ए-आख़िर' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अकबर शाह सानी और अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह ज़फर को भी नृत्य संगीत से अनुराग था। वे प्राय: इशा की नमाज़ के बाद यह शगल किया करते थे-

''नमाज़ व वज़ीफ़े से फ़ारिग हुए। नाच-गाने की तैयारी हुई। कलाकार चौकी के सामने हाज़िर हुए। नाच होने लगा। साज़िंदे कनात के पीछे खड़े तबला, सारंगी और ताल की जोड़ी बजा रहे हैं। नाचनेवालियां बादशाह के सामने नाच रही हैं। डेढ़ पहर रात तक महफिल जमी रही।''

मुगल शहज़ादे और संगीत

वातावरण और ख़ानदानी परंपरा के अनुरूप मुगल शहज़ादों में न केवल संगीत के प्रति लगाव पाया जाता था बल्कि खुद उनमें से बहुतों ने इस फन में कमाल दिखाया था।

औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों में जहांदारशाह की पूरी ज़िदंगी नृत्य-संगीत और भोगविलास में डूबी रही। और उसने लाल कुंवर नर्तकी को अपने अंत:पुर में स्थान दे दिया था। इसलिए उसके दौर में कलावंतों को ऊंचे-ऊंचे मनसब दिए गए।[16]

ख़ाफ़ी ख़ां का कथन है, ''कव्वालों, कलावंतों और ढाड़ियों के गानों का इस दर्जा बाज़ार गर्म हो गया था कि काज़ी[19] अर्क़ पीने लगे थे और मुफ़ती शराबनोशी करने लगे थे।''

मुहम्मद फ़र्रुख़सियर, रफी उद्दौला और रफ़ी-उल-दरजात भी नाच गाने में रुचि रखते थे लेकिन इस दौर के बादशाहों में मुहम्मदशाह, जो इतिहास में 'रंगीला' के नाम से याद किया जाता है, बड़ा ही संगीत प्रेमी था। उसका युग राग-रंग का युग था। बड़े-बड़े गायक, वादक, नर्तक-(स्त्री पुरुष दोनों) भांड और भगत बड़ी संख्या में उसके दरबार से जुड़े हुए थे। शाकिर ख़ां ने दरबारी कलाकारों की लंबी सूची पेश की है जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों शामिल थे। और सबके सब भारतीय संगीत के विशेषज्ञ थे।

कभी-कभी मुहम्मद शाह 'शाहबुर्ज' में बैठकर साज़ों की मधुर धुन से दिन भर

की थकान उतारा करता था। मुहम्मदशाही युग पर टिप्पणी करते हुए मौलाना इम्तियाज़ अली ख़ां 'अर्फ़ी' लिखते हैं–

''मुहम्मदशाह के ज़माने में बड़े-बड़े फ़क़ीर और मज़हबी लोग भी संगीत के माहिर होने लगे थे। ख़्वाजा मीर दर्द, जो उस समय के बड़े सूफ़ी और धार्मिक व्यक्ति थे, हिंदी संगीत के इतने बड़े उस्ताद थे कि गवैये भी उनसे तालीम हासिल किया करते थे।''

'अज़फ़री' ने अपने यात्रा-वृतांत में अतीत की महफ़िलों को याद करते हुए लिखा है:

''आह! मुझे वे दिन याद हैं जबकि बाकमाल उस्तादों से कैसे कैसे गाने सुनने में आते थे। खास कर एक बार अकेले में मुहम्मदशाह के बेटे अहमद शाह, शाहजहां सानी, शाहज़ादा कामबख्श के बेटे शाहज़ादा मुहम्मद जाम बख्श से ऐसे गाने सुने हैं कि फिर उन जैसी रस भरी आवाज़ आज तक हमारे कानों को सुनने में नहीं आई। हालांकि इन बुजुर्गों के गाने के तरीके पुराने गायकों की तर्ज पर ही थे।''

शाहज़ादा जहरा नगीं 'आज़म' का मूल नाम कुतुबुद्दीन मुहम्मद आज़म शाह था और उनका लक़ब आली शाह था। औरंगजेब आलमगीर के लड़के थे। उनका जन्म दिलरास बानू बेगम की कोख से हुआ था, जो शाह नवाज़ ख़ां की बेटी थीं। उनका निधन 1056 हिज्री तदनुसार 1646-47ई. में हुआ था। उन्हें तीन कलाओं का ज्ञान था। संगीत और नृत्य पर उनकी कई रचनाओं का उल्लेख बिंदरावनदास 'खुश गो' ने किया। ये रचनाएं उस समय काफी मशहूर थीं।

अमीर और संगीत

अकबर, जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब अपने-अपने दौर में अमीरों की जीवन शैली पर इतना कठोर नियंत्रण रखते थे कि वे बादशाह की तर्ज पर अपना जीवन बिताने का साहस नहीं कर सकते थे। उनकी मान-प्रतिष्ठा अपने दौर के बादशाह की कृपा पर निर्भर करती थी। उपर्युक्त बादशाह अपने अमीरों को इतना अवसर ही नहीं देते थे कि वे अपना प्रभुत्व कायम कर सकें। समय-समय पर उनसे पूछताछ होती रहती थी और एक जगह से दूसरी जगह तबादले भी होते रहते थे। उनके पद भी बदलते रहते थे।

इसके विपरीत अठारहवीं शताब्दी में क्योंकि मुगल बादशाह खुद कमजोर पड़ गए थे। भोग-विलास और नृत्य-संगीत में डूबे रहते थे और अपनी सत्ता बचाए रखने के लिए अमीरों की सहायता प्राप्त करते थे। इसलिए अमीरों को अपनी शक्ति बढ़ाने का सुनहरा अवसर मिल गया।

इसके अलावा अपनी शक्ति और ऐश्वर्य में निरंतर वृद्धि के कारण इस युग के अमीर बादशाह साज़ (किंगमेकर) बन गए। अपनी फ़ौजी ताकत बढ़ाने के लिए धन-संग्रह में जुट गए। अपने दीवान ख़ानों में शाही दरबार की तरह ठाट-बाट जमाने लगे। इसकी चरम परिणति यह हुई कि अमीरों ने अपने स्वशासन की घोषणा कर दी और स्वतंत्र हुकूमतें कायम कर लीं। इस परिवर्तन के कारण अमीरों में भी भोग वृत्ति तेजी के साथ पनपने लगी।

नवाब सदरूद्दीन मुहम्मद खां (फाइज़) अठारहवीं शताब्दी के एक अमीर थे। उनके आवास पर नृत्य संगीत के रंग बरसते थे। एक मसनबी में उन्होंने खुद नौरोज़ के दिन आयोजित की गई एक महफिल का ज़िक्र किया है।

अमीर-उल-अमीर एहसन अली खां को नाच गानों से इतना ज़्यादा लगाव था कि अपनी आय का आधा भाग इन पर खर्च कर देते थे। सैफ़ ख़ान (निधन 1641-42 ई.) रागों का अच्छा जानकार था। संगीत पर उसने 'रागदर्पण' नाम से एक पुस्तक भी लिखी थी। मगरिब खां बिन अमीर खान बहादुर (निधन 1745 ई.) बड़ा संगीतप्रेमी था। संगीतकारों को आश्रय भी देता था। उसके दरबार में दक्षिण के नामी संगीतकार जमा हो गए थे। एक बार मुहम्मद शाही युग के एक अमीर रोशनउद्दौला तुर्राबाज़ खां ने अमीर उल उमरा ख़ान दौरा खां, सरबुलंद खां और सैयद सादतखां को आमंत्रित किया। अपने अतिथियों के स्वागत में नाच गाने की महफिल का प्रबंध किया। काज़ी मुर्तजाबिन गिरामी उस महफिल की नर्तकियों के बारे में लिखते हैं, "उन तवायफों के नाच का क्या ज़िक्र करूं। ऐसा महसूस होता था गोया परियों या जन्नत की हूरों की टोलियां लोगों के होशोहवास को गुम करने के लिए आसमान से उतर आई हों और उनके गायन और नृत्य की विशेषता अवर्णनीय है।" सरबुलंद खां को संगीतकला का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने ये कला यारी क़व्वाल और लाला बंगाली से सीखी थी। बीन बजाने का वह बेमिसाल उस्ताद था।

1753 में अवध की स्वतंत्र हुकूमत बनी। सफ़दर जंग की मृत्यु के बाद 1754 में नवाब शुजाउद्दौला ने सत्ता संभाली। फ़ैज़ मुहम्मद बख्श ने कहा कि शुजाउद्दौला को नाच-गानों का बड़ा चस्का था। दिल्ली और दूर दराज़ के इलाके से हजारों हजार रंडियां यहां आकर जमा होती थीं। यह एक आम प्रथा बन गई थी कि नवाब और वज़ीर के अलावा दूसरे अमीर और सेनापति भी जब किसी यात्रा पर निकलते तो उनके साथ-साथ रंडियों के डेरे भी होते थे। मुहम्मद फ़ैज़बख्श का कहना है कि नवाब सुन्दरी प्रेमी था इसलिये रंडियां और इस जाति की दूसरी औरतें फ़ैज़ाबाद में बड़ी संख्या में जमा हो गई थीं। कोई मुहल्ला या सड़क या गली ऐसी न थी जहां इनके झुण्ड के झुण्ड न दिखाई देते हों और इनमें से कुछ वेश्याएं इतनी संपन्न थीं कि उनके

पास दो या तीन डेरे होते थे। जब नवाब यात्रा पर निकलता तो ख़ेमों के साथ-साथ उनके खेमें भी आगे भेज दिए जाते थे और उनकी सुरक्षा के लिए दस बारह सिपाही तैनात कर दिए जाते थे।

नवाब आसिफुद्दौला के शासनकाल में नृत्य और संगीत की दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति होने लगी। इस युग में भारतीय संगीत पर 'उसूल-उल-नग़मात उल आसफ़िया' शीर्षक से फ़ारसी में एक पुस्तक लिखी गई। नवाब सआदत अली खां और ग़ाज़ीउद्दीन हैदर इस कला के संरक्षक थे। उस ज़माने का प्रसिद्धतम संगीतकार हैदर खां था। लखनऊ में हज़ारों गाने वाले और गाने वालियां मौजूद थीं। नसीरउद्दीन हैदर के समय में एक सौ से ज्यादा टोलियां दरबार से जुड़ी थीं। लेकिन वाजिदअली शाह के युग में संगीत का सबसे ज्यादा बोलबाला रहा। इस ज़माने में रामपुर निवासी कुतबुद्दौला एक उच्च कोटि का सितार वादक था। इसके अलावा अनीसउद्दौला, मुसाहिबउद्दौला, हैदर उद्दौला और रज़ाउद्दौला भी अच्छे गवैये थे। प्यार खां, जाफ़र खां और हैदर खां की गिनती उस्तादों में की जाती थी। इन सब लोगों का संबंध तानसेन से था। नैमत खां, वाजिद अली शाह के साथ मटिया बुर्ज (कलकत्ता) में रहता था।

वाजिद अली शाह के युग में संगीत का उत्थान भी हुआ और पतन भी। लखनऊ में निकृष्ट रूचि ने लोगों के ठुमरियां लिख-लिख कर जनता में बांटना शुरू कर दीं और इस तरह संगीत कला को बेजान कर दिया। धीरे-धीरे संगीत की परिष्कृत समझ रखने वाले लोग भी ऊंचे दर्जे की राग रागनियों को छोड़कर ठुमरियों में दिलचस्पी लेने लगे। धीरे-धीरे लोगों में उच्चकोटि के संगीत में दिलचस्पी न रही। वाज़िद अलीशाह का संगीत पर अच्छा अधिकार था उन्होंने वासित खां से इसकी शिक्षा ग्रहण की थी। बादशाह ने अपनी तर्ज में रागनियां बनाई और अपनी अभिरुचि के अनुरूप उनके नाम रखे जोगीकंटर और जूहीशाह पंसद आदि। उन्होंने सुल्तानी रागनी भी ईजाद की थी लेकिन इस सस्ती अभिरुचि ने संगीत का स्तर गिरा दिया। लोगों में ग़ज़ल और ठुमरी की चर्चा आम हो गई। ध्रुपद और होरी आदि कठिन रागों का रिवाज उठने लगा। संगीत प्रेमी खमाज, झिंझोटी, भैरवी, सिंदूरा आदि रोगों को पसंद करने लगे। भैरवी तो लखनऊ की एक पहचान ही बन गई। सोज़ख़्वानों[20] ने इन रागनियों को जन-जन तक पहुंचा दिया और घर की औरतों में इनकी चर्चा होने लगी।

लखनऊ के गायकों और वादकों में छज्जू खां, टप्पे के उस्ताद माने जाते थे। बख़्शू और सलारी की गिनती उस्ताद तबला वादकों में होती थी। और बाद के समय में सादिक अली खां व मुन्ने खां मशहूर गवैये हुए थे।

मटियाबुर्ज में वाजिद अली शाह के निवास के दौरान अहमद खां, ताज खां, गुलाम हुसैन खां बड़े कलाकार माने जाते थे। उनका संबंध ढाड़ियों के घराने से था।

नृत्य कला

भारत में नृत्य कला के क्षेत्र में पुरुष आगे रहे हैं और स्त्रियों की शिक्षा के लिए पुरुषों को ही नियुक्त किया जाता था। अयोध्या और बनारस के कथक नृत्यकला में अद्वितीय होते थे।

नाचने वाले पुरुषों के दो समूह थे–पहला हिंदू कथक और रहस धारी तथा दूसरे कश्मीरी मुसलमान भांड। दूसरे समूह में हिंदू लड़के भी शामिल होते थे जिन्हें स्त्रियों की वेशभूषा पहना देते थे। शुजाउद्दौला और आसफउद्दौला के ज़माने में खुशी महाराज नृत्य कला के नामी उस्ताद थे। नवाब सआदत अली खां, गाजी उद्दीन हैदर के शासन काल में हलाल जी,प्रकाश जी और दयालु श्री प्रसिद्ध नर्तक थे। मुहम्मद अलीशाह और वाजिद अलीशाह के युग में प्रकाश जी के बेटे दुर्गा प्रसाद और ठाकुर प्रसाद नाच के उस्ताद थे। दुर्गा प्रसाद के बारे में कहा जाता था कि वे नृत्य कला को लेकर वाजिद अली शाह के उस्ताद थे।

दूसरा समूह नाचने वाले भांडों का था। इस टोली के लोग गाते, बजाते, नृत्य करते और नकलें दिखाते थे। इनके दो वर्ग थे–एक कश्मीरी जो कश्मीर से आए थे, दूसरे स्थानीय। ये लोग नक्काली के जरिये रोटी कमाते थे। नक्काली या वेष बनाना भारत की प्राचीन कला है। राजा विक्रमादित्य के युग में यह कला विकसित हो चुकी थी।

अकबर के युग में मुसलमानों में भांडों का नाच आम हो गया लेकिन मुहम्मद शाह के जमाने का करेला भांड सबसे ज्यादा मशहूर हुआ। उसके दरबार से कई मुसलमान भांड जुड़े हुए थे। उनकी चर्चा बाद में की जाएगी।

नसीरउद्दीन हैदर के युग में दूसरा करेला भांड लखनऊ में था। इसके बाद सजन, क़ायम, दायम, रजवी, नोशाह, बीबक़दर आदि ने ख्याति पाई।

डोमनियां

लखनऊ के मुस्लिम समाज में डोमनियों ने बड़ा नाम कमाया। सभी कस्बों और शहरों में शादी के अवसर पर मिरासनियों और जागनियों की बड़ी पूछ होने लगी थी। उन्होंने तब वेश्याओं और पुरुष गवैयों की तरह तबले सारंगी और मंजीरों का प्रयोग शुरू कर दिया था। वे गाने बजाने और नाचने के अलावा औरतों की महफिलों में नकलें बनाकर उनका मनोरंजन भी करने लगी थीं। महल और बेगमों को ड्योढ़ियों में इनके घर के लोग मुलाज़िम होते थे।

नर्तकियां भारत के हर शहर में पाई जाती थीं लेकिन नाचने वाली रंडियां जिस संख्या में लखनऊ में देखी गए उतनी भारत के किसी भी शहर में न रही होंगी। मंसरम

बाई नवाब वाजिद अली शाह के साथ कलकत्ता भी गई थीं। इसके अलावा ज़ोहरा मुश्तरी शायरा होने के साथ-साथ अच्छी गानेवालियां भी थीं।

रहस वाले

रहस या रास ब्रजक्षेत्र की प्रसिद्ध लोककला है। इस लोक नाट्य में श्रीकृष्ण और गोपियों की लीलाओं का मंचन किया जाता है। वाजिद अली शाह को यह कला बहुत पसंद आई और उन्होंने प्रेम कहानियों को नाटक में रूपांतरित कराया और उनके मंचन का प्रबंध किया। अवाम में रास की बढ़ती हुई लोकप्रियता से प्रभावित होकर मियां अमानत लखनवी ने 'इन्दर सभा' नाटक लिखा। इस नाटक में हिंदुओं की पौराणिक परंपरा और फारसी परंपरा का अद्‌भुत सामंजस्य है। कैसरबाग में वाजिद अली शाह की सभाएं आयोजित होती थीं और बादशाह स्वयं कृष्ण की भूमिका अदा करते थे।

बंगाल के नवाब

बंगाल के अधिकांश नवाबों को नृत्य और संगीत से लगाव रहा है। नवाब जाफर खां संगीत से इनता आविष्ट था कि जब वह शिकार खेलने जाता तो उस समय भी उसके साथ नर्तकियों और साज़िंदों की टोलियां चलती थीं। और यात्रा के दौरान भी नाच गाने होते रहते थे। होली, दीवाली और अन्य त्यौहारों पर भी नृत्य संगीत की सभाएं होती थीं।

सूफी-संत और संगीत

चिश्ती सिलसिले के सूफी प्रायः संगीत से बड़ी दिलचस्पी रखते थे। उनके विचार से संगीत में आत्मिक पिपासा को शांत करने और आध्यात्मिक विवेक को जागृत करने का गुण होता है। परिणामस्वरूप इनमें से कुछ सूफियों ने स्वयं भी संगीत में महारत हासिल कर ली। ऐसे सूफियों में ख़्वाजा मीर दर्द का नाम अग्रणी है। वे संगीत के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों की अच्छी जानकारी रखते थे इसलिए कइयों ने उनसे संगीत की शिक्षा भी प्राप्त की थी। उनके यहां हर महीने संगीत की बैठक होती। शहर के वादक और गायक उनकी सभा की शोभा बढ़ाते थे। एक दूसरे बुजुर्ग शेख बहाउद्दीन बरनावी ख़ातिम-उलतारकीन को संगीत से बहुत आसक्ति थी। उन्होंने ख़्याल चंकला, कौल, तराना, सादरा, हरीरा, विष्णुपद आदि में अनेक शेर कहे थे। साज़ ख़्याल और साज़ कहटरस के उस्ताद थे। शेख अताउल्लाह-उल-मलक़ब बा 'शेख़ रतन' का संगीत कला में विशिष्ट स्थान था।

सूफी-संतों ने भारतीय संगीत की संस्कृति को समृद्ध करने में बड़ी सहायता की

थी। जहां वे फारसी मौसीकी, कौल, तराना आदि के प्रशंसक थे, वहीं उनकी ख़ानकाह में हिंदी संगीत को भी सम्मान दिया जाता था।

वे संस्कृत की रचनाएं सुनने में भी रुचि रखते थे। शेख बहाउद्दीन ज़करिया मुल्तानी (निधन 1267 ई.) संस्कृत और शास्त्रीय संगीत के ज्ञाता थे। मुल्तानी धनासिरी उन्हीं की ईजाद थी। सदउल्लाह गुलशन को संगीत से बड़ा अनुराग था। कहा जाता है कि उन्होंने संगीत शास्त्र पर कई पुस्तकें लिखी थीं।

संगीत और संगीतकार

अबुल फ़ज़ल ने मुगल दरबार से जुड़े गायक और वादकों की एक लंबी सूची पेश की है। तानसेन के बारे में लिखा है, ''पिछले हज़ार साल में इसके जैसा गायक पैदा नहीं हुआ।''

अबुल फ़ज़ल ने 'गाने वालों' के शीर्षक से विभिन्न घरानों का ज़िक्र किया है।[21] विस्तार से यहां इन पर बात नहीं की जा रही है। लेखक ने अकबर के दरबार से जुड़े गायक और वादकों की विस्तृत चर्चा की है जिनमें हिंदुस्तानी, तूरानी, ईरानी और कश्मीरी कलाकार शामिल थे। यहां केवल मुसलमान संगीतकारों के नाम दिए जा रहे हैं ताकि इस बात का अनुमान हो सके कि मुसलमानों ने भारतीय संगीत को किस सीमा तक अपना लिया और उसे चर्मोत्कर्ष तक पहुंचाया।

कलाकारों की सूची

क्रमांक	नाम	वतन और उपाधि	विशेषता
1.	सुबहान खां	ग्वालियर	गायक
2.	सरग्यान खां	ग्वालियर	गायक
3.	मियां चांद	ग्वालियर	गायक
4.	बज्झर खां	सुबहानखां का भाई	गायक
5.	मुहम्मद खां	ढाड़ी	गायक
6.	बीर मंदल खां	ग्वालियर	सरमंदल (ढोलक) बजाने वाला
7.	साहब खां	ग्वालियर	बीनवादक
8.	बाज़बहादुर	मालवा का शासक	बेमिसाल गायक
9.	दाऊद	ढाड़ी	गायक

10. सरोद खां	ग्वालियर	गायक
11. मियां खां	ग्वालियर	गायक
12. मुल्ला इसहाफ	ढाड़ी	गायक
13. अस्ताक्षा सत	मुशहद (ईरान का एक शहर)	बांसुरी वादक
14. परवीन ख़ां	ग्वालियर	बीनवादक
15. चांद ख़ां	ग्वालियर	गायक
16. शेख़ दादन	ढाड़ी	करना (बांसुरी) बजाने वाला
17. रहमत उल्लाह	मुल्ला इसहाक का भाई	गायक
18. मीर सैयद अली	मुशहद	सारंगीवादक
19. उस्ताद यूसुफ	हरात	तंबूरावादक
20. बहराम कुली	हरात	सारंगी वादक
21. उस्ताद शाह मुहम्मद	मुशहद	सरना वादक
22. उस्ताद मुहम्मद अमीन	मुशहद	तंबूरा वादक
23. हाफिज़ ख़्वाजा अली	मुशहद	भाव बताने वाला
24. उस्ताद मुहम्मद हुसैन	मुशहद	तंबूरा वादक

इनके अलावा दूसरे अनगिनत गायन और वादन कला के विशेषज्ञ थे।[22]

मुहम्मद शाह बादशाह के दरबार से जुड़े कलाकार
वादक

नैमत खां बीन नवाज़[23] अदूत सेन, रहीम सेन, मियां अंझा, शेख़ मुईनउद्दीन, क़ासिम अली, हुसैन खां (ढोलक वादक) खुर्द, ज़ाहिर खां, तहना, गुलाम अली (सारंग वादक), बोले खां, अकबर खां, शुजाअत खां, ताजखां, बाज खां, ताहिर खां, नूर मुहम्मद व बुलाकी (कानून बनाने वाले) दहनू (धमधमियां), अल्ला यार धमधमधियां, अमान उल्लाह (रबाब वादक), सलावत तंबूरची, दौलत खां और ज्ञान खां।

नृत्य कलाकार

पन्नाबाई, नूरबाई (जंगला बजाने वाली), पन्नाबाई (नर्तकी और गायिका), रोशन बाई कलां, बाई खुद, ब्रज कुंअर, रमज़ानी, हयाती, अलकन, गंगा, काली गंगा,

अकिला, कहमिया, नन्हीं बाई, तोहफ़ा, जमना, सरस सरूप, चेला सरूप, नादिरा जमनी, जगमग, अनूपी।

भगत

तक़ी, साकी, खिलौना, चांदनी, अब्दुल्ला बर्फी, चितनक, मियां, नौरंग, कलावंत।

भांड

हाफ़िज़ चंदा, पचावना, ख़वासी मिर्ज़ा, यारो, लज़्ज़त, चौआ, सब्जा बादल।

अठारहवीं शताब्दी भारतीय संगीत का स्वर्ण युग है। उत्तर भारत में इस दौर में ऐसे ऐसे कलाकार थे कि उनकी कोई मिसाल नहीं थी। उनमें से हर एक अपने समय का तानसेन था। गायन और वादन की ऐसी कोई शैली नहीं थी जिसमें मुसलमानों ने कमाल हासिल न किया हो। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण कलाकारों का परिचय देना गैर ज़रूरी न होगा। 'मुरक्का-ए-देहली' में इन पर विस्तार से लिखा गया है।

नैमत खां

बीन वादक था। उसने संगीत के क्षेत्र में नए प्रयोग किए थे। बड़ी-बड़ी तवायफें उसके साथ संगत करने में गर्व का अनुभव करती थीं। वह संगीत के जरिए कोमल से कोमल भावों को व्यक्त करने में सक्षम था। उस समय वह एक उस्ताद की हैसियत रखता था और दिल्ली के गवैयों का सिरमौर था। विभिन्न राग, रागनियों और सुरों में उसका गाना किसी जादू से कम नहीं था। जहां तक उसके बीन वादन की बात है, यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि उस समय तक संसार में ऐसा बीन वादक पैदा नहीं हुआ था। और न पैदा होने की उम्मीद थी। जब वह बीन बजाता था तब उसके बीन के जादू से श्रोताओं का अजीब हाल हो जाता था। लोग जलविहीन मछली की भांति तड़पने लगते थे। जब तक बीन बजती रहती थी या वह गाता रहता था, लोग बेहाल रहते थे। और किसी को किसी और की या अपनी सुध नहीं रहती थी। जब संगीत का नशा कुछ उतरता था तो हर ओर से 'वाह-वाह'और 'मरहबा' के इतने ऊंचे-ऊंचे स्वर उठते थे कि समूचा वातावरण गूंज उठता था। संगीत कला के प्रति अपने समर्पण के कारण वह दिल्ली की आंखों का तारा बना हुआ था।

नैमत ख़ां का भाई

उसके मूल नाम का पता नहीं। दरगाह कुली खां ने कहा है:

''नैमत ख़ां का भाई भी उसकी तरह संगीत के क्षेत्र में बड़ी ख्याति रखता है।

उसकी विशेषता यह है कि वह कई घंटों तक एक ही बाजे को बजा सकता है, या एक ही राग को गा सकता है। बड़ा साहिबे उस्ताद है। ऐसा कोई भी आदमी दिल्ली या उसके आस-पास नहीं होगा जो एक ही समय में कई प्रकार के बाजों को कई तरह इस सफाई और खूबसूरती के साथ बजाकर दिखला दे। उसका दूसरा कमाल यह है जिसे संगीत विशेषज्ञ जानते हैं, कि वह तीन तार के बाजों पर सैकड़ों राग रागनियां और सुरों को बजाता है और खुद नई-नई रागनियां ईजाद करता है। यह बिल्कुल असंभव बात है। संगीत विशेषज्ञ भी इसे कठिन और असंभव बताते है।''

''उसके पास तीन तारों का एक साज़ है जो संगीत के अजूबों में शुमार किया जाता है। फ़कीर (दरगाह कुली खां) भी उनकी ख़िदमत में हाजिर हुआ था।''

बाकर तंबूरची

तंबूरा बजाने में अपने वक़्त का उस्ताद है। जब तंबूरे के तारों पर बाक़र की उंगलियां चलती हैं और उनमें से मीठे-मीठे स्वर पैदा होते हैं तो तमाम सुनने वालों का दिल काबू से बाहर हो जाता है। और तंबूरे के मधुर स्वर सुबह की ठंडी हवा की तरह मन में एक स्फूर्ति पैदा कर देते हैं। वह खुद भी बजाते समय मस्त हो जाता है और लोगों को भी मस्त कर देता है। उस समय के बादशाह बाक़र की बड़ी इज्ज़त करते थे। आम लोगों का क्या पूछना, वे तो बाक़र के आशिक़ थे।[24]

हसन ख़ां रूबाबी

रूबाब जैसे कठिन वाद्ययंत्र पर हसन ख़ां को पूरा अधिकार था। उसने अपने जीवन का अधिकांश भाग रूबाब बजाने में बिता दिया। अपनी आयु की अंतिम अवस्था में रूबाब बजाते समय उसका सारा शरीर रूबाब के तारों की तरह कांपता था। उसकी कोई तुलना नहीं थी। आसपास के क्षेत्रों में कोई व्यक्ति उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। दिल्ली में उसकी बड़ी ख्याति थी।[25]

गुलाम मुहम्मद सारंगी वादक

सारंगी बजाने में गुलाम मुहम्मद की शोहरत दूर-दूर तक फैली हुई थी। वह विषाद के स्वर को सारंगी पर जिस तरह निकालता था, भारत का कोई भी सारंगीवादक नहीं निकाल सकता था। उसने कठिन अभ्यास किया था। उसके नाखून बड़ी उन्मुक्तता और व्यवस्था के साथ सारंगी पर चलते थे। वह जिस सभा में जाता जादू कर देता था। दिल्ली के लोग ऐसा मानते थे कि इस कला में उसका कोई सानी नहीं है। लोगों में उसकी बड़ी इज़्ज़त थी।

रहीम और तानसेन (कबत और ध्रुपद)

ये दोनों भाई तानसेन की संतानों में से थे। संगीत के सभी अच्छे श्रोता और जानकार उनका सम्मान करते थे। गाने में उनको कमाल हासिल था। और यह बात मशहूर थी कि उनके गाने में जादू का असर था। उनकी आवाज़ सीधे दिल पर असर करती थी। गले की आवाज़ और वाद्ययंत्र के सुरों में बड़ी संगति होती थी। मन और प्राण की भांति दोनों एक प्रतीत होती थीं। ये दोनों भाई कबत के राग में अजूबे थे और ध्रुपद के मैदान में उनका कोई जोड़ न था। इन दोनों की आवाज़ में यह विशेषता थी कि वह समुद्र की लहरों की भांति बराबर बढ़ती और घटती रहती थी।

क़ासिम अली

क़ासिम अली नैमत ख़ां बीन वादक का शागिर्द था। दिल्ली के संगीत शिरोमणि कलाकारों में उसकी गिनती होती थी। मुहम्मद शाह बादशाह के दरबारी कलाकारों में उसका विशिष्ट स्थान था। अमीरों में भी उसकी बड़ी पूछ थी। वह देखने में भी सुरूप था। जिस सभा में जाता अपने रंग-रूप और हुनर के कारण हाथों हाथ लिया जाता। उसका गाना सुनकर लोग तड़प उठते थे और बेचैन हो जाते थे।

रहीम ख़ां जहानी

वह नवाब अमीर ख़ां अंजाम की सरकार में मुलाजिम था। ख्याल गायिकी में मशहूर था। और बड़े मज़े से गाता था।

शुजाअत ख़ां

बादशाह तक उसकी पहुंच थी। जीत जाने में उसे बड़ी हद तक कुदरत थी। बड़ी शान से रहता था। अच्छे कपड़े पहनता था।

इब्राहीम ख़ां

श्रेष्ठ कोटि का गायक था।

सवाद ख़ां

अपने ज़माने में उसने काफी ख्याति अर्जित की। वह अच्छा गायक था व पुरानी दिल्ली में रहता था।

बोले ख़ां

बादशाही दरबार से जुड़ा था। उसे दरबार में बड़ा विश्वसनीय समझा जाता था। वह पुरानी शैली में गाता था।

हुसैन ख़ां (ढोलक वादक)

ढोलक बजाने में मशहूर था। उसकी ढोलक सुनकर लोगों को आश्चर्य होता था। उसकी विशेषता यह थी कि अगर वह एक महफिल में छः महीने तक भी बैठा रहता तो हर रात नई-नई तर्ज से और निरंतर ढोलक बजाता रहता। कोई यह सिद्ध नहीं कर सकता था कि वह किसी तर्ज को दोहरा रहा है। देश भर में उसका नाम था। जब वह गाता-बजाता था तो मालूम होता था जैसे धरती और आसमान नाच रहे हैं।

तहन्ना

हसन ख़ां का विशेष शागिर्द था। दिल्ली के सर्वश्रेष्ठ ढोलक वादकों में उसका नाम था। अपने उस्ताद के बाद उसी का दर्जा था।

शहबाज़ (धमधमी वादक)

शहबाज़ के पिता आज़मशाह की सरकार में नौकर थे और धमधमी बजाने में निपुण थे। शहबाज़ भी अपने पिता की कला में दक्ष हो गया था। दिल्ली के धमधमी वादकों में अद्वितीय था। वह धमधमी पर जिस प्रकार की राग रागनियां निकालता था वैसी ढोलक और पख़ावज पर निकालनी मुश्किल थी। वह समय के अनुसार धमधमी बजाता था और जब धमधमी पर गाता था तो उसमें डूब जाता था। उसकी और धमधमी की आवाज़ एक हो जाती थी। श्रोतागण इन्हें अलग नहीं सकते थे।

शाहदरवेश (मटका वादक)

वह जन्मजात अंधा था। मटका बजाने में अद्वितीय था। उसके मटके की ताल के सामने बड़े-बड़े ढोलक और पखावज वादक शर्म के मारे पसीना-पसीना हो जाते थे और उसके कमाल के सामने माथा टेक देते थे। उसने बचपन से ही मटका बजाने का अभ्यास शुरू कर दिया था और धीरे-धीरे उसकी साधना इस कोटि तक पहुंच गई थी कि वह स्वयं राग ईजाद करने लगा था। नवाबज़ादे और अमीरज़ादे उसके पास सवारियां भेज कर बड़े सम्मान के साथ अपने यहां आमंत्रित करते थे।

नाबीना (पेट बजाने वाला)

वह नेत्रहीन था और बेकारी के कारण अपनी आजीविका के लिए पेट बजाने में महारत हासिल कर चुका था। ढोलक और पखावज के नियमानुसार और संगीत की तमाम बारीकियों को लिए हुए वह अपना पेट बजाता था अर्थात् उसने पेट का एक नया वाद्य ईजाद कर लिया था। तवायफें उसके पेट के साज़ पर नाचती थीं। नृत्य की ताल और पूरी कोमलता उसके उदरवादन में समाहित थी।

तक़ी

वह देश भर में भगत बजाने वालों की जमात का सरदार माना जाता था और बादशाह का प्रिय पात्र था। बड़े-बड़े अमीर और रईस उसकी इज़्ज़त करते थे। और बड़े आनंद के साथ आमंत्रित करते थे। दिल्ली का हर छोटा बड़ा उसके सान्निध्य की इच्छा रखता था। उसके पास भगत बजाने के सारे साज़ मौजूद थे। वह इतना प्रवीण था कि विभिन्न जातियों और फिरकों के भगत बजा सकता था और उनसे संबंधित आवश्यक वस्तुएं भी रखता था। वह बड़ा ही रंगीन और शौकीन मिजाज़ था। अपने घर को रंग-बिरंगे सामनों से सजाए रखता था। अमीरों में उसकी विशेष रुचि थी।

शाह दानियाल

वह सुर्खी के नाम से मशहूर था। कई चीजों में कमाल रखता था। बुलबुल हज़ार दास्तान की तरह दास्तान गो, बेमिसाल नक्काल, लतीफ़ागो और मशहूर संगीतकार था। कबत और ख़्याल जैसी लोकप्रिय चीजों में उसकी महारत थी। वह अभ्यास सिद्ध कलाकार थी। और जब गाता तो बड़ी रंगीनी के साथ गाता था, उसकी आवाज़ में जादू था। पुरानी शैली में भी उसे कमाल हासिल था।

ख्वासी और अनूठा

दोनों दिल्ली के मशूहर नक्काल थे और शाही दरबार से जुड़े हुए थे। ख्याल और नृत्य में विशेष प्रतिभा के धनी थे। जब किसी महफिल में कोई तवायफ होती तो उनकी रंगीनी देखने योग्य हुआ करती थी।

सब्ज़ा और मज़्ज़ा

ये दोनों नवयुवक भी नक्काल थे। वे अच्छे नर्तक भी थे। बड़ी कोमलता के साथ विविध प्रकार के भाव बताते हुए नाचते और नकलें करते थे।

रहीम खां, ज्ञान खां, दौलत खां और हड्डू

ये चारों भाई ख्याल गाने और बजाने में बेमिसाल थे। बड़ी नज़ाकत से गाते थे। जिस महफिल में जाते उस महफिल के लोगों को बाग-बाग कर देते थे। हर महीने की पांचवी तारीख को उनके घर पर महफिल जमती थी, जहां कव्वालों और अन्य कलाकारों का बड़ा जमघट होता था। इस महफिल में बड़े-बड़े उच्च कोटि के कलाकार हुआ करते थे। इस कारण ये चारों बंधु बड़ी मेहनत के साथ अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। दौलत खां की आवाज़ बहुत सुरीली और बारीक थी। जब तक उसके पास जगह न मिले और कान लगाकर उसके गाने को न सुना जाए तब तक कोई आनंद न आता था। इसलिए जिस महफिल में वह होता, लोग आगे बैठने की कोशिश करते थे लेकिन दूर बैठने वाले भीड़ के कारण दूर से ही वाह वाह करके चले जाते थे। रहीम खां बड़ी सादगी से गाता था। उसकी आवाज़ मीठी थी। उसने अच्छा अभ्यास किया हुआ था। वह शराब का अभ्यस्थ था इसलिए जहां भी जाता अतिशय मदिरा पान के कारण गालियां भी बकता था। लेकिन लोग उसकी कला के कारण सब कुछ सहन कर लेते थे। ज्ञान खां और हड्डू छोटे भाई थे। जब ये दोनों गाते तो लोग जी खोलकर दाद देते थे। इन भाइयों की महफिल में दिल्ली के सभी लोग शरीक होते थे। इनका सामीप्य बड़ा सुखद था।

अल्लाह बंदी

इसने ख्याल गाने में अच्छी ख्याति अर्जित कर ली थी। और बड़े मनोहारी और उन्मुक्त ढंग से गाता था। देखने में सुदंर और डील-डौल अच्छा था। उसे सब चाहते थे।

रजी अमरद[26]

उसका रंग काला था लेकिन आवाज बड़ी मधुर और मार्मिक थी। वह जब गाता था तो बाजे के सुरों और तारों में उसकी आवाज़ विलीन हो जाती थी। जिस श्रोता में अंतर करने की समझ न हो वह उसकी और बाजे की आवाज़ों में अंतर नहीं कर सकता था। वह सदारंग गाने में माहिर था।

हींगा अमरद

वह यास्मीनी लिबास पहनता था। किले के सामने वाले चौक में रोज उसका नृत्य हुआ करता था। बड़े-बड़े लोग सिर्फ उसका नृत्य देखने के लिए चौक में घूमने आया करते थे। उसके दर्शकों ने उसे 'हंगामापीरा' की उपाधि दे दी थी। चौक में मियां हींगा के नाच की महफिल आकर्षण का एक केन्द्र बनी हुई थी। बड़े-बड़े अमीर उसे बड़ी

धन-राशि देकर अपने घर आमंत्रित करते थे। लेकिन वह किसी के मकान में कदम तक न रखता था। मियां हींगा के प्रेमी उसके घर पर जाकर उसके नृत्य का आनंद उठाते थे।

सुल्ताना अमरद

उसका रंग सांवला था। उसकी आयु लगभग बारह वर्ष की थी। लेकिन उसका नृत्य इतना विलक्षण था कि लोग उसके दीवाने थे। इतनी अल्प आयु में उसने नृत्य में वह नाम कमा लिया था कि इसका अनुमान नहीं किया जा सकता।

दरगाही

वह एक सुंदर लड़का था। नाचने और जनकूला बजाने में उसकी कोई तुलना नहीं थी। नाचते समय जब वह जनकूला बजाता था तो उसको जनकूला के सुरों पर पूरा अधिकार होता था। एक ताल कायम रखता था और थपकी से बहुत से ताल देता था।

चंग नवाज

दरगाह कुली ख़ां ने इस कलाकार का नाम नहीं लिखा है लेकिन वह लिखता है कि रात को संगीत के उस्ताद की टोली में उसने एक-एक चंगवादक को देखा था। इस कलाकार के हाथ में घास का एक पत्ता था। उसने पत्ते को मुंह में लेकर बजाना शुरू किया और बुलबुल हजार दास्तान की तरह गाने लगा। बुलबुल हजार दास्तान और उसकी आवाज में तनिक भी अंतर मालूम नहीं होता था।

उपर्युक्त कलाकारों के लिए संगीत आजीविका का एक साधन था लेकिन बड़े आश्चर्य की बात है कि इनके अलावा ऐसे कलाकार भी हुए हैं जो संगीत को मात्र एक कला के रूप में लेते थे और उन्होंने कुछ नए वाद्य यंत्र भी आविष्कृत किए थे।

मुहम्मद मोहसिन फ़िदवी उनमें से एक थे। सितार और बरबत बड़ी अच्छी तरह से बजाते थे। कलंदर बख्श जुरअत को गायन कला पर अच्छा अधिकार था। वे अच्छे सितारवादक भी थे। मीर सौज़, मीर मदद उल्लाह, हकीम पनाह खां 'पनाह', अब्दुल रज्जाक 'बेहोश', मिर्जा सादिक अली खां 'मिर्जा', मिर्जा मुहम्मद रफी 'सौदा', हाफिज गुलाम अशरफ संगीत कला में अच्छी पहुंच रखते थे। हाफिज गुलाम अशरफ उच्च कोटि के बीन वादक थे। उन्होंने एक नया साज़ ईजाद किया, उसका नाम सुंदरबीन रखा। हाफिज गुलाम मुहम्मद 'सरखुश' (जहांनाबाद) को सितार और सारंगी बजाने में बहुत ख्याति मिली थी। पट्टा और ख्याल खूब बजाते थे।

क़ज़लबाश ख़ां 'उम्मीद' एक बड़े कलाकार थे। अठारहवीं शताब्दी में शायद वह

पहला ईरानी मूल का व्यक्ति था जिसने भारतीय संगीत में दक्षता प्राप्त की थी। उसका नाम मुहम्मद रज़ा था। हम्दान में उसका जन्म हुआ था और इस्फहान में उसका पालन-पोषण हुआ था। बहादुरशाह प्रथम (1719) के शासनकाल में भारत आया। उसने नवाब जुल्फकार खां की कृपा से हजारी का मनसब पाया और उसे क़ज़लबाश खां का खिताब दिया। वह नवाब निजामुलमुल्क आसफ़जाह के साथ दक्षिण गया और 1728 में नवाब के साथ ही फिर दिल्ली वापस आया। नादिरशाह के आक्रमण के बाद पुनः दक्षिण गया और वहां बारह वर्ष तक रहा। 1746 में उसका निधन हुआ।

मियां मुहम्मद नवाज, मुकर्रम उद्दौला, सैयद अकबर अली खां, मीर अब्दुल रशीद, हकीम मीर हुसैन हुसैनी, मुजफ्फर उद्दौला, मुख्तार उलमुल्क, नवाब ज़फ़र याब खां, बाहदुर नासिर जंग, मिर्जा सादिक अली खां सादिक, मौलाना मीर गुलाम हुसैन ज़ाहिक, मीर भचुआ फिदवी, मियां गुलाम रसूल खां, मौलवी हैदर अली खां संदेलवी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। संदेलवी भारतीय रागों में भैरवी, विहास, ललित, राम कली, गुनकली, भटियार, सुधरई, सोहा, गुजरी, गंधार, आसावरी, तोड़ी, बिलावल, अलहिया, देवगिरि और अन्य राग रागनियों के गाने में विशेषज्ञता रखते थे। इसी प्रकार खवाजा हसन 'हसन', जलाल उद्दीन गालिब, सैयद गजनफ्फर हुसैन, मुहम्मद जमा आदि कलाकार बीन, तंबूरा, कानून, रूबाब, सारंगी और दूसरे साजों के बजाने में महारथ रखते थे। अलाउद्दीन की भारतीय संगीत में अच्छी पहुंच थी। मुबारंज मुल्क फीरोज खां बीन नवाज, मीर अब्दुल जलील बिलगरामी भी बहुत मशहूर थे। बिलगरामी ने अपनी जवानी के दौर में अपने वतन बिलगराम की प्रशंसा में 'अमवाज-उल-ख्याल' नामक एक मसनवी लिखी थी। इस मसनवी में उन्होंने 'दर मसनवी कत खुदाई मुहम्मद फर्रूखसियर बादशाह बा दुख्तर अजीन सिंह' शीर्षक के अंतर्गत भारतीय संगीत के ग्रामों (परदों) का वर्णन फारसी भाषा में किया है। मीर गुलाम नबी बिलगरामी भारतीय राग-रागनियों के अलावा देसी साजों को बजाने में भी माहिर थे। मीर अजमत उल्लाह बिलगरामी 'बेखबर' और सैयद निजामुद्दीन हिंदी में कविताएं लिखते थे। सैयद निजामुद्दीन का उपनाम 'मधुनायक' था। भारतीय संगीत पर उन्होंने दो पुस्तकें लिखीं थीं–नाद चंद्रिका और मधुनायक सिंगार। दूर-दूर से संगीत प्रेमी आकर उनसे शिक्षा ग्रहण करते थे। वे कला की समस्याओं का समाधान करते थे। उनके राग मशहूर थे। ऐसा सम्मान के लिए किया जाता था। गुलाम अली आजाद बिलगरामी के अनुसार उनके गाने में अजीब कैफियत थी। कई बार उनके गाने सुनकर उड़ते हुए पक्षी आवाज़ के वशीभूत होकर जमीन पर उतर आते थे तो फिर इन्सान के बारे में क्या कहा जाए। इम्साक बारां के जमाने से संबंधित एक घटना बताई जाती है। एक बार वर्षा नहीं हुई, लोग परेशान हो गए। इन हालात से विवश होकर सैयद

मुहम्मद बिलगराम, सैयद निजामुद्दीन की सेवा में हाजिर हुए और निवेदन किया ''पिछले जमाने के गवैयों ने अपने चमत्कार दिखाए थे। अब देवीय विपत्ति आ पड़ी है। लोगों का जीवन बर्बाद है। अगर संभव हो तो आप भी अपना चमत्कार दिखाएं और जनता की सहायता करें।''

उन्होंने कहा, ''मैं तो कुछ भी नहीं हूँ और तमाम कुदरत अल्लाह ताला! में पाई जाती है और हर बात पर उसी का अधिकार है। यह कहकर उन्होंने एक चौकी मंगवाई सैयद मुहम्मद फ़ैज के दीवानखाने में बिछवाई उस चौकी पर बैठ गये और मेघराग गाना शुरू किया। थोड़ी ही देर बाद इतनी तेज बारिश हुई कि आखिरकार मुहम्मद फ़ैज ने उनसे गाना बंद करने का अनुरोध किया।''

मुल्ला अली अकबर 'सौदा', मीरजा मेंहदी अली, शेख सादुल्लाह गुलशन, आगा इब्राहिम फैजान, अहमद इब्रत, मिर्जा बेदिल, मीर मुहम्मद तहकीक, मेहरबान खां रिंद, मिर्जा सेफ अली खां शगुफ्ता, नवाब शुजाउद्दौला, रोशन जमीर उस युग के महान कलाकार थे। कहा जाता है कि, ''बचहार हजार नवाज़ी मियाईन साम्आ! नवाज़ अहले सुहबत कर्दा बूद।'' उन कलाकारों ने संगीत पर कई उच्चस्तरीय पुस्तकें भी लिखी थीं। औरंगजेब के युग में संगीत पर प्रतिबंध लग जाने के कारण लोग इस कला से ध्यान हटाने लगे थे। 'खजाना-ए-आमरा' में लिखा है कि उस युग में संगीत, नृत्य और हिंदी भाषा के अच्छे ज्ञाता मौजूद थे। हिंदी शायरी में रोशन जमी का उपनाम पेमी था। पेमी शब्द आशिक का पर्यायवाची है। उन्होंने नृत्य पर संस्कृत की एक प्राचीन पुस्तक का फारसी में अनुवाद भी किया था। इस पुस्तक की चर्चा बाद में की जाएगी। उमदातुल मुल्क मीर खां अंजाम, मुहम्मद शाही के अमीर थे। संगीत कला पर पूरा अधिकार रखते थे। कई वाद्यों को अधिकार के साथ बजाते थे। ढोलक, जो विशुद्ध हिंदुस्तानी साज़ है, नवाब खुद अपने हाथ में लेकर बजाते थे।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में भी मुसलमानों भारतीय संगीत के प्रति पूर्ववत अभिरुचि बनी रही। सर सैयद अहमद खां ने 'आसार-उल-सनादीद' में संगीत पर स्वतंत्र अध्याय लिखा है। उनके समकालीन संगीतकारों के नाम इस प्रकार हैं-हिम्मत खां (ध्रुपद गायक) रागरस खां, मीर नासिर खां(बीन वादक), बहादुर खां (सितारवादक), रहीम सेन (सितारवादक), निजाम खां (ध्रुपद), कायम खां (ध्रुपद) और मखुआ पखावज वादक आदि।

भारतीय संगीत कला के कुछ पारिभाषिक शब्द

ध्रुपद

संस्कृत भाषा का शब्द है। इसमें चार तकें होती हैं। पहली को अस्थाई, दूसरी को

अंतरा, तीसरी को भवक और चौथी को अभवक कहते हैं। इसमें प्रेम भावनाओं को अभिव्यक्ति दी जाती है। महादेव की प्रशंसा हो तो स्तुति तथा विष्णु की प्रशंसा हो तो विष्णुपद कहते हैं। सबका सार एक ही है। यह बीन, रबाब, कानून, पखावज, मंडल और मृदंग आदि वाद्यों पर गाया जाता है। चौतालें इसमें अच्छी लगती हैं। इसमें स्वर भाक्ता या स्वर फाख्ता भी होता है और धीमाला व तिताला भी होते हैं। राग-रागनियों में प्रवाह हो तो उसमें गाना अच्छा लगता है। इसनें आवाज को ऊंची, नीची, हल्की, भारी और लौट-फेर करने की तालें निश्चित हैं।

होरी

होरी भी ध्रुपद की भांति होती है। लेकिन इसकी तुकें उसकी तुकों से छोटी हैं। पुरानी होरी की ताल धमार है। इसके बाद दीप वंदन भी पैदा हो गई। इसमें मौसम और स्त्रियों के उल्लास का वर्णन किया जाता है।

टप्पा

टप्पा में छोटी सी दो तुकें होती हैं। पहले यह पंजाबी भाषा में शुरू हुआ फिर मारवाड़ी में। इसमें उपच का रिवाज बहुत है लेकिन कम अच्छा लगता है।

ठुमरी इससे ज्यादा छोटी होती है। कहरवा और दादरा का जन्म बुंदेलखंड में हुआ। टप्पे, ठुमरी आदि बच्चों और स्त्रियों की कोमल आवाज के अनुरूप हैं। ध्रुपद भारी आवाज के लिए उपयुक्त है।

शब्द पर बल देकर गाने का नाम ताल है। राग इसमें निषिद्ध नहीं हैं क्योंकि अलाप में राग होता है, ताल नहीं। इसी प्रकार पखावज, ढोलक, मंडल और दफ में ताल है राग नहीं।[27]

तौदी और सबत[28]

भारत के उस्तादों ने प्रत्येक गीत को एक रूप या सूरत दी है और उसी रूप में उसे गाते हैं। तौदी एक प्रकार का भारतीय राग है जिसकी कल्पना हिरन की आकृति के रूप में की गई है। शेख मुहम्मद अली अकबरबादी 'माहिर' आज़ाद बिलगरामी ने इन दोनों को अपने शेरों में बांधा है–

याफ़्त क़ैदे सबत हर नग़मा अश अज़ ओस्ताद
किस बरंग हिंदकारे नग़मा रा सूरत नदा़द[29]
'माहिर'

अर्थात् नग़मे ने उस्तादों के फ़नगसे आवाज़ की क़ैदें हासिल कीं, यह तो हर

जगह हुआ लेकिन हिंदुस्तान की तरह किसी ने राग को सूरत नहीं दी है।

इश्क़ मन बा शोख़ मुतरिब ज़ादा ए हिंदोवाद
हम चू तौदी नाला अम बर सूरत ए आहोबवद[30]

–आज़ाद बिलगरामी

अर्थात् उस चंचल गायक से मेरा प्रेम हिंदुओं याने हिंदुस्तानियों जैसा है। तोड़ी राग की तरह मेरा गीत हिरन की सूरत रखता है। हिरन भी चंचल होता है। यही हाल मेरे प्रेमी का है।

गायन का समय और ऋतु

भारतीय गायन के लिए समय और ऋतुएं निश्चित थीं। भारतीय मुसलमानों ने भारतीय संगीत की इन शास्त्रीय मर्यादाओं का पालन किया। अब्दुल क़ादर ख़ानी ने कहा है, ''संगीतकारों ने रागों के लिए एक उपयुक्त समय निश्चित कर लिया है। इसके पीछे भारतीय विश्वास रहे हैं।''

भारतीय संगीत पर मुसलमानों की रचनाएं

भारतीय मुसलमानों ने संगीत कला में इतनी योग्यता अर्जित कर ली थी कि उन्होंने इस कला पर अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं और संस्कृत से तद्विषयक पुस्तकों का फारसी में अनुवाद भी किया। बंगाल में इस कला पर अधिकांश पुस्तकें मुसलमानों द्वारा लिखी गई थीं।

अतएव यहां भारतीय संगीत में मुसलमानों की देन और उनकी रचनाओं का मिला जुला ब्यौरा देना आवश्यक लगता है ताकि यह बात स्पष्ट हो सके कि जीवन के अन्य पहलुओं की भांति मुसलमानों ने भारतीय संगीत को भी अपनी संस्कृति का अंग बना लिया था। उन्होंने न केवल भारतीय संगीत को अपनाया बल्कि उसे समृद्ध भी किया। इस विषय पर अनेक पुस्तकें भी लिखीं। भारतीय संगीत ने हिंदू और मुसलमानों में पारस्परिक सौहार्द उत्पन्न करने में बड़ी मदद की होगी। बात यह थी कि इस्लाम ने मुसलमानों को इस कला से वंचित कर रखा था इसलिए अंततोगत्वा इस विद्या को ग्रहण करने के लिए मुसलमानों ने हिंदू कलाकारों की शिष्यता ग्रहण की होगी। और इस प्रकार दोनों जातियों के लोगों को एक दूसरे के समीप आने का अवसर मिला होगा। जिस प्रकार उर्दू और फारसी शायरी में अधिकांश हिंदू शायरों ने मुसलमान शायरों से ज्ञानार्जन किया था उसी प्रकार मुसलमानों ने संगीत के क्षेत्र में हिंदुओं की शागिर्दी की होगी। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि मध्यकालीन साहित्य में इससे संबंधित विस्तृत ब्यौरे प्राप्त नहीं होते।

बिसात-उल-उन्स

डा. अब्दुल रशीद ने इस पुस्तक का जिक्रं किया है। यह हिंदी पुस्तक का फारसी अनुवाद है। इख्तातान हिंदी देहलवी ने 1325-26 ई. में इसका अनुवाद किया था। अनुवादक की उम्र उस समय 26 वर्ष थी। इस पुस्तक के अध्ययन से उस समय के मनोरंजन की सभाओं और त्यौहारों के विषय में काफी जानकारी मिलती है। दिल्ली के सुल्तान और उनके अमीर इन उत्सवों का बड़ा सम्मान करते थे। इसमें उस युग के विभिन्न प्रकार के वाद्य यंत्रों का विस्तृत विवरण भी मिलता है जैसे रबाब, नै, दफ, अदद, जलाजल और कमंचा आदि। इसके अतिरिक्त मदिरापान, प्रेम और श्रृंगार की झलकियां भी पाई जाती हैं जो कि उस जमाने के मुस्लिम समाज की विशेषताएं थीं।

गुन्नियतुल मीना

यह एक अधूरी पांडुलिपि है। इसमें आरंभिक और अंतिम चार अध्याय नहीं हैं। इस पांडुलिपि की फोटो-प्रति अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में मौजूद है। इस पुस्तक में लेखक का नाम नहीं है। कदाचित 1374-75 ई में गुजरात के गवर्नर शमशुद्दीन इब्राहिम हसन के आग्रह पर यह पुस्तक लिखी गई थी। मलिक शमशुद्दीन दिन भर की थकान उतारने के लिए रात को फारसी और हिंदी गीत संगीत को सुनता था। उसने लेखक से आग्रह किया कि वह संगीत के तकनीकी पहलुओं पर एक किताब लिखे। लेखक ने इस पुस्तक की रचना में अनेक गायकों और वादकों की मदद ली। लेखक ने भरत के नाट्यशास्त्र के अलावा संगीत-हनूद, संगीत मदिरा, हतंग, राग रानवा आदि फारसी की पुस्तकों से भी मदद ली। लेखक ने भारतीय संगीत की व्याख्या तक अपने आप को सीमित रखा।

लहजात-ए-सिकंदरी

यह भारतीय संगीत पर लिखी गई सिकंदर लोदी के युग की एक दुर्लभ और महत्वपूर्ण पुस्तक है। इसकी हस्तलिखित पांडुलिपि लखनऊ विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में है। उमर समी याहिया नामक एक अफगान को इसका लेखक बताया जाता है। यह व्यक्ति अफगानिस्तान से भारत आया था और उसे भारतीय संगीत से इतना अनुराग हो गया था कि उसने भारतीय संगीतकारों की सहायता से संगीत की शिक्षा आरंभ कर दी। जब वह इस कला का मर्मज्ञ हो गया तो उसने भारतीय संगीत पर फारसी में एक पुस्तक लिखने का निश्चय किया। उसने इस पुस्तक की रचना सिकंदर लोदी के वजीर मिया भोवा के प्रोत्साहन से की थी। लेखक ने इस बात का दावा किया है कि उसने इस पुस्तक की रचना में शास्त्रीय संगीत की पुस्तकों से सहायता ली थी।

अपने विशेष स्रोतों में उसने संगीत रत्नाकर, संगीत मातंग, नृत्य संग्रह, सिद्धनिधि, संगीत साम्य और संगीत कल्पतरू का उल्लेख किया है।

इस पुस्तक में छः अध्याय हैं तथा सैंतालीस खंड हैं। इसमें विभिन्न शैलियों के नृत्य, गायन और वादन का वर्णन किया गया है। इसके अलावा विभिन्न प्रकार के रागों, रागनियों, सुरों और तालों का भी वर्णन किया गया।

कंज़-उल-तहफ

इस पुस्तक की रचना 756 हिज्री (1355 ई.) या 764 हिज्री (1363 ई.) में हुई। इस पुस्तक में भूमिका के अलावा चार विस्तृत लेख हैं। भूमिका का शीर्षक है- 'दरबयान शर्फ ई सनाअत बर सायर सनाआत'। दूसरे फुनून पर मौसीकी की अफ़ज़लियत शीर्षक लेख में संगीत कला पर बहस की गई है। इसके दो भाग हैं। पहला 'दर हुदूद-ए-तारीफात' तथा दूसरा दरइल्लत-ए-असबाब हिद्दतोनकल ओ अवारिज़।

दूसरा लेख व्यावहारिक संगीत पर है। इसके दो भाग हैं। पहला तारीफ ऊद और तस्विया ओ तार आं वा इस्तहजाज अदवार ओ आवाज़ हा अज़ आं। दूसरा 'दर तशरीह ईकायात सबा सहूरा वा इंतकाल मुस्तहसन।'

तीसरे लेख का शीर्षक है-दर तस्नीअ साजात आं यानि रागों की तरतीब।

चौथे लेख का शीर्षक है-वसीयती कि तालिबान ई फन राबकार आयद ओ बयान अश आरी कि मुनासिब तालनयात बाशद। अर्थात् इस फन के विद्यार्थियों के लिए अहम इशारे और रागों की तरतीब के मुनासिब शेर। इस लेख को भी दो भागों में बांटा गया है।

राग सागर

संगीत शास्त्र की इस पुस्तक की रचना अकबर बादशाह के युग में हुई थी।

पारिजातक

यह कहा जा चुका है कि औरंगजेब के शासन काल में संगीत पर विपत्ति आ पड़ी थी। लेकिन बड़े आश्चर्य की बात है कि इस युग में भी संगीत पर कुछ स्तरीय पुस्तकें लिखी गईं या अनुवाद किए गए। सबसे पहली किताब मिर्जा रोशन जमीर की है। मिर्जा रोशन जमीर संगीत के माने हुए उस्ताद थे। 'मरातुलख्याल' के लेखक का कथन है कि रोशन जमीर ने संगीत पर अरबी, फारसी और हिंदी में दूसरी किताबें भी लिखी थीं लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि वे सब की सब काल कवलित हो गईं उनमें से कोई भी उपलब्ध नहीं है।

पारिजातक संस्कृत की एक प्राचीन पुस्तक है। इसके रचयिता अहोबल थे। रोशन जमीर ने इसका फारसी में अनुवाद किया था। इसमें तीन अध्याय हैं। पहला गीत कांड है जिसमें गायन के नियमों का वर्णन है। दूसरा वाद्य कांड है जिसमें साजों की चर्चा है। तीसरा नृत्य कांड है जिसमें नृत्य के बारे में लिखा गया है।

राग दर्पण

यह पुस्तक 'मान कुतूहल' का सटीक अनुवाद है। यह एक मौलिक रचना जैसी प्रतीत होती है। अमीर फ़कीर उल्लाह सैफ़उल्लाह खां ने इसका अनुवाद किया था। यह औरंगजेब के जमाने में एक अमीर था। 'मान कुतूहल' की रचना ग्वालियर के राजा मानसिंह ने अपने दरबारी संगीत विशेषज्ञों से कराई थी। राजा के नाम पर इसका नाम मानकुतूहल रखा गया। इसका अनुवाद 1665-66 में पूरा हुआ। एक जमाने (1660-61) में अमीर फकीर उल्लाह से औरंगजेब के कटु संबंध हो गए थे इसलिए फकीर उल्लाह घर बैठ गए। इस बेकारी के जमाने में उनके हाथ मानकुतूहल की एक प्रति लग गई। उन्होंने अपनी कलात्मक अभिरुचि के बल पर इसका अनुवाद शुरू कर दिया। लेकिन उन्हें आत्मसंतोष नहीं हुआ। अतएव उन्होंने इस विषय पर कुछ अन्य पुस्तकें भी पढ़ीं और उनकी जानकारी को इसमें जोड़ दिया। उन्होंने रिसाला सैयद मंसूर और रागप्रकाश आदि पुस्तकों से सहायता ली थी।

शेख शहाबुद्दीन

बरनावा जिला मेरठ का निवासी था। उसने संगीत की शिक्षा दक्षिण में ग्रहण की थी। वह कपत, ध्रुपद, ख्याल और तराना में महारत रखता था। उसके दो शागिर्द फकीर उल्लाह के साथ रहे थे।

मियां डालू डमाढ़ी

मियां डालू दरवेशों के वेश में रहते थे। धनवानों की सोहबत से परहेज करते थे। फकीर उल्लाह की उनसे आगरा में भेंट हुई थी। उन जैसा ध्रुपद बजाने वाला कोई दूसरा सुनने में नहीं आया।

लाल खां कलावंत

उसका उपनाम गुनसमंदर खां था। बचपन में मियां तानसेन की सेवा में हाजिर हुआ था। उन्होंने लाल खां की शिक्षा का काम अपने छोटे लड़के विलास खां को सौंप रखा था और विलास खां की लड़की से उनका विवाह कर दिया। विलास खां के

मार्गदर्शन में उन्होंने संगीत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया और उनकी गिनती नामी-गरामी गवैयों में की जाने लगी। अस्सी-नब्बे वर्ष की आयु में उनकी मृत्य हुई।

जगन्नाथ

कविराज उनका उपनाम था। तानसेन के बाद उन जैसे कवित किसी ने नहीं लिखे। धर्म को लेकर बहुत स्वच्छंद थे। उन्होंने ध्रुपद में नया प्रयोग किया था। और मियां तानसेन को सुनाया था। शतायु होकर उनकी मृत्यु हुई

मिसरी खान

वह विलास खां के शगिर्द और शहजादा शुजा के आश्रित कलाकार थे। बंगाल में उनके समान कोई दूसरा गायक न था। वे छियासी वर्ष तक जिये।

मीर सालह

कव्वाली के फन में पूरी तरह महारत रखते थे। दिल्ली के निवासी थे। नब्बे वर्ष की आयु में इनका निधन हुआ।

हसन खां नोहार

इनके विषय में प्रामाणिक जानकारी नहीं है।

किशन सेन

वह कबत के माहिर थे। इन्हें नायक अफ़ज़ल की उपाधि मिली हुई थी।

शेख कमाल

मियां डालू के शागिर्द थे। 1667-69 ई. में वे जीवित थे। वे सिपाहियों जैसे ठाट-बाट से रहते थे। उन्होंने कुछ समय तक फकीर उल्लाह के सत्संग का लाभ उठाया था।

बख्त खां गुजराती

कलावंत. फकीर उल्लाह ने उन्हें देखा था, सुना नहीं था। संगीत के जानकार उनकी बड़ी प्रशंसा करते थे। वह वलास खां के शागिर्दों में से थे।

रंग खां कलावंत

एक सिद्ध संगीतकार थे। वे शाहजहां के युग में हुए थे।

खुशहाल खां

वे पिसरलाल खां के बेटे थे। अपने समय के अद्वितीय कलाकार थे।

संवाद खां ढाड़ी

वह फतहपुर के निवासी थे। कहा जाता है कि अपने फन में आला दर्जा हासिल था।

किशन खां कलावंत

शहजादा शुजा से जुड़े थे। इनके कई राग मशहूर थे। इनकी मृत्यु बंगाल में हुई।

वली ढाड़ी

आगरा के निवासी थे। अच्छा गाते थे।

शेख सादुल्लाह लाहौरी

वे विरक्त और उदासीन जीवन बिताते थे। कुछ दिनों फकीर उल्लाह के साथ ही रहे। अफीम बहुत खाते थे। इस कारण उनके गायन में विकार पैदा हो गया था।

मुहम्मद बाकी

वे एक मुगल थे। ज्यादा अफीम खाने की वजह से गला खराब हो गया था।

पूजा बिरादर शेख शेर मुहम्मद

अच्छे गवैये थे। उन्होंने कई पुस्तकें भी लिखी थीं। नासूर के रोग से उनकी मृत्यु हुई।

बायजीद नोछावरी

अच्छे कलावंत थे। पचास वर्ष तक जिये।

रोरा या जोरा

यह एक कव्वाल का नाम है।

कबीर कव्वाल

वे शेख शेर मुहम्मद के शागिर्द थे।

रहीम दाद ढाडी

उन्होंने संगीत में कई ईजादें की थीं। इल्मेनाजुक के जानकार थे।

मीर अमाद

वे हरात के सैयद थे। फकीर उल्लाह के जमाने में जीवित थे।

सैयद खां नोहार

वे सुबहान खो अलिया-उल-रहमां के पोते थे। कबत उम्दा गाते थे। ध्रुपद की महारत में अमीर खुसरो से टक्कर लेते थे।

सैयद तैयब

इनका उपनाम बुध था। राजधानी दिल्ली के पास स्थित झारसा परगने के निवासी थे।

उपुर्यक्त गायकों के अलावा कई अच्छे वादक भी थे। जिनकी बड़ी ख्याति थी जैसे सरस नयन, बायजीद, सुखीनयन (बायजीद का शागिर्द) आदि। सुखीनयन औरंगजेब का प्रिय पात्र था। सालह रबाबी दाढ़ी, हयातीखानी, करवाई और ताहिर बेहतरीन दफ और मृंदग वादक थे।

फीरोज ढाड़ी पखावज का माहिर था। अल्लाह दाद ढाड़ी सारंगीवादक था। शौकी अद्वितीय तंबूरा वादक था। रसबैन का खिताब मुहम्मद था। साज को बड़ी नजाकत से बजाता था। अबुल वफा एक अच्छा तंबूरावादक था।

मिफताह-उल-सरोद

भारतीय संगीत कला पर यह पुस्तक काजी हसन बिन ख्वाजा ताहिर बिन ख्वाजा मुहम्मद द्वारा लिखी गई थी। इस पुस्तक की रचना 1673-74 ई. में हुई थी। इसमें चार अध्याय हैं जो राग-रागनी, मौसम और राग और वाद्ययंत्रों से संबंधित हैं।

मारफतुल नग़्म

इस पुस्तक के लेखक का नाम अबुल हसन कैसर है। इसका रचना काल 1087 हिज्री तदनुसार 1676-77 ई. है।

लेखक ने कहा है कि उसने इस पुस्तक की रचना में अनेक पुस्तकों की सहायता ली है। इस पुस्तक में एक भूमिका, दो लेख और उपसंहार शामिल हैं।

शमसुल असवात

यह हिंदी की किसी संगीत विषयक पुस्तक का अनुवाद है। अनुवादक का नाम रास बरस था। जो खुशहाल खां कलावंत का बेटा था। यह पुस्तक 1697-98 ई. में पूरी हुई। पुस्तक में छः अध्याय हैं यथा-सुर, राग, अलाप, अक्साम कबत, कवानीन दस्तक जदन और साज।

तशरीह-उल-मौसीकी

मुहम्मद अकबर अरज़ानी ने तानसेन की 'बुद्ध प्रकाश' का फारसी में अनुवाद किया था और इसका नाम तशरीह-उल-मौसीकी रखा।

रिसाला मौसीकी

मुल्लाह एवज़बेग ने शहजादा मुहम्मद माज़म के आग्रह पर संगीत पर यह रिसाला तैयार किया था।

मफर हुल कलूब

इस पुस्तक का लेखक हसन अली इज्जत है। इस पुस्तक की रचना टीपू-सुलतान के शासन के पहले वर्ष यानि 1783 में आरंभ हुई और 1785 ई. मे पूरी हुई। विलियम जोन्स ने 1774 में भारतीय संगीत पर एक लेख लिखा था जिसका परिवर्धित संस्करण उनकी पुस्तक में छपा था।

तज्किरा मरातुल खयाल

इसके लेखक का नाम शेर खां लोदी है। इसकी रचना 1690-91 ई. में हुई। भारतीय संगीत पर इसमें विस्तृत बहस की गई है।

कश्कोल

अंजुमन तरक्की उर्दू, अलीगढ़ के पुस्तकालय में इसकी पांडुलिपि मौजूद है। इस पुस्तक में भारतीय संगीत से संबंधित विस्तृत सूची दी गई है। इसके लेखक के नाम का पता नहीं मिलता और न ही इस सामग्री के रचनाकाल की जानकारी है। लेकिन पुस्तक के रूप को देखकर लगता है कि यह 18वीं शताब्दी की रचना हो सकती है। क्योंकि इसमें फैजी की 'नलोदमन' का नाम भी दर्ज है। पुस्तक के अंत में कुछ शेर और रूबाइयां दी गई हैं। इसमें अब्दुल जलील बिलगरामी के रिसाले 'दर्शन उल सपनपरी पैकर' को भी नकल किया गया है। जो उर्दू फारसी की गद्य रचना है और इस प्रकार

आरंभ होती है-

शबे दर दर्शन उल सपन परी पैकर-ए
नवेली अलजोबन रा दीदम।

मीर अब्दुल जलील बिलगरामी का निधन 1725-26 ई. में हुआ था। 'दर्शन उल सपनपरी पैकर' के बाद कुछ हिंदी कविताएं हैं और हिंदी राग-रागनियों की सूची है।

उसूलउल नग़मात अल आसफिया

नवाब आसफुद्दौला के जमाने में भारतीय संगीत पर यह पुस्तक फारसी भाषा में लिखी गई थी।

तौहफतुल हिंद

अकबर शाह सानी के युग में मिर्जा खां नामक एक बुजुर्ग ने पंडितों और संस्कृत के विद्वानों की सहायता से इस पुस्तक की रचना की थी। इस पुस्तक में अनेक भारतीय कलाओं का संग्रह है। जैसे ज्योतिष, सामुद्रिक, कोक, नायिका भेद और इंद्रजाल आदि पर चर्चा की गई है। इसके साथ-साथ भारतीय संगीत का भी विवेचन किया गया है।

मुबारकुल्मुल्क सर बुलंद खां की एक कृति

मुहम्मद अली खां ने लिखा है कि मुबारकुल्मुल्क सरबुलंद खां ने 'ध्रुपद, तराना व ख्याल' नामक एक पुस्तक की रचना की थी। और इसमें मुहम्मद शाह के नाम का विशेष उल्लेख किया था।

तुहफ्तुल हिंद

मिर्जा फखरूद्दीन मुहम्मद ने औरंगजेब के जमाने में शहजादा जहांदार शाह के लिए 'तुहफतुल हिंद' नामक पुस्तक लिखी थी। इसमें संगीत पर एक स्वतंत्र अध्याय दिया गया है।

तज़्किरा मुशाहीर आलम

1218 हिज्री (1803-4 ई.) में लिखी गई इस पुस्तक में भारत के प्रसिद्ध गायकों और उनके आश्रयदाताओं का विवरण दिया गया है। जैसे कि नायक बख्श ग्वालियर के राजा मानसिंह के दरबार से संबद्ध था। बाद में उसका बेटा राजा विक्रमादित्य के दरबार से जुड़ा। इसके बाद कालिंजर के राजा के यहां नौकरी करने लगा। फिर कुछ दिनों

सुलतान बहादुर गुजराती के यहां भी नौकर रहा। उसने नायकी कल्याण नामक नए राग की रचना की थी।

बैजू नायक, बहादुर शाह गुजराती के दरबार से जुड़ा था। गुजरात पर हुमायूं के अधिकार के बाद कैदियों के साथ उसे भी पकड़ लिया गया। बाद में उसे आज़ाद कर दिया गया। वह दुबारा बहादुर शाह गुजराती के यहां चला गया।

नायक गोपाल भी बहादुर शाह गुजराती के दरबार से जुड़ा था। संगीत के क्षेत्र में वह बैजू नामक संगीतज्ञ से आगे था। बाबा रामदास वैरागी और नायक धौंधू दोनों हुमायूं के शासन काल में ब्रज क्षेत्र में रहते थे। उन्होंने तानसेन से संगीत सीखा था। शेख शेर मुहम्मद और शेख़ कबीर आगरा के निवासी थे। ये शाहजहां के शासनकाल के अंतिम दौर में हुए थे। शेख पीर मुहम्मद के पोते शेख मुईनउद्दीन ख्याल गायकी में अच्छा मुकाम रखते थे। नैमत खां बीन वादक थे और सुबहान खां फीरोज खां ध्रुपद और तराना के मशहूर गवैये थे। सुबहान खां ने सुल्तान हुसैन शिर्की द्वारा आविष्कृत राग में संशोधन किया था। और उसका नाम जौनपुरी तोड़ी रखा था। वह जहांदार शाहं का दरबारी था।

इस अध्याय से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मुसलमानों ने न केवल भारतीय संगीत को सीखा था बल्कि उसे उन्नति के शिखर तक पहुंचाने के समर्पित प्रयास किये थे। वर्तमान समय में मुसलमान संगीतकार इस परंपरा को समृद्ध कर रहे हैं। भविष्य में भी उनकी यही भूमिका रहेगी। क्योंकि कोई भी कला सांप्रदायिक भेद-भाव को स्वीकार नहीं करती। कला सिर्फ कला की हैसियत रखती है और हर संवेदनशील व्यक्ति कला को सांप्रदायिक विभाजन और भेदभाव की सतह से ऊपर उठकर अपनाता है।

1. ब्रह्मज्ञान का चमत्कार गृह या जादू घर
2. बादशाहों का विश्राम कक्ष
3. अकबर के समय की राजधानी
4. आईन-ए-अकबरी (अलिफ, ते)2:पेज 215-221
5. इस साज़ की ईजाद और बनावट के बारे में मिर्ज़ा क़तील ने लिखा है-''हिन्दुस्तान का एक पुराना साज़ है। यह साज़ इस तरह बनाया जाता है कि सूखे दो गोल कद्दुओं में दो तरफ छेद करके उनमें एक लकड़ी जोड़ते हैं और इस लकड़ी के उस सिरे से इस सिरे तक लोहे के तार बांधकर बजाते हैं। मशहूर है कि यह साज महादेव ने ईजाद किया था। और उनसे अच्छा आज तक किसी ने भी नहीं बजाया।'' —हफ़्त-तमाशा-8

और भी देखिए वक़ाए अब्दुल क़ादर ख़ानी (अलिफ ब्रे) 1:3-8
तसहील-उल-सितार:मिर्ज़ा रहीम बेग (नवल किशोर, 1914)
गुज़िश्ता लखनऊ, पृष्ठ 207

6. मुरली की बनावट के बारे में मिर्ज़ा क़तील ने लिखा है-बांस का एक टुकड़ा होता है जिसमें सुराख करके उसे बजाते हैं। इसकी आवाज़ बहुत मीठी होती है। कन्हैया इस साज़ को खूब बजाते थे। –हफ़्त तमाशा, 14
7. आईन-ए-अकबरी। और भी देखिए-गुज़िश्ता लखनऊ, 207-208
8. मुहम्मद शाह बादशाह के दौर के मियां सारंग ने सारंगी ईजाद की थी। गुज़िश्ता लखनऊ, पृष्ठ 207
9. इस शेर में नौ रागों के नाम दिए हैं।
10. ऐज़ाज खुसरवी-रिसाला सानी पृष्ठ 275-291
11. वे निज़ी महफ़िले जिनमें गवैये और नाचनेवालियां आश्रय पाते थे।
12. तारीख़-ए-शाही पृष्ठ-48
13. नमाज़ पढ़ने की चटाइयां
14. आईन-ए-अकबरी (अलिफ ते) 2-पृष्ठ 277
15. रात की नमाज़
16. अंतपुर
17. मालूमात-ए-अफ़ाक़-पृष्ठ 188-189
18. मुंतखिब-उल-लब्राब (फ़ारसी) 2-पृष्ठ 689
19. मुसलमान मुंसिफ़ जो शरअ के हिसाब से फ़ैसला करे।
20. मातम पढ़ने वाले
21. विस्तार के लिए देखिए आईन-ए-अकबरी-पृष्ठ 224-25
22. आईन-ए-अकबरी-(अलिफ ते,2) पृष्ठ 539-540
23. शाकिर नाजी ने नैमत खां की तारीफ में एक मुखम्मस लिखा है जिसमें इसकी कला के जादू का वर्णन किया गया है। देखिए, दीवान-ए-शाकिर नाजी, पृष्ठ 322-323
24. मुरक़्क़ा-ए-देहली पृष्ठ 68-69
25. वही -पृष्ठ 69
26. अमरद उस किशोर लड़के को कहते हैं जिसके दाढ़ी मूंछें न आई हों।
27. तोदी अर्थात् तोडी राग। सवत का शब्दार्थ 'स्वर' है यह भी एक राग है।
28. खजाना ए-आमरा, पृष्ठ 422
29. पूर्ववत
30. दफ़ाए अब्दुल कादर खानी, पृष्ठ 309

दसवां अध्याय

उर्दू साहित्य में भारतीय तत्व

मुसलमानों के भारत आगमन के आरंभिक दौर में देश के भाषाई स्वरूप का अध्ययन करते हुए अमीर खुसरो ने बताया है कि उस समय लाहौरी, कश्मीरी, डोगरी, गुजराती, मावरी, गौडी (लखनवी), बंगाली, अवधी, देहलवी और संस्कृत आदि क्षेत्रीय भाषाएं अपनी पहचान रखती थीं। बाहर से आने वाले मुसलमानों की मातृभाषा फारसी थी या अरबी या तुर्की। इस कारण यह स्वाभाविक था कि एक ऐसी भाषा अस्तित्व में आए जो शासक और शासितों के बीच वैचारिक आदान-प्रदान और भावनात्मक एकता का माध्यम बन सके। दूसरे शब्दों में जिस भाषा के माध्यम से हिंदू और मुसलमान एक दूसरे को समझ सकें। अतएव धीरे-धीरे एक ऐसी भाषा अस्तित्व में आ गई जो पहले हिंदवी, फिर रेख्ता और अंत में उर्दू कहलाई। यह भाषा वास्तव में भारत की क्षेत्रीय भाषाओं तथा अरबी, फारसी और तुर्की की शब्द-संपदा के मेलजोल से अस्तित्व में आई। इस संबंध में सैयद अहमत अली 'यक्ता' ने कहा है:

"हिंदी भाषा का संबंध हिंदुस्तान के बाशिंदों से हैं। हिंदुस्तान एक बड़ा मुल्क है। पूर्व से लेकर पश्चिम तक अपनी चौड़ाई में ढाका से कंधार तक फैला हुआ है। इसलिए कश्मीर भी इन्हीं हदों में आ जाता है। इस मुल्क में सूबों और जातियों की विविधता के कारण अनेक जुबानें बोली जाती हैं। इस वजह से हर सूबे के लहजे और मुहावरे में अंतर आ जाता है। इनमें से हर इलाके की जुबान दूसरे इलाके में 'भाखा' कहलाती है। लिहाजा बंगाल की जबान को बंगाली, पंजाब के निवासियों की भाषा को पंजाबी और दक्कन के लोगों की भाषा को दक्कनी कहते हैं। उर्दू वह जबान कहलाती है जो दिल्ली के आस-पड़ोस की पंजाबी, मेवाती और ब्रजी तथा अरबी, फारसी व इनसे मिलती-जुलती भाषाओं के समन्वय से अस्तित्व में आई। हिंदुस्तान की विभिन्न जबानों की विशेषताएं उर्दू ज़बान में पाई जाती है।"

इसी प्रकार 'इंशा' ने लिखा है कि अच्छी भाषा बोलने के शौकीन दिल्ली के

लोगों ने अनेक भाषाओं से सुंदर-सुंदर शब्दों का चयन किया और अन्य भाषाओं से अलग एक नई भाषा को गढा, जिसका नाम उर्दू था। उर्दू भाषा कई भाषाओं से मिलकर बनी है जैसे अरबी, फारसी, तुर्की, पंजाबी और ब्रजभाषा आदि। 'इंशा' ने एक गद्यांश को उद्धृत करके उन भाषाओं की पहचान की है जिनके शब्द और मुहावरों से उर्दू का निर्माण हुआ है।

आरंभ में यह भाषा केवल वार्तालाप के काम आती रही। धीरे-धीरे जब इसमें क्षेत्रीय साहित्य की रचना भी होने लगी तो इससे राष्ट्रीय और साहित्यिक भाषा का रूप ले लिया। अब इसमें स्थानीय बिंब, प्रतीक और उपमाओं का समावेश भी होने लगा। यहां के काव्य-विषयों को भी अपना लिया गया। यही कारण है कि आरंभिक दौर के साहित्य में, जो कि अधिकांश नज़्म में लिखा गया, अध्यात्म के विषय की गहरी छाप है। पहली पंक्ति के शायरों के कलाम को ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि उसमें क्षेत्रीय भाषाओं के मुहावरे और गठन की झलक मिलती है। साथ ही उनके अप्रस्तुत विधान का भी भरपूर प्रयोग मिलता है।

उर्दू शायरी का आरंभ दक्कन में बीजापुर और गोलकुंडा के सुलतानों के संरक्षण में हुआ। इन शायरों में मीरान ज़ी शम्सुलउश्शाक, शाह बुरहानुद्दीन 'जानम', सैयद मीरान हाशमी, मुहम्मद नुसरत 'नुसरती', मुहम्मद क़ुली क़ुतबशाह 'मानी', वजही हसन शौकी, अब्दुल्ला क़ुतबशाह, अब्दुल्ला ग़वासी, इबने निशाती, अबुल हसन 'तानाशाह', क़ाजी मेहमूद, सजरी, अशरफ और 'वली' के नाम बहुत महत्वपूर्ण हैं। 'वली' को घुमक्कड़ी से बड़ी दिलचस्पी थी। अतएव वे दो बार दिल्ली आए। कुछ वृत्तांतकारों का मत है कि पहली बार वे औरंगजेब के शासन काल में आए और शाह गुलशन की सेवा में हाजिर हुए और अपने कुछ शेर सुनाए। इस पर शाह गुलशन ने वली से कहा:-

''तुम्हारे फारसी शेरों में जो भाव हैं, उन्हें रेख्ता में ढाल दो। तुम्हारी कौन पूछताछ करेगा।''

इस प्रेरणा से वली ने रेख्ता में शेर कहने की कोशिश की और उन्हें इसमें बड़ी हद तक सफलता मिली। इसके बाद वली 1721 या 1722 ई. में दुबारा दिल्ली आए। और इस बार अपना दीवान भी साथ लाए। जब उनके कलाम की चर्चा हुई और साहित्यिक गोष्ठियों में उसे पढ़ा गया तो देखते ही देखते दिल्ली में अनेक विलक्षण शायर पैदा हो गए। उर्दू शायरी ने धीरे-धीरे फ़ारसी का स्थान ले लिया। 'मीर' भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उन्होंने रेख्तागोई वली के नक़्शेकदम पर चल कर अपनाई थी। कहते हैं:

खूगर नहीं हम यूं ही, कुछ रेख्तागोई के

माशूक जो अपना था बाशिंदा दक्कन का था।
'मुसहफ़ी' कहते हैं
रेख्तागोई की बुनियाद 'वली' ने डाली
बाद अजां खलक को मिर्ज़ा है और मीर से फ़ैज़

लेकिन खान आरजू और मिर्ज़ा मजहर जान जानां जैसे प्रतिष्ठित शायर अब भी उर्दू को सशक्त भाषा नहीं मानते थे और फारसी को ही उपयुक्त काव्य-भाषा स्वीकार करते थे।

कायम चांदपुरी ने भी अपने एक शेर में यह बात कही है कि रेख्ता में अभिव्यक्ति की सामर्थ्य नहीं थी। लेकिन दिल्ली के मुशायरों ने इस भाषा को लोकप्रिय बना दिया।

'कायम', मैं ग़ज़ल तौर क्या, रेख्ता वरना
एक बात लचर सी बज़बाने दकनी में।

स्थानीय प्रभाव के कारण इस युग के बड़े शायरों के कलाम में शाब्दिक चमत्कार का रंग पैदा हो गया। नमूने के तौर पर 'आबरू' की एक ग़ज़ल पेश की जाती है-

इश्क में हिंदू तुर्क का कुछ नहीं है ब्योड़ा
यहां मू निदाएं सदा क्या आज़ाद हो ख्वाह स्योड़ा
क्योंकि अब रम कर सकोगो हम से तुम ऐ मन हिरन
अब तो हम नैन सितम सेती बांधा है अपना जीवड़ा
आस मन की पूजता है खाल तुझ अबरू में बैठ
इस स्या काफिर नैन मस्जिद कूं क्या ड्योड़ा
तुज गली कूं ले चली है अश्क अंखियां से निगाह
जिस तरह नलवे कूं ले जाता है कोई बेवड़ा।
'आबरू' जब वस्फ़ तेरे खल्क खूबी को लिखे
तब सफ़ बर्गे-सुखन हो जा कलम हो केवड़ा।

स्वयं शाह हातिम ने स्वीकार किया है कि अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हिंदी का प्रभाव बना रहा। उन्होंने अपने संग्रह से उन शेरों को निकाल दिया जिनमें शाब्दिक चमत्कार था, और एक नया दीवान तैयार किया। उसका नाम 'दीवानज़ादा' रखा। इस सिलसिले में शाह हातिम ने 'आबरू' के एक कथन का उल्लेख भी किया है:

वक्त जिनका रेख्ते की शायरी में सर्फ़ है
ओन सती कहता हूं, बोझो हर्फ मेरा ज़र्फ़ है
वो जो लावे रेख्ते में फारसी के फ़ैल ओ-हर्फ
लग्व हैंगे फैल, उसके रेख्ते में हर्फ है।

कुछ समय बाद आम लोगों और शायरों में चमत्कारवाद से ऊब पैदा हो गई। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि इस चमत्कार के कारण श्रोतागण शायरी का आनंद नहीं उठा पाते थे। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि मिर्ज़ा मज़हर जान जानां, शाह हातिम, मीर, सौदा और ख्वाज़ा मीर दर्द ने हिंदी के क्लिष्ट और बोझल शब्दों को बाहर निकालना शुरू कर दिया और इनके स्थान पर फारसी की आम फहम तरकीबें और प्रतीक प्रयोग में लाने लगे।

इसका नतीजा यह हुआ कि शाह मुबारक, आबरू, मुहम्मद शाकिर नाजी, अशरफ अली खां, पयाम, गुलाम मुस्तफा खां 'यकरंग' के साथ-साथ मध्यम श्रेणी के शायरों में भी आलंकारिकता को नापसंद किया जाने लगा। इस दौर के शायरों ने हिंदी के क्लिष्ट और बोझल शब्दों को निकाल कर भाषा को सरस और स्निग्ध बनाया। जिससे इस भाषा में शायरी करना 'फ़न-ए-शरीफ' समझा जाने लगा। मीर, मीरज़ा, मीरहसन देहलवी, ख्वाजा मीर दर्द, मुसहफ़ी कायम और जुरअत ने रेख्ता ज़बान (उर्दू) के रूप को निखारने और उसे विकास की मंजिलों पर आगे बढ़ाने की दिशा में सराहनीय प्रयास किए उन्होंने अपने शेरों में भी अपने इस प्रयासों का उल्लेख किया है:

दिल किस तरह न खींचे अशआर रेख्ता के
बेहतर किया है मैंने इस ऐब को हुनर से।

-मीर

'मुसहफ़ी' दूं मैं जहां रेख्तागोई को रिवाज
कद्र शीराज़ी को वहां न सफ़ा हाती की।

-मुसहफ़ी

मीर-ओ सौदा ओ हसन, मुसहफी, दर्द ओ 'कायम'
रेख्तागोई में बेशक ये नमूदार हैं सब
लेकिन उस्तादी में जुरअत की कहूं क्या 'महजूर'
कुछ अजब तर्ज़ के दीवान में अशआर हैं सब।

-महजूर

आलंकारिकता अर्थात् रीतिवाद से मुक्ति पाने के बाद उर्दू शायरी को काफी लोकप्रियता मिली। यह भाषा हर प्रकार के मानवीय भावों को व्यक्त करने में सक्षम हुई। यही कारण है कि अठारहवीं सदी में सैकड़ों शायर उभर कर सामने आए और फ़ारसी का चलन खत्म हो गया। वैसे भी फारसी जन भाषा नहीं थी, यह केवल शिक्षित मध्यवर्ग की भाषा थी। इस युग के फ़ारसी शायरों ने फारसी के ज़वाल (अपकर्ष) का ज़िक्र किया है। मिसाल के तौर शाकिर नाजी कहते हैं:

बुलंदी सुनके नाजी रेख्ते की

हुआ है पस्त शुहरा फ़ारसी का।

हज़रत शाह मुराद ने भाषा की लोकप्रियता पर एक कसीदा लिखा है और यह भी बताया है कि इस भाषा ने फ़ारसी को अपदस्थ कर दिया है। फारसी भाषा फीकी पड़ गई है और उसका बाज़ार सर्द हो गया है:

वो उर्दू क्या है ये हिंदी की जबां है
कि जिसका कायल अब सारा जहां है
कलाम अब तुझसे, में हिंदी जबां में
करूं, शोहरत हो ता सारे जहां में
कि अब वुसाअत[1] में उसकी सब सुखनदां[2]
समंदे-तबा[3] को करते हैं जूलां
लताफत ये निकाली है इसी में
कि फ़रमाते नहीं कुछ फ़ारसी में
इसी का शुहरा[4] अब हो जाए सब तक
यहां से ता बईरां, बल अरब तक।

-शाकिर नाजी

'क़ायम' जो कहे हैं फारसी यार
इससे तो ये रेख्ता बेहतर है।

-'क़ायम'

है वो जबान हज़रत-ए-देहली की इन दिनों
दो चार शेर पहुंचें अगर इस्फ़हान में
कुर्बान रूम बाईं सुख़न-ए-नग्ज़े दोस्तां
साइब[5] सा खुश जबां कहे अपनी ज़बान में।

-क़ासिम

फ़ारसी अब हो गई है नंग[6] इसकी इस तरह
फ़ारसी का नंग था जैसे क़ुरान-ए-रेख़्ता
चांद तारे का दुपट्टा मैं दिया उसको पिन्हा
वरना इस ज़ीनत से कब था आसमान-ए-रेख़्ता
रफ्ता-रफ्ता हां उसका और आलम हो गया
नज़्म से अपना गिरा नज़्म-ए-बयान-ए रेख़्ता
'मुसहफ़ी' फ़ारसी को ताक़ पे रख
अब अशआर-ए-हिंदी का रिवाज।

-मुसहफ़ी

दिल को खूबां से मगर रेख़्ते कह कह के 'नज़ीर'
कोई दिन हमने भी खूब समां बांधा था

–नज़ीर

फ़ारसी का रिवाज उठने और उर्दू शायरी के शुरू होने का एक यह भी नतीजा निकला कि हर वर्ग और व्यवसाय के लोगों ने शायरी अख्तियार कर ली। मिसाल के लिए 'आसी' तारीख़, शमशीरशनासी और दास्तानगोई में उस्ताद था। प्रेमनाथ ख़त्तास[7] था। 'आगाह' एक प्रसिद्ध किस्सा कहने वाला था। मीर शेर अली 'अफ़सोस' तोपखानों में दारोग़ा था। 'हशमत' एक सिपाही था। 'सज्जाद' एक लतीफा गो और 'शौक़' सिपाही था। 'फुगां' लतीफ़े और हास्य-व्यंग्य लिखता था। 'गिर्यां' भी एक सिपाही था। इन शायरों ने अपने विशिष्ट अनुभवों को शायरी में अभिव्यक्ति दी। इसमें क्षेत्रीय विषयों का समावेश किया। उस दौर के प्रतिष्ठित शायरों ने इस बात पर आपत्ति व्यक्त की है। जाफ़र अली 'हसरत' ने देहली की शायरी के प्रतिमानों के पतन का मर्सिया लिखा है। इसी प्रकार 'जुरअत' ने भी अपने मुखम्मस 'दर हिजू नो' और मुसहफी ने मार्का-ए-इंशा वाले शेरों में शायरी के गिरते हुए स्तर को लेकर चिंता व्यक्त की है। इस संदर्भ में महमूद ख़ां शीरानी का कथन उल्लेखनीय है:

"दरअसल उर्दू शायरी फ़ारसी का नया और अधिक ग्राह्य रूप है। इसमें फ़ारसी के रचना-नियमों को स्वीकार कर लिया गया है। वही रदीफ, वही क़ाफिया की पाबंदी, वही ख्याल, वही बिंब, प्रतीक, अलंकार आदि। लेकिन पंजाब की नज़्मों में कई चीजें अलग हैं। पहले तो इनमें ज़्यादातर क्षेत्रीय भाषा की बहरें हैं...दूसरे हालांकि इनमें रदीफ़ की पाबंदी की जाती हैं लेकिन क़ाफिये को इतनी अहमियत नहीं दी जाती है। फिर वह भाव-पक्ष की दृष्टि से फ़ारसी से भिन्न है। हिंदी में प्रेमी (आशिक़) अक्सर स्त्री होती है। इन नज़्मों में भी यही विशेषता मिलती है। ये फ़ारसी के भाषिक प्रयोगों और अलंकार आदि से मुक्त हैं। इस शायरी में शब्द-सौंदर्य पर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया गया है।"

हज़रत गुलाम क़ादिर शाह (निधन 1761 ई.) की मनवी 'रम्जुलआशिक़ीन' का वज़न हिंदी छंदों पर आधारित है। कुल मिलाकर उर्दू शायरी भारत के परिवेश में जन्मी और विकसित हुई और बहुत गहरे में उससे प्रभावित हुई। भारतीय जीवन से जुड़े हुए विषयों को व्यक्त करने के लिए हिंदी और संस्कृत से अनेक विधाएं ग्रहण कर लीं। उदाहरण के लिए नख-शिख वर्णन हिंदी-संस्कृत से ही लिया गया। फ़ारसी में प्रिय (महबूब) पुरुष के रूप में होता था, इसलिए वहां नख-शिख के लिए उतनी गुंजायश नहीं थी। इसके विपरीत भारतीय कविता में प्रेम का आलंबन स्त्री थी इसलिए नख-शिख वर्णन के लिए एक विस्तृत मैदान मिल गया। उर्दू शायरी में नख-शिख वर्णन की

कई मिसालें मिलती हैं। नख-शिख वर्णन का ग़ज़ल पर कितना प्रभाव था, यह जानने के लिए मुहसिन अली 'मुहसिन' लखनवी का 'तज़्किरा सरापा सुखन' देखना काफी होगा। इसमें लेखक ने उर्दू शायरों की ग़ज़लों को नख शिख वर्णन के क्रमानुसार व्यवस्था दी है। ज्यादा उदाहरण देना अनावश्यक होगा, सिर्फ़ एक शायर 'फ़ायज़' देहलवी के कुछ शेर पेश किए जाते हैं।

'दरवस्फ दरगाह कुतब साहब' में 'फ़ायज़' ने एक भंगेड़न का रूप चित्रण इस प्रकार किया है है:

एक देखी भंगेड़न दिलरूबा
मन हिरन, कंचन बरन, हूर-ए-लक़ा
अपछरा इंदर की सूं थी खूबतर
हुस्न उसका था परी सूं बेशतर
दो भवां तेगे जुनूबी सती दराज
होते सद महमूद दुरमुख देख अयाज़
थीं उनींदी आंखें उसकी दिलफ़रेब
जिसके देखे दिल से जाता था शकेब[8]
नाक उसकी थी कली सूं खूबतर
साफ दरपन सूं था दुर मुख बेशतर
दो अधर थे उसके ज्यूं याकूत लाल
दांत उसके थे बसी दर्र-ए-यतीम
लाल गिरते बात में दो लब दो नीम।

शाह हातिम ने प्रेयसी के शरीर के तेईस अवयवों की प्रशंसा की है। असर देहलवी ने अपनी 'ख्वाबो ख्याल' मस्नवी में प्रिय का समग्र नख शिख वर्णन किया है। मीर हसन देहलवी ने मस्नवी 'बद्र-ए-मुनीर' और मुसहफ़ी ने मस्नवी 'जज़्बा-ए-इश्क' में जौहरी की बीबी का नख-शिख चित्र खींचा है। इसी प्रकार 'इंशा' ने मस्नवी 'दर तमहीद शिकस्ते-ज़माना' में तथा जुरअत ने मस्नवी 'दौर वस्फ़ सरापा-ए-इश्क़' में इस परंपरा का पालन किया है। कुदरत उल्लाह 'कासिम' ने अपनी एक मस्नवी के 145 शेरों में नायिका के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन किया है। 'रंगीन' की मस्नवी 'साकीनामा' भी ऐसी ही रचना है। वाजिद अली शाह 'अख्तर' ने अपनी मस्नवी 'ग़न्ना' में ग़न्ना नामक तवायफ़ के हुस्न की तारीफ की है। नवाब मिर्ज़ा 'शौक' की 'बहारे इश्क' का भी यही हाल है। 'इंशा' ने एक रचना में रंडी का चरित्र-चित्रण किया है। यह अश्लीलता की हद तक पहुंच गया है। इनके अतिरिक्त 'इश्क राजा व चोरी', 'कारस्ताने उल्फ़त', 'हुस्नोइश्क़' और ख्वाजा हसन बख्शी 'रासिख़' की मस्नवी

'गंजीना-ए-हुस्न' को नख-शिख वर्णन के उदाहरणों के रूप में रखा जा सकता है।

इन मस्नवियों का केंद्रीय भाव विछोह की पीड़ा है। जैसे मीर हसन ने प्रिय के विछोह में बद्र मुनीर की दशा का जो वर्णन किया है उसे हिंदी कविता में विरह वर्णन कहा जाता है। ब्रज भाषा में गोपियों की विरह वेदना को इसी रूप में अभिव्यक्ति दी गई है। हिंदी में विरह वर्णन, बारह मासा के रूप में किया जाता था। जायसी का 'पद्मावत' इसका उदाहरण है। इससे उर्दू में बारहमासे का रिवाज हो गया। इसकी विशद चर्चा बाद में की जाएगी। मस्नवी 'बद्र-ए-मुनीर' का एक अंश देखिए:

गए इस पे दिन जब कई और भी
बिगड़ने लगे फिर तो कुछ तौर भी
दिवानी-सी हर तरफ फिरने लगी
दरख्तों में जा-जा के गिरने लगी
ठहरने लगा जान में इज्तिराब[9]
लगी देखने वहशत आलूदा ख्वाब[10]
तप-ए-हिज्र घर में करने लगी
दुरे अश्क से चश्म भरने लगी
खफा जिंदगी से वो होने लगी
बहाने से जा-जा के सोने लगी
तप-ए-गम की शिदद्त से फिर कांप-कांप
अकेली लगी रोने मुंह ढांप-ढांप

जोगन और पनिहारिन का नख-शिख
मीर हसन देहलवी:

पहन सेल और गेरूआ ओढ़ खेस
चली बन के सेहरा को जोगन का भेस
कई सेर मोती जला राख कर
भ़भूत अपने तन पर मला सरबसर
पहन एक लहंगा ज़री बाफ का
वो पर्दा-सा कर इस तने-साफ का।

फ़ायज़ देहलवी ने 'तारीफ-ए-जोगन' के शीर्षक से एक नज़्म लिखी है। इसमें बनारस की किसी जोगन के नख-शिख सौंदर्य का चित्रण किया गया है:-

तन चढ़ा राख गल में लट सेली
क़मरी इस सर्व की है इक चेली

मोर इस दाग़ का पहन कंठा
नटवा इस बज़्म का है कनबंटा
कोयल इस इश्क़ पेच से बैराग
लोक सिंगी बजा के गाती राग।

'यकरू'

जोगी का भेस बनकर दासन की भीक कारन
पग में पड़े हैं छाले, वर में मिरग-छाला।

'मुसहफी'

क्या है खुशहाल उन्होंने का जो तिरे कूचे में
खाक पंडे पे मले बैठे हैं आसन मारे।

नज़ीर अकबराबादी ने जोगन के नखशिख और जोग की विशेषताओं पर एक पूरी नज़्म लिखी है। एक कत्आ पेश है:

जाके मथुरा में रही और बड़ा पूजा तुझको
काशी में बैठ रही, लेक न पाया तुझको
गंगा और जमना के तीरथ पे भी मांगा तुझको
कौन-सी जा थी कि जिस जा पे न ढूंढा तुझको
पूरब ओ-पश्चिम ओ उत्तर से लगा ता ब दकन

पनघट

फ़ायज़ देहलवी ने पनघट से संबंधित एक नज़्म में स्त्रियों के नखशिख का वर्णन किया है। मुसलमान औरतें क्योंकि पर्दे में रहती थीं इसलिए उनके संपूर्ण शारीरिक अवयवों को शायरी का विषय बनाना संभव न था। अलबत्ता लखनऊ के शायरों ने मुसलमान औरतों के सिर से पांव तक का चित्र खींचा है। क्योंकि फ़ैज़ाबाद और लखनऊ के वैभवशाली और वासनाप्रिय परिवेश में औरतों को समीप से देखने और उनके अंग प्रत्यंगों का अवलोकन करने के बहुत अवसर मौजूद थे। लेकिन सच्चाई यह है कि अग्रणी शायरों में केवल हिंदू स्त्रियों के नख-शिख की प्रवृत्ति मिलती है। हालांकि हिंदू स्त्रियों में भी पर्दा था। लेकिन इसके बावजूद उन्हें घर से निकलने के बहुत अवसर मिल जाते थे। जैसे गंगा स्नान, तीज, राखी, मेले-ठेले आदि। इसके अलावा पनघट भी शायरों का एक प्रिय विषय बन गया। इसलिए देहातों में आज भी पनघट पर स्त्रियों की भीड़ होती है और वह एक बहुत मनोरंजक और चित्ताकर्षक दृश्य होता है।

'सौदा' ने अपनी एक नज़्म में दिल्ली के आसपास के देहातों में पनघट के दृश्य का चित्रण किया है:

रखे थे सैन को पनघट के गिर्द के देहात
कि लब जहां के थे पनिहारियों के आबेहयात
और इन दरख्तों की वे छांव दे घने से पात
न वे दरख्त हैं अब वां न आदमी की जात।
कुएं में मुर्दे पड़े हैं, न रेसमां है न डोल।

तम्बोलन

पान भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। त्यौहार, उत्सव या किसी भी सामाजिक अनुष्ठान के अवसर पर पान द्वारा ही अतिथि सत्कार किया जाता था। बाजारों में पनवाड़ियों की दुकानें होती थीं। 'फ़ाइज' ने 'तारीफ़-ए-तांबूल' के शीर्षक से एक नज़्म लिखी है।

क़ज़लबाश ख़ां 'उम्मीद' ने अपने कुछ शेरों में एक ब्राह्मण युवती का नखशिख वर्णन किया है।

निगमबोध स्नान

'सुबह बनारस' प्रसिद्ध है। यहां हिंदू प्रात: काल गंगा स्नान करते हैं और सड़कों पर लोगों के झुंड के झुंड गंगा की ओर जाते हुए देखे जा सकते हैं। यह दृश्य बड़ा अच्छा लगता है। इसी प्रकार दिल्ली और आगरा में भी स्त्री-पुरुष सभी यमुना में स्नान के लिए जाते हैं। यमुना के घाटों पर एक विचित्र और मनोहारी दृश्य उपस्थित हो जाता था। यहां आध्यात्मिकता और श्रृंगार का मिला-जुला रूप देखा जा सकता था। हमारे शायर भी इन दृश्यों से प्रभावित हुए और उन्होंने स्नान करती हुई नवयुवतियों के चित्र अपनी शायरी में खींच दिए। 'फ़ायज़' देहलवी ने इस विषय पर एक पूरी नज़्म लिख दी:

खड़े घाट पर हैं बसी सीमबर
ख़ज़ल[11] उनके मुख से सूरज और चंदर
परी सी नज़र में हैं खत्रानियां
सवाहत[12] के अक्लीम[13] की दानियां
है इंदर की मानो सभा जलवागर
कि हर नार दसती है रम्मा सूं बर
कमर पर जो पड़े हैं सब मू-ए-सर[14]

उनां बीच मिल जाए मू-ए-कमर
दो मुर्गाबियां-सी किलोलियां करें
मिला आपस में हंस-हंस ठिठोलियां करें।

मुसहफ़ी के यहां दिल्ली के निगमबोध घाट पर यमुना स्नान के मेले में मेवाती औरतों की भीड़ और कटरा नील की खत्रानियों का जिक्र मिलता है।

तख्ता-ए-आब ए चमन क्यों न नजर आए सपाट
याद आए मुझे जिस दम वो निगमबोध का घाट
दिल्ली की आरजू में है मैं रोता हूं 'मुसहफ़ी'
याद आए है वो मुझको निगमबोध का घाट[15]

बारहमासा

उर्दू, पंजाबी और हिंदी में बारहमासे की परंपरा पाई जाती थी। यह कहना मुश्किल है कि यह विधा कब अस्तित्व में आई। हिंदी में सबसे प्राचीन बारहमासा कबीरदास का बताया जाता है। हिंदी के बाहरमासों में प्राय: विरहिणी की मनोदशा का चित्रण किया जाता है। वह स्वयं अपनी व्यथा-कथा को बड़े मार्मिक ढंग से सुनाती है। ख्वाजा सईद मसूद सलमान ने एक प्रशंसा-परक बारहमासा लिखा है और हर माह के ऋतु-सौंदर्य का चित्रण किया है। उन्होंने इस रचना में शाह अर्सलान बिन मसूद (निधन 512 हिज्री) की प्रशंसा की है। हर महीने की ग़ज़ल की बहर भिन्न है। हिंदी कविता में विरह वर्णन की परंपरा बहुत पहले से रही है, इससे अनुमान होता है कि उर्दू शायरी में यह प्रवृत्ति हिंदी के प्रभाव के कारण आई है।

मुहम्मद अफज़ल झिंझानवी (या पानीपती) ने 'विकट कहानी' नाम से एक कबारहमासा लिखा है। जिसमें एक प्रोषित पतिका नायिका वर्ष के प्रत्येक माह की ऋतु के आधार पर अपनी विरह वेदना को व्यक्त करती है। इसकी भाषा दक्कनी से अलग और साफ सुथरी है। मुहम्मद अफ़ज़ल की 'विकट कहानी' का हमने मस्नवियों के अंतर्गत जिक्र किया है। इसलिए हम यहां अन्य बारहमासों की चर्चा करेंगे।

नवल किशोर प्रेस से 'मज्मूआ-ए-बारहमासा' शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसमें बहाव, मकसूद, खैरा-शाह और वेणी-माधव के बारहमासे संगृहीत हैं। भारतीय संवत्सर का आरंभ चैत्र के महीने से होता है। लेकिन बारहमासों में यह क्रम बदला हुआ है। बारहमासा आषाढ़ से आरंभ होता है।

आषाढ़

लगा इंदर का तो बजने नक्कारा
करारो-होश बिरहमन का सिधारा।

श्रावण

सखी घर-घर में सजे झूले हिंडोले
विरहिनी रात दूं चक्की है डोले
सलोनों[16] खल्क[17] सारी सब मनाया
मिरा बालम न आया पर न आया।

कार्तिक

जो पहुंचा है दशहरा जग में आए
चलीं सखियां सभी तीरथ नहाए
सभी हंस खेल के पूजा चढ़ावा
दशहरे ने अधिक हमको रुआया
लगा कातक पवन रुत सर्दी आई
बनावें लोग सब तोशक रजाई
दीवाली का जला सब जगह दिया रे।
जिगर दागों से मैं रोशन किया रे
चलीं सखियां सभी गंगा नहाने
पिया के साथ रुत कातक मनाने।

माघ

न जानूं कौन-स दीसे भोले कन्हैया
कि नागर आए के पूजे बसंता
सभी हिल मिल सखी सब गीत गाएं
पिया संग फूल के गजरे बनावें
पड़ी हैंगी यहां धूम घर-घर
बसंती पोश हैं सब नारियों फिर
सखी बन-भन के निकलें अपने घर सूं
लिये हाथों में बाली फूल सरसों।

फागुन

सिंगार अभरण सहेलियों ने जो मनाए
मंजीरे, झांझ और मिरदंग बजाए
लगी गावें जो घर सब सहेलें
सजन के साथ होकर फाग खेलें।
पिया से फाग खेलें नारियां सब
उड़ावे रंग और पिचकारियां सब
कोई गावे सखी कोई बजावे
पिया बिन आह मुझको कुछ न भावे।

चैत्र

दिया बाम्हन को मैंने दान टीका
ग्रहण छूटा न मुझ बिरहन के जी का
मिला दे माबरे मेरा सिपाही
चढ़ाऊं कब्र पर तेरे सहाए
पिया अपने का दर्शन अब जो पाऊं
तेरी दरगाह पर चादर चढाऊं।

मुहम्मदशाह बादशाह हिंदी में कविताएं लिखता था और उसका लिखा हुआ एक बारहमासा भी पाया जाता है। बहादुरशाह ज़फ़र के कुल्लियात में भी बारहमासे पर नज़्म मिलती है, जिसके दो शेर हैं:

प्रेम अगन नित मोहे जलावे, या का भेद कहूं का से
पी-हो पास तो जी हो ठंडा अपनी बिपता कहूं वा से
मन के अंदर पिया कलंदर तेरे 'ज़फ़र' वो आन बसा
काम पड़ो जब वा सूं से था, ओ काम रहा क्या दुनिया से।

मेले-ठेले

उर्दू साहित्य में भारत के मेलों-ठेलों का वर्णन प्राप्त होता है। इनमें से कुछ मेले किसी वर्ग या जाति विशेष से संबद्ध थे, कुछ क्षेत्रीय मेले थे और कुछ मेले समूचे देश में आयोजित होते थे। इन मेलों में लोग बिना किसी धार्मिक भेदभाव या संकोच के भागीदारी करते थे। जनसामान्य दूर-दूर से इन मेलों में आते थे। कुछ मेले विशुद्ध रूप से धार्मिक थे और कुछ राष्ट्रीय महत्व रखते थे। कुछ का संबंध किसी ऐतिहासिक

घटना से था और कुछ किसी पीर या महात्मा की स्मृति में मनाए जाते थे। उत्तर भारत के हर क्षेत्र में क्षेत्रीय मेले आयोजित होते थे। लेकिन विशेष रूप से दिल्ली, आगरा और अवध-क्षेत्र इन मेलों के बड़े केंद्र थे। अठारहवीं शताब्दी के सामाजिक परिवेश की एक विशेषता यह भी थी कि इस ज़माने में बुजुर्ग सूफियों की मजारों पर उर्स के दौरान मेले लगते थे। जहां हाट करने वाले अपनी दुकानें लगाते और बाजीगर तथा खेल तमाशे वाले लोगों का मनोरंजन करते थे।

दिल्ली के मेले

दिल्ली के मेलों का वर्णन प्रायः फ़ारसी साहित्य में मिलता है। उर्दू साहित्य में यत्र-तत्र मेलों की चर्चा मिलती है। इसका कारण शायद यह रहा होगा कि मुहम्मदशाह के युग से दिल्ली में राजनीतिक अराजकता और आर्थिक संकट का दौर शुरू हो गया था। आए दिन अब्दाली, मराठों और जाटों के आक्रमण होते रहते थे। यहां के निवासियों को मानसिक शांति नसीब नहीं थी और यही वो जमाना है जब उर्दू शायरी परवान चढ़ रही थी। दिल्ली के अवाम राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के भंवर जाल में फंसे हुए थे। इसलिए न तो मेलों और मनोरंजन के लिए उनके पास अवकाश था, न खर्च करने के लिए पैसा था। और न ही उन्हें इन मेलों-ठेलों में आनंद की अनुभूति ही होती थी। दिल्ली में दीन के बुजुर्गों की मजारों पर उर्सों का आयोजन होता था और मेले भी लगते थे। अठारहवीं शताब्दी में मिर्जा बेदिल के उर्स का मजमा शायर और लेखकों की रुचि का विषय था और दिल्ली की आम जनता क़दम शरीफ़ के मेले में बड़े उत्साह के साथ शामिल हुआ करती थी। शायरों के यहां इन सामाजिक समागमों का जिक्र संकेतों में मिलता है। लेकिन नज़ीर अकबराबादी से पहले किसी ने ऐसे मेलों या समागमों को सीधे-सीधे अपनी शायरी का विषय नहीं बनाया। कारण यह है कि उस दौर के काव्य प्रतिमानों की कसौटी पर मेल-ठेले खरे नहीं उतरते थे। इन विषयों को शायरी की आत्मा के अनुरूप नहीं माना जाता था। फिर भी फ़ायज़ देहलवी की दीवान में एक संक्षिप्त मसनवी मेला बहतिया के नाम से मिलती है।

फ़ायज़ देहलवी की इस मसनवी के अवलोकन से पता चलता है कि यह मेला जिसे 'बहते' या 'भत्ते' का मेला कहा जाता था, लाल किले की पूर्वी दीवार के पार जमुना नदी के किनारे लगता था। मेले का समय आता तो शहर में चहल-पहल बढ़ जाती। महिलाएं रथों और बहलियों में सवार होकर मेला जाती थीं। सभी दस्तकार और दुकानदार अपना-अपना सामान लेकर वहां जाते। नदी के किनारे अपने तंबू लगा देते थे। दिल्ली के बाजारों से दुकानदार वहां पहुंच जाते। अमीर भी हाथियों पर बैठकर तमाशा देखने जाते थे। एक ओर नाचने-गाने वालियों के डेरे होते थे जहां से घुंघरू की

झन्कारें और तबले की थाप की आवाजें आती थीं। दूसरी ओर फिकैत, भगतबाज और नट अपने करतब दिखाते थे। भंग और शराब का दौर भी खूब होता था। दिल्ली के तमाम मनचले इस मेले में मस्त होकर तरह-तरह की हरकतें करते थे। माली हार गूंथ कर ले जाते। संध्या के समय इन फूलों की सुगंध से समूचा वातावरण सुरभित हो जाता था। कदम-कदम पर पान की दुकानें लगी होती थीं। मुर्गबाजी के मुकाबले होते और पहलवानों के अखाड़े भी सजते। इस मेले में सभी दिल्लीवासी बिना किसी भेदभाव के शरीक होते थे। अतएव फ़ायज़ कहता है-

गबर, तरसा[18] हनूद[19] मुस्लिम साथ
फिरते बाजार में पकड़कर हाथ।

इससे अनुमान किया जा सकता है कि उर्दू शायरी में आरंभ से ही भारतीय सामाजिक जीवन के प्रतिबिंब का स्पष्ट रुझान पाया जाता है।

मेला सूरजकुंड

भाटों में प्रचलित किंवदंती के अनुसार यह तालाब अनेकपाल के पांचवें पुत्र सूरजपाल ने बनवाया था। यह लगभग 686 ई. का जमाना रहा होगा। 19वीं शताब्दी के अंत में यह तालाब बहुत खस्ता हालत में था और आजकल इसकी हालत पहले से बेहतर होती जा रही है। लेकिन देखने पर इसकी प्राचीन भव्यता का अनुमान किया जा सकता है। यह तालाब दिल्ली के पहाड़ी मैदान में बहारपुर और लक्कड़पुर गांव के बीच स्थित है। यह दिल्ली से कोई 12 मील दूर स्थित है। यहां भादों की षष्ठि को प्रतिवर्ष मेला लगता था। मालूम होता है कि तालाब के दक्षिणपूर्व कोने पर इस जमाने में एक पुराना पीपल का वृक्ष था। जिसकी पूजा होती थी और नारियल या जो कुछ और चढ़ावा था वह बहारपुर और लक्कड़पुर के ब्राह्मणों का भाग होता था। 19वीं शताब्दी के अंतिम दौर में इस मेले की अहमियत घर कर गई और अब मेला बहुत ही साधारण रूप में होता है। आजकल यह स्थान सूरजकुंड के रूप में प्रसिद्ध है और लोग सिर्फ तफ़रीह के लिए वहां जाते हैं।

बहादुरशाह ज़फ़र ने एक शेर में इस मेले का जिक्र किया है-

जमा सूरजकुंड पर हिंदू हुए हैं ऐ 'जफर'
ख़ाल इस महरोश के हैं ज़नख़दां पर कई।

मेला कैलाश

दिल्ली में जीवनदास नाम का एक बाग था। इसमें कैलाश का मेला लगता था। मेले का विस्तृत विवरण पता नहीं। लेकिन अनुमान होता है कि अब दूसरे मेलों की

तरह इसमें भी चहल-पहल और गहमागहमी होती होगी। प्रेमी जनों और दर्शकों का जमाव होता होगा और तरह-तरह की दुकानें लगती होंगी। 'पीर ख़ां कमतरीन' ने इस मेले का यों जिक्र किया है-

> चल तमाशा देख मोहन दीद है कैलाश का
> गुल रूखों से खिल रहा है बाग जीवन दास का
> पहन जामा ताश का मीनार पर अकबर के बैठ
> जगमगाता बैठ तू भी ये दिया आकाश का
> 'कमतरीन' बंदों की खातिर हक ने ये बरसात की
> फिर बिछाया है जमीं पर फ़र्श डूबा घास का।

यमुना नदी के किनारे तीज त्यौहार के अवसर पर नहानों के मेले लगते थे। इनकी तफसील तो नहीं मिलती लेकिन उर्दू शायरी में इनसे संबंधित संकेत अवश्य मिलते हैं-

> जुल्फ़ों में तेरी आइने में ये गुमान है
> दरिया पे हिंदुओं का मेला नहान का।

-ज़फ़र

झरना कुतबसाहब

हजरत कुतबुद्दीन बख्तियार 'काकी' के मज़ार के पास किसी ज़माने में एक झरना था जिसे कुतब साहब का झरना के नाम से जाना जाता था। यह बहुत ही हरा-भरा, रमणीय और पवित्र स्थान था। शाकिर नाजी ने अपने एक शेर में इसका उल्लेख किया है-

> न बुलबुल और पपीहे सिर्फ उसके ग़म से हैं नालां
> कि हर एक अश्क नाजी का हुआ है कुतब का झरना।

कुतब साहब के झरने के पास आम के बहुत से वृक्ष थे। इसे अमराई कहा जाता था। फूल वालों की सैर के अवसर पर सैलानी दंपतियों के झुंड के झुंड यहां झूले झूला करते थे।

मेला गढ़ मुक्तेश्वर

इस मेले की गिनती दिल्ली के मेलों में ही की जाती रही है। क्योंकि यह स्थान दिल्ली सूबे की सीमा में आता था। इसलिए हमने इसे दिल्ली के मेलों की सूची में शामिल कर लिया है। फ़ारसी साहित्य में भी इस मेले का कई जगह जिक्र मिलता है। यह मेला गंगा स्नान के पर्व पर लगता था और दूर-दूर से हिंदू यहां गंगा स्नान के लिए

आते थे। मुंशी श्रीराम माथुर देहलवी का बयान है कि दीवाली के बाद दिल्ली शहर में गंगा जी का मेला बड़ी धूम-धाम से लगता था। सैकड़ों दूकानदार अपना सामान बेचने के लिए वहीं जाते थे। शहरों के रईस भी अपने कबीलों के साथ गढ़ मुक्तेश्वर जाते थे। वहां लाखों का मजमा होता था। दिल्ली से चालीस कोस पूर्व में गंगा के किनारे ये दुकानें, लगती थीं। गंगा के उत्तरी मैदान में दूर-दूर तक मेले का चमन खिलता नजर आता था। एक ओर दिल्ली, मेरठ, आगरा, अलीगढ़ आदि के लोगों की भीड़ होती थी, दूसरी ओर बरेली शाहजहांपुर, फर्रूखाबाद, अमरोहा आदि के लोगों के लाखों तंबू नजर आते थे। आगंतुक लोग धार्मिक कर्मकांड भी करते और दिल खोलकर मनोरंजन भी किया करते। मुंशी श्रीराम ने इस मेले पर कुछ शेर कहे हैं। और एक मगरमच्छ के पानी से बाहर निकलने की घटना का बयान भी किया है-

मैं गंगा में मसरूफ़-ए-अश्नान था
वो हाफिज़ हक़ीक़ी निगेहबान था
मगर आ गया बहता पानी का जोर
करे जस्त मेरी तरफ मिस्लकोह
निकाला दहन थक गया जस्तकर
नजर आया मुंह उसका जूं फीलेतर
करम उसका देखो कि ब फ़र्क़ तंग
बचाया मुझे अज़दहाने नहंग
न क्योंकर लिखूं हम चुनीं वाक़यात
न क्यों तर जुबां हो ज़मदहे सफ़ात

फूल वालों की सैर

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फूल वालों की सैर दिल्ली का एक महत्वपूर्ण समागम माना जाता था। इस मेले को हमारे अनेक लेखकों ने हिंदू मुस्लिम एकता का प्रतीक बताया है। इस मेले की शुरूआत अकबर शाह सानी (शाह आलम सानी का पुत्र) के युग में हुई। कहा जाता है कि अकबर शाह सानी के मनचले बेटे मिर्जा जहांगीर एक संगीन अपराध में फंस गए थे। अंग्रेजों ने शहजादे को गिरफ्तार करके इलाहाबाद के किले में नजरबंद कर दिया था। शहजादे की मां नवाब मुमताज़ महल ने मन्नत मानी कि अगर शहज़ादे को रिहा कर दिया गया तो मैं कुतब साहब की मजार पर फूलों की मसहरी या छपरकट चढ़ाऊंगी। बड़ी क्षमा याचना के बाद अंग्रेजों ने शहज़ादे का कुसूर माफ किया और वह इलाहाबाद से वापस आया। लाल किले में मन्नत पूरी करने के लिए धूमधाम से तैयारियां की गई। बड़ी शानो-शौकत से फूलों की

चादर निकाली गईं। मुसलमानों ने दरगाह शरीफ पर और हिंदुओं ने योगमाया मंदिर पर फूलों के पंखे चढ़ाए। हिंदुओं के पंखों के जुलूस में मुसलमान और मुसलमानों के जुलूस में हिंदुओं ने बड़े उत्साह के साथ भाग लिया। कुतब साहब में कई दिनों तक मेला लगा रहा। इस प्रकार इस मेले की बुनियाद पड़ी।

धीरे-धीरे इस मेले ने दिल्ली के एक महत्वपूर्ण वार्षिक समागम का रूप ले लिया। सैयद अहमद देहलवी का बयान है कि दिल्ली वासियों में फूल वालों की सैर के दिन बाकायदा त्यौहारों की तरह आदान-प्रदान की रीति निभाई जाती थी। इस अवसर पर बेटी की ससुराल में सोने-चांदी की अंगूठी, छल्ले, कुतब साहब के परांठे, खिचले, पंखियां और पनीर की चकतियां भेजी जाती थीं।

बहादुरशाह ज़फ़र के युग में इस मेले का बड़ा महत्व था। बादशाह ने खुद सत्रह 'बंद' का एक मुखमस[20] पंखे की मान मर्यादा पर लिखा है। इस रचना में फूल वालों की सैर की शोभा यात्रा का मनोहारी चित्रण किया गया है।

मुंशी श्री राम ने इस मेले का आंखों देखा हाल लिखा है-

लिखूं अब हाल सैरे गुलफरोशां
वो अमरियों का झूला क़ैफ़े बस्तां
ये पंखे हैं मसीहा-ए-ज़माना
सुरूर-ए-मय में लुत्फ़ेबादोबारां
अजब मेला परिस्तां का है आलम
रफ़ीक़ और हर दो जानिब महजबींना
मज़्ज़ीन पंख जरीं वा निगारीं
हवा-ए-रूह बख्श ऐजाज सामां
वो झरना, हौज़ और तालाबशम्सी
ज़मीं पर मेहरोमह अंजुम नुमायां
नफ़ीरी में मलारों का सुनाना
इसी पंखे से महरौली है नाज़ां
घटा सावन और बारान-ए-रहमत[21]
वो पंखे सामने हों दिल हों शादां
बख्बुल आलमीन[22] सकना-ए-देहली[23]
मिला यक से नहीं कम, शुक्रे यज़दां[24]

इसके बाद उसने महरौली और उसके आस-पास के मेले में लोगों के हर्षोत्साह का वर्णन किया है।

दिल्ली में हिंदुओं के धार्मिक मेलों में मेला कालका, मेला जंतर-मंतर, मेला योगमाया, मेला भैरों, मेला हनुमान, मेला बूढ़े बाबा, मेला काली पहाड़ी, मेला काली, मेला कातक व बैसाख, दशहरा, मेला तालाब शाह जी, मेला मना देवी, मेला माता बबरी, मेला शंभूदयाल, मेला सराव ज्ञान, मेला अगम माता, मेला मंगला देवी, ज्वाला की छड़ी, मेला चैत क्वार व सावन की तीज, बसंत पंचमी, राखी और ज़ाहिर पीर की छडी के मेले भी होते थे।

लखनऊ के मेले

लखनऊ के सामाजिक परिवेश में मनोरंजन से संबंधित सभी क्रियाओं को विशेष महत्व दिया जाता था। हर मेले-ठेले के अवसर पर हज़ारों-लाखों की संख्या में हिंदू व मुसलमान एकत्र होते थे और एक दूसरे की साथ रच-बस कर मनोरंजन करते थे। वर्ष में हर नौचंदी को शाह मीना के मज़ार पर सभी वर्गों के लोग इकट्ठे होते थे। नृत्य और कव्वालियों की महफिलें जमती थीं। यहां हजरत नूह, हजरत शीस्त और अब्बास की दरगाहें भी मेलों का केन्द्र बन गई थीं। इनमें से अंतिम दरगाह को इसलिए महत्व दिया जाता था कि अवध के नवाब शिआ फ़िरक़े से संबंध रखते थे। उनके अनुसरण पर आम जनता भी इन विश्वासों को मानने लगी थी। इसी प्रकार अयोध्या के सूरजकुंड के तालाब पर एक मेला होता था। मीर हसन देहलवी ने अपनी मसनवी 'गुलजारे इरम' में इन मेलों की चर्चा की है।

लखनऊ में आठों का मेला भी होता था। यह मेला चैत की अष्टमी को याने होली के आठवें दिन राजा टिकैट राय के तालाब पर मनाया जाता था। पास ही शीतला देवी का मंदिर था। श्रद्धालु यहां चढ़ावां चढ़ाते थे। मेले के दिन लोगों की भीड़ की भीड़ जमा होती थी। ऐसा लगता था जैसे सारी लखनऊ उमड़ पड़ी है। मेहराब अली काकोरवी ने अपनी मसनवी 'आशिक़ ओ सनम' में इस मेले की रंगीनियों का चित्र खींचा है-

> बराए सैर इक आलम वहां था
> अजब मेले के दिन आलम वहां था।

इंशा के कलाम में कई जगह इस मेले का जिक्र मिलता है। जैसे-

> चलो आठों के मेले की जरा दीद करें हम हैं सैर की जगह।

दो नज़्में इस मेले पर हैं, एक नज़्म का मत्ला[25] है-

> फबन, अकड़ छब, निगाह, सज-धज, जमाल, तर्जेखराम आठों
> न होवें उस बुत के गर पुजारी तो क्यों हो मेले का नाम आठों।

वे ही इन मेलों के आयोजनों में पुजारियों को बहुत महत्व दिया जाता था। वे ही

आगंतुक श्रद्धालुओं के प्रसाद को देव-प्रतिमाओं पर चढ़ाते थे। कभी-कभी पुजारी चरित्र की दृष्टि से ठीक नहीं होते थे। 'इंशा' ने अपने खास अंदाज़ में इन पुजारियों के बारे में शेर कहे हैं-

ये जो महंत बैठे हैं राधा के कुंड पर
अवतार बन के गिरते हैं परियों के झुंड पर।
कुछ नहीं मालूम पूछो कौन सा मेला है आज
जातियां हैं जो खचाखच डोलियों पर डोलियां।

छड़ियों के मेले

उत्तर भारत में शाह मदार और सालार मसूद गाजी या बाले मियां जैसे सिद्ध पुरुष हुए हैं। जिनके प्रति हिंदू और मुसलमान समान रूप से श्रद्धा रखते थे। और उन्हें कष्ट निवारक समझते थे। लोग उनकी नामों के झंडे या लंबी-लंबी छड़ियां उठाते और जुलूस के रूप में उनकी मज़ारों पर ले जाते थे। छड़ियां रंग-बिरंगे कपड़ों और कागज़ों से तैयार की जाती थीं। इस ज़माने में दिल्ली और आसपास के क्षेत्रों से शाह मदार की छड़ियां उठती थीं। मीर हसन देहलवी ने अपनी मसनवी 'गुलज़ारे इरम' में शाह मदार की छड़ियों का उल्लेख किया है। इस मसनवी में उन छड़ियों का वर्णन भी मिलता है जो डीग (राजस्थान) से मखनपुर के लिए रवाना होती थी।

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि मीर हसन ने दिल्ली से फ़ैज़ाबाद की यात्रा उन मदारियों के क़ाफ़िले के साथ तय की थी-

मखनपुर को छड़ी चलती थीं वां से
उठे हम साथ उसके उस मकां से।

इंशा अल्लाह खां के यहां भी इस विषय से संबंधित शेर मिलते हैं-

खींचता हूं नारा-ए-हक खेलता धम्माल हूं
ऐ मेरे साई मदद दाता मदद मौला मदद।

गाजी मियां के श्रद्धालुओं में हिंदू व मुसलमान दोनों थे और आज भी हैं। देश के दूर-दूर के हिस्से से लोग मार्ग की कठिनाइयों को उठाते हुए क़ाफ़िले बनाकर जियारत के लिए जाते थे। शाह मदार की तरह यहां भी लोग अपने साथ छड़ियां लाते थे। इन मेलों में अमीर-गरीब, ऊंच-नीच सभी वर्गों के लोग सम्मिलित होते थे। इंशा ने भी मियां के मेले का उल्लेख किया है।

सुलतान सरवर की छड़ियां

आप का नाम सैयद अहमद था और लक़ब (उपाधि) सुलतान सखी सरवर या

लखदाता था। आपका जन्म मुल्तान के एक गांव करसीकोट में हुआ था। आपने मुहम्मद इसहाक लाहौरी से शिक्षा प्राप्त की थी। तसव्वुफ (अध्यात्म) का ज्ञान आपने अपने पिता के अलावा हज़रत ग़ौस अदम और सैयद शहाबुद्दीन सौहरवर्दी से प्राप्त किया। इसके बाद वज़ीराबाद के पास मौजा सोधरा में निवास करने लगे और ईश्वर के ध्यान में लीन हो गए। श्रद्धालुओं की भीड़ की भीड़ अपनी मनोकामनाएं पूरी करने के लिए आपकी सेवा में उपस्थित होती थी। इसी कारण आप सुल्तान सखी सरवर के नाम से मशहूर हुए। इसके बाद कई वर्ष आप धोंकल में रहे। फिर आप अपने वतन शाहकोट चले गए। जो जिला डेरी खां का एक गांव है। मुल्तान के हाकिम ने आपको अपनी बेटी ब्याह दी लेकिन ईर्ष्यालुओं ने आपको शहीद कर दिया। यह घटना 1181 हिज्री की बताई जाती है। हिंदू व मुसलमान दोनों आप में आस्था रखते थे। ज़ियारत करने वाले झंडे और छड़ियां लेकर मजार पर हाजिर होते थे।

शेख मुबारक आबरू ने अपने एक शेर में सुल्तान सरवर की छड़ियों का जिक्र किया है।

ऐश बाग़ के मेले

ऐश बाग़ के मेले की शुरूआत नवाब आसफुद्दौला के ज़माने से बताई जाती है। रजब अली बेग सुरूर ने लिखा है-

''ऐश बाग में तमाशे का मेला, हर वक्त चैन का जलसा, मोती झील का पानी, जीवन रूपी झरने की भांति प्रतीत होता। प्यासों का दिल लहराता, सड़क के दरख्तों की फिज़ां अलग दिखाई देती, जन-समुद्र लहरें लेता, हर सिंगार के जंगलों में लोगों का जमघट, रंगारंग पोशाक, आपस की ताक-झांक, खास लोगों की चलह-पहल, सुंदरियों की चाल, जिसे देखकर गौरेया अपनी चाल भूल जाती और जमीन पर माथा रगड़ने लगती। सर्व की डालियां उनके सामने न अकड़तीं। परवानों की तरह हजारों लोग उनके आसपास मंडराते रहते। झुंड के झुंड आम के पेड़ों की डालियों पर झूमते रहते। दर्शकों का झूलने वालों पर दिल टपका पड़ता! मुहब्बत की पतंग बढ़ते देखने वाले दुरूद[26] पड़ते। बाग में कोयल, पपीहे और मोर का शोर, झूले पर घटा रही वह घनघोर। सावन के झूले, वे रंगीन झूलने वाले। रदश्तेगु बत[27] में यह जलसा जो याद आ जाता है, दिल पाश[28] हो जाता है। कलेजा मुंह को आता है।''

दरगाह हज़रत अब्बास के मेले

हर बृहस्पतिवार (जुमेरात) को और विशेष रूप से नौचंदी के बृहस्पतिवार को एक मेला लगता था। मसनवी 'जहर-ए-इश्क' में इस मेले का जिक्र मिलता है-

आई नौचंदी इतने में नागाह
इस बहाने से आई वह दरगाह।

'शौक़' ने मसनवी फ़रेब-ए-इश्क में लिखा है-

आई नौचंदी में न ये ज़नहार
गर हक़ीक़त में हुई अस्मतदार।

रजब अली बे सुरूर ने फिरंगी महल के एक मेले का भी जिक्र किया है लेकिन इसका विस्तृत विवरण नहीं दिया।

कैसर बाग और जोग के मेले

कैसर बाग का निर्माण कार्य 1848ई. में आरंभ हुआ था। यह 1850ई. में पूरा हुआ। इसके निर्माण में अस्सी लाख रुपये व्यय हुए थे। इस बाग में 1852ई. में जोगियों का मेला शुरू हुआ। तारीखें अवध (नजमुलग़नी) में इस बाग के विषय में लिखा गया है-

"कैसर बाग की साज-सज्जा और चोचले किसी तरह बयान में नहीं आ सकते। जिसके बाजार और दुकानदार इस रंग में थे। बुनियाद इस मेले की यह थी कि वाजिद अली शाह की छटी की आरजू पर उनकी मां ने लड़कपन में जोगियाना लिबास पहनाया था। उसकी सालगिरह इस लिबास में होती थी। बादशाह ने सल्तनत के दौर में इसे मेले का रूप दिया जैसा कि 'नादिर-उल-अस्त्र' और 'अफ़ज़ल-उल-तवारीख' में बताया गया है। यों बताया जाता है कि ज्योतिषियों ने बादशाह से निवेदन किया कि हुमायूं की जन्मपत्री में जोग का योग लिखा हुआ है। इससे मुक्त होने की युक्ति करनी चाहिए। अगर सल्तनत के दौर में फकीरी का भेस धर लिया जाए तो अशुभ ग्रह भी शुभ हो सकते हैं। बादशाह ने भविष्य द्रष्टा ज्योतिषियों के परामर्श से जोग की सभा बुलाई, जोगिया वेशधारण किया, कैसर बाग को स्वर्ग की भांति सुंदर बनाया। हर तरफ परियों की भांति सजी-धजी सुंदरियां और नर्तकियां लहराती हुई दिखाई दे रही थीं। कहीं नफीरी का शोर कहीं जलाजल के सुर, कहीं बुलबुलों की सी मीठी-मीठी तानें सुनाई दे रही थीं।"

इस जोगियाना जलसे का हर सावन के महीने में दो-तीन साल बराबर रंग जमा रहा। इस मेले में बादशाह और बेगमें जोगी और जोगन का वेश धारण करते थे।

फ़क़ीरी की शाही की, है एक राह
गदा[29] भी है मशहूर आलम में शाह
गदाई का क्या है गदाई में लुत्फ
फकीरी का है बादशाही में लुत्फ

अजब लुत्फ दे गेरूआ पैरहन[30]
जो पहने हसीनान-ए-कुलगूं बदन
भभूत अपने तन परी मलें गर हसीं
न रक्खे कदम आसमां पर ज़मीं।

हादी अली खां 'बेखुद' की मसनवी में वाजिद अली शाह के जोगी बनने की घटना का वर्णन किया गया है।

मुर्गबाज़ी के मेले

लखनऊ में मुर्गबाज़ी के मौकों पर मेले का समां बंध जाता था। मीर तक़ी 'मीर', मुसहफी और 'इंशा' ने मुर्गबाज़ी के मेलों का सविस्तार वर्णन किया है। हम मनोरंजन की क्रीड़ाओं के अंतर्गत पिछले अध्यायों में इस विषय पर बातचीत कर चुके हैं। अत: इसकी चर्चा अनावश्यक होगी।

'तिलिस्म ए-होशरुबा' में लखनऊ के एक मेले का दृश्य इस रूप में उभारा गया है:

अब इस वक्त तमाम मेला जोश पर है। उठारह सौ मुल्क का आदमी जमा है-

मेला है ये एक नए फैशन का
जिसमें कि समां है सब चमन का
क्या-क्या खुश और गुलबदन हैं
रश्क-ए-नसरीन और यासमन[31] हैं
पहने हुए सब लिबास ओ पुर जर
तिरछी रखे कलाह[32] सिर पर
खाए हुए पान की गिलोरी
हर गुंचा दहन[33] के मुंह पे सुर्खी
होंठों पर कोई मिस्सी लगाऐ
सौसन[34] को भी जिससे शर्म आए
एक सिम्त को चांडू पीने वाले
बांबू हाथों में हैं संहाले
चुस्की कोई बैठता घोलता है
कांटे में निगाह के तौलता है
मुगली कहीं चाय बन रही है
क़श्मीरी कहीं पे छन रही है
एक सिम्त में साकिनों की पालें

दम देके निगाह जिन पे डालें
चिलमों पे चरस की पड़ते हैं दम
मशअल से नहीं है जिसकी लौ कम
दम मारा ने किसी ने दे के गंडा
गाढ़ा नशे का अपने झंडा
दुकाने तंबोलनों की एक सू
पान की तिरछी हसीन खुश रू
ऐयाश कमाल, खेली खाई
पहने हुए ज़ेवर-ए-तलाई
हंस हंस के उगाल एक पै फैंका
दिखलाया किसी को मुड़ के ठेंगा
चूना किसी यार के लगाया
हंस-हंस के किसी का खूं बहाया
करती है किसी से कह के ये चाल
"बीड़ा अब खा ले मेरे मुख लाल"
बीड़ा कोई ले के खा रहा है
रंग अपना कोई जमा रहा है
थेड़ का कोई जमाए है रंग
बजता है कहीं रुबाब और चंग
है लाग कहीं पे सरकटे की
हैरान हुआ शक्ल जिसने देखी
एक सिम्त हैं रंडियों के डेरे
ऐयाश खड़े हुए हैं घेरे
बायां किसी जा गमक रहा है
सारंगी का रंग चमक रहा है
खांली कोई गुनगुना रही है
सुर राग के एक मिला रही है

आगरे के मेले

आगरा के मेलों के संबंध में नज़ीर अकबराबादी की शायरी हमारी जानकारी का एकमात्र महत्वपूर्ण स्रोत है।

आगरे की तैराकी

दिल्ली की तरह आगरे में भी तैराकी की प्रतियोगिताएं होती थीं। और इस अवसर पर एक शानदार मेला भी लगता था। नज़ीर ने 'आगरे की तैराकी' शीर्षक नज़्म में तैराकी के मुकाबलों और मेलों का बड़े ही रोचक ढंग से वर्णन किया है।

धार्मिक मेले

बलदेव जी का मेला

नज़ीर अकबराबादी ने हजरत शेख सलीम चिश्ती के उर्स पर एक नज़्म लिखी है। उर्स के मेले का जीवंत चित्र प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार बलदेव जी का मेला भी उनकी एक प्रसिद्ध नज़्म है-

क्या वे दिलबर कोई नवेला है
नाथ है और कहीं वो चेला है
मोतिया चमेली बेला है।
भीड़ अंबोह है अकेला है
शहरी कस्बाई और गंवेला है
ज़र अशर्फी, पैसा धेला है
एक क्या-क्या वो खेल खेला है
भीड़ है ख़लक़तों का रेला है
रंग है रूप है झमेला है
ज़ोर बलदेव जी का मेला है।

धार्मिक उत्सवों के सिलसिले में नज़ीर ने कन्हैया जी की रास का भी सूक्ष्म चित्रण किया है-

क्या आज रात फ़रहत ओ इशरत असास है
हर गुलबदन का रंगीं व जरीं लिबास है
महबूब दिलबरों का हुजूम उसके पास है
बज़्म-ए-तरब है ऐश है, फूलों की बास है
हर आन गोपियों का यही मुख विलास है
देखो बहारें आज कन्हैया की रास है।

पतंगबाज़ी

दिल्ली और आगरे के साथ-साथ समूचे उत्तर भारत में पतंगबाज़ी के मुकाबले हुआ करते थे। आगरे में इस मेले को निर्जला कहते थे। नज़ीर अकबराबादी ने अपनी

नज़्म 'कनकौवे और पतंगबाजी की तारीफ़' में विभिन्न प्रकार की पतंगों और पतंग लड़ाने के तरीकों का वर्णन किया है।

ग़दर से पहले दिल्ली की पतंगबाजी का जिक्र करते हुए मुंशी श्री राम लिखते हैं-

"पुराने जमाने में जबकि दिल्ली का तख्त बरकरार था, दिल्ली के लोग मालदार थे और खूब पतंगबाजी किया करते थे। शहर के रईस और शाहजादे लोग लालकिले के मैदान में शाम के वक्त पतंगें उड़ाते थे। शाम के वक्त आसमान पर सैकड़ों पतंगें, कनकौवे और तुक्कल बड़ी मस्ती के साथ उड़ा करते थे। जौहरी महाजन अपने साथियों से आपस में पेंच लड़ाते थे। बारह-तेरह साल की उम्र से मुझे भी इसका शौक हुआ। हरीरी के खूबसूरत पतंग दसतार और पंद्रह तार डोर की उड़ाया करता था। कुछ पतंग बहुत ही सुंदर आकार के तैयार कराए थे जिन्हें देखकर देखने वालों को खुशी होती थी। किसी पतंग में निस्तालीक़[35] खत में कोई क़ता लिखा होता, किसी में संस्कृत का कोई श्लोक लिखा होता और किसी में कुछ लिखा होता। किसी पतंग पर बेल-बूटे बने होते तो किसी पर रंग-बिरंगे पेड़ और फूल चित्रित होते। ये पतंग कमरे में अलग-अलग खूंटियों पर टंगे रहते और शाम को आसमान में अपनी ऊंची उड़ानें दिखाते"। इस युग के शायरों में पतंगबाजी के विषय से संबंधित अनगिनत शेर मिल जाते हैं।

स्त्रियों का परिधान

इस बात की पहचान करना कठिन है कि बाहर के देशों से आई स्त्रियों ने किन भारतीय पहनावों को अपनाया होगा? क्योंकि इस विषय पर बहुत कम और बिखरी हुई-सी जानकारी मिलती है। जो थोड़ी बहुत सामग्री इस बारे में मिलती है उससे सही अनुमान लगाना कठिन है। बहरहाल यह बात असंदिग्ध है कि अकबर के युग से पहले ही मुसलमानों ने भारत की जलवायु के हिसाब से यहां के परिधानों को थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अपना लिया था। स्थानीय लोग हिंदू से मुसलमान हो जाने के बाद भी अपने पुराने पहनावे को पहनते रहे। बाबर लिखता है कि हिंदू औरतें एक कपड़ा पहनती थीं, जिसका एक किनरा कमर के इर्द-गिर्द लिपटा होता था और दूसरा किनारा सिर पर पड़ा होता था। ज़ाहिर है इस कपड़े से आशय साड़ी या धोती है। ट्रेवर्नियर ने अपने निरीक्षण के आधार पर लिखा है कि गरीब स्त्रियों का लिबास सिर्फ एक कपड़ा होता था जो शरीर के बीच के हिस्से में लिपटा होता था। इस कपड़े का एक किनारा दो रंगों का होता था और रंगीन किनारे से सिर ढका जाता था। हिंदू स्त्रियों को सुर्ख रंग पसंद था और आमतौर पर उनके कपड़ों का रंग सुर्ख होता था। अबुल फ़ज़ल ने 'आईने अकबरी' में सिंगार का वर्णन करते हुए स्त्रियों के निम्नलिखित परिधानों का

जिक्र किया है।

"यह लिबास तरह-तरह का होता है। कुछ की आस्तीनें अंगुलियों तक और कुछ की कोहनियों तक होती हैं। कई औरतें बिना दामन का कुर्ता पहनती हैं, इसको अंगिया कहते हैं। वे पायजामे के बजाय लहंगा पहनती हैं। लहंगा एक लुंगी होती है जिसके दोनों सिरे सिल कर मिला दिए जाते हैं और ऊपर की तरफ नेफा भी सिला जाता है और ये कई तरीकों से सिला जाता है। कुछ डंडिया भी पहनती हैं। यह एक लंबी चादर होती है जो लंहगे के ऊपर बांधकर, कुछ हिस्सा सिर पर लेकर, कमर के दूसरे बाजू तक लाकर मिला देते हैं। ये तीन लिबास तो लाजमी हैं और दौलतमंद इसके ऊपर भी कई लिबास पहनते हैं, और कुछ ओढ़नी व पायजामा भी पहनते हैं।"

अकबर के युग से पूर्व और पश्चात के दौरों पर टिप्पणी करते हुए जमीला ब्रजभूषण ने कहा है-

"अकबर के युग तक मुसलमान औरतें ईरानी (फ़ारसी) लिबास पहनती थीं। लेकिन इस बादशाह के युग में राजपूत लिबास अपना लिए गए। यह उसी समय हो सकता है जबकि मुसलमान बादशाह और अमीरों की बीविया पगड़ी की जगह राजपूत स्त्रियों के दुपट्टे और घूंघट का प्रयोग करने लगी हों साथ ही साथ इस ज़माने से राजस्थान का बुर्का, घाघरा (साया) और अंगिया 17वीं शताब्दी के हरम में अनेक रूपों और बनावटों के साथ पूरी तरह प्रचलित हो गए हों।"

पीटर डेला वेला 17 वीं शताब्दी में भारत आया था। उसने इस देश के शहरी और ग्रामीण जीवन का गहरा अध्ययन किया था। स्त्रियों के परिधान के विषय में वह लिखता है-

"हिंदू स्त्रियां सिर्फ एक रंग यानी लाल कपड़े पहनती हैं और इसके अलावा किसी दूसरे रंग के कपड़े नहीं पहनतीं। वे छींट के कपड़े पसंद करती हैं। इनका रंग लाल होता है या दूसरे रंगों के बीच लाल रंग अधिक निखरा हुआ होता है और दूर से देखने पर उनका परिधान लाल ही दिखाई देता है। अपने शरीर के अधिकांश भाग पर वे कपड़ा नहीं पहनतीं सिर्फ एक चोली पहनती हैं जिसकी बाहें कोहनियों से जरा ऊपर तक होती हैं और हाथ का शेष भाग सोने-चांदी व हाथी दांत के कड़ों और कंगनों या उनकी हैसियत के अनुसार इस प्रकार के दूसरे आभूषणों से ढका होता है। कमर से पैरों तक के निचले हिस्से में वे लंहगा पहनती हैं। जब वे घर से बाहर निकलती हैं तो एक छोटी सी ओढ़नी से अपने शरीर को ढांप लेती हैं। मुसलमान औरतें भी इसका इस्तेमाल करती हैं। आमतौर पर सभी पूर्वी देशों की स्त्रियां। लेकिन ये लाल रंग का होता है।"

मंडेलसिलो ने लिखा है-

"आमतौर पर स्त्रियां चुस्त पायजामे, घाघरे और एक जड़ाऊ दुपट्टे जिसके किनारे पिंडलियों तक लटके होते हैं, का इस्तेमाल करती हैं। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक आमतौर पर औरतें सिर को एक कपड़े से ढकती थीं जो दुपट्टा या ओढ़नी या होडनी कहलाता था। प्रायः यह मामूली कपड़े का होता था लेकिन धनी घरानों की औरतों का दुपट्टा अच्छी किस्म के मलमल या सूती कपड़े का होता था जिस पर सुनहरे या रूपहले धागों से काम होता था।"

दुपट्टा या ओढ़नी

यह हिंदी का शब्द है। दुपट्टा दो प्रकार का होता था। इससे सिर ढंका जाता था और घर में अपने बड़ों से मुंह ढकने के लिए यह नक़ाब का काम भी देता था। इसके विपरीत पुरुष एक चादर कंधे पर डालते थे। यह चादर भी दुपट्टा कहलाती थी। इस शब्द से दो मुहावरे बना लिए गए दुपट्टा तान कर सोना अर्थात् निश्चिंत होकर सोना। दूसरा दुपट्टा बदलना अर्थात् सहेली या मित्र बनाना। ओढ़नी भी हिंदी का शब्द है। उस कपड़े को ओढ़नी कहते हैं जिससे स्त्रियां सिर ढकती हैं। इस शब्द से भी कई मुहावरे बने हैं, जैसे ओढ़ना उतारना (कपड़े उतारना), ओढ़ना बिछौना बनाना (किसी कार्य को हर समय करते रहना), ओढ़ना बिछौना बांधना या समेटना (प्रस्थान कर देना) और ओढ़ लेना (कोई दायित्व स्वीकार कर लेना)।

ओढ़नी ओदी पर किनारी जर्द
गिर्द शब के सूरज की धारी है
सब अभूखन उसके तन पर खुशनुमा
था दुपट्टा का पुर जला।

-फायज़ देहलवी

मत दुपट्टे से मियां चेहरे को इतना खोल मूंद
लाएगा इस ढब कि झकझोरों की क्या महताब ताब।

-शाह हातिम

जलवा-ए-माह तहे अब्र तनक भूल गया
उसने सोते से टुपट्टे से जो मुंह को ढांका

-मीर

ये कशमकश हुई कि गरीबां मेरा इधर
टुकड़े हुआ और उसका दुपट्टा भी फट गया।

-नज़ीर अकबराबादी

कुर्ता या कुर्ती

कुर्ती हिंदी भाषा का शब्द है। जिसका शाब्दिक अर्थ है स्त्रियों का पहनावा जो फतूही जैसा होता है। इसके विपरीत कुर्ता तातारी या तुर्की शब्द है और मर्दाना लिबास है। आमतौर पर कुर्ती बहुत बारीक और जालीनुमा कपड़े की बनी होती थी और कमर तक ऊपर के हिस्से को ढंकती थीं। इसके हाशियों और तहों को सुनहरी या रूपहली धागों से सजाया जाता था। बांहें तंग होती थीं और सामने का ऊपरी हिस्सा खुला। औरतें भी कुर्ता पहनती थीं।

दोनों खुले हिस्सों को आपस में जोड़ने के लिए तकमे या बटन लगाऐ जाते थे। कई बार बटन कपड़े के बनाए जाते थे-

वो तकमे पे चंपा कली की फब़न
कि सूरज के आगे हो जैसे किरन
गरेबां में इक तकमा अल्मास[36] का
सितारों सा महताब के पास का।

चोली

चोली संस्कृत का शब्द है। यह एक प्रकार का वस्त्र था जो स्तनों को छुपाने और बांधने के लिए पहना जाता था।

चोली बहुत चुस्त होती थी और सिर्फ इतनी लंबी कि उससे स्तनों का भाग ढक जाए। हालांकि इसके चुस्त होने के कारण शरीर का यह भाग उघड़ भी जाता था। इसकी बांहें बहुत तंग होती थीं और कोहनियों से ऊपर रहती थीं। चोली के किनारे जड़ाऊ होते थे। या मलमल या दूसरे रंगीन कपड़ों की किनारी होती थी। चोली के सामने के किनारों को खूब कसकर बांधा जाता था। चोली पर कुछ शेर देखिए-

किसी की गई चोली आगे से चल
किसी की गई चैन सारी निकल

-मीर हसन देहलवी

ऐ वाह रे बालीदगी[37] और चंपई रंगत ये गात ये सज धज
और जामा-ए-शबनम की ये चोली कि फंसावट, बाजू की गोलाहट।

-इंशा

उसके बैठा है आगे तंबोली
उसकी चोली में भरी है ढोली।

-फायज़ देहलवी

चबा कर पान किस लब सैं रंगी है दामन और चोली
मता-ए-सब्रे आशिक[38] तुमने जो पाई तो सब खोली।

-शाकिर नाजी

गल गरीबां चाक हैं तुम पर खबर लो इनकी टुक
हर तरफ फिरते हो क्या चोली को मुस्काए हुए

-मुसहफ़ी

अंगिया भी हिंदी का शब्द है और यह चोली और कुर्ती का समानार्थक है। जहां तक अंगिया की बांहों की लंबाई और उसकी चौड़ाई का संबंध है यह चोली में बांधी जाती थी। यह जाकिट की तरह पहनी जाती थी और पीठ पर नीचे और ऊपर की तरफ़ बांधी जाती थी तथा इसके पल्लुओं के बीच में चार अंगुल के बराबर पीठ खाली या नंगी रहती थी। अंगिया की बनावट के बारे में मिसेज मीर हसन अली ने लिखा है-

''अंगिया की बनावट में एक आम तर्ज पाया जाता है लेकिन फिर भी कपड़े और जड़ाऊ में बहुत अंतर पैदा हो जाता है। कुछ तो बारीक रेशमी कपड़े की, जाली और मलमल की होती हैं। कपड़ा जितना ज्यादा बारीक और नर्म हो उतना ही पसंद किया जाता है। यह स्तनों को अच्छी तरह से छुपाने के लिए पहनी जाती है और पीठ पर एक मजबूत डोरी से बांध दी जाती है।''

दिखाना कभी अपनी छब मुस्कुरा
कभी अपनी अंगिया को लेना छुपा
वो कुर्ती वो अंगिया जवाहर निगार
नया बाग़ और इब्तिदा की बहार।

-मीर हसन देहलवी

ऐ परी नाम-ए-खुदा तेरी सजावट ख़ासी
क़हर तिस पे ये अंगिये की कसावट ख़ासी।

-नवाब आसफउद्दौला 'आसफ'

लहंगा

यह हिंदी का शब्द है। स्त्रियों की कमर से नीचे के भाग को ढांपने वाला घेरदार कपड़ा। यह वैसा ही कपड़ा है जो स्त्रियां साड़ी के नीचे पहनती हैं। अर्थात् साया।

लहंगे की बनावट का ज़िक्र करते हुए अबुल फ़ज़ल ने लिखा है कि यह एक लुंगी होती है। जिसके दोनों सिरों को जोड़ दिया जाता है। ऊपर की तरफ नेफ़ा सिला जाता है। इसके सिलने के कई तरीके हैं।

बादशाहों और अमीरों के महल की नौकरानियां आमतौर पर लहंगा पहना करती

थीं। इन नौकरानियों में दोनों धर्मों की स्त्रियां होती थीं। यह बात असंदिग्ध है कि यह हिंदू स्त्रियों का वस्त्र था और इसे मुसलमान औरतें भी पहनने लगी थीं। हमारे ज़माने में कुछ वर्ष पहले बुंदेलखंड या विशेष रूप से देहातों की मुसलमान औरतें इसी तरह का लहंगा पहना करती थीं जिस तरह राजपूताने की स्त्रियां। इस क्षेत्र में आज भी लहंगे का आम प्रचलन है। बिहार प्रांत की चर्चा करते हुए मार्टिन मंटगमरी ने लिखा है कि इस क्षेत्र की मुसलमान औरतें हिंदू स्त्रियों की तरह पेटीकोट पहनती थीं। मगध में भी पेटीकोट, लहंगा और साड़ी पहनी जाती थी। लहंगे के साथ शरीर के ऊपरी अंगों के लिएं कुर्ता पहना जाता था। तीन चौथाई औरतें यही लिबास पहना करती थीं। लहंगे की सजावट के लिए इसमें सुनहरी और रूपहली गोटें लगाई जाती थीं।

साड़ी

साड़ी हिंदी का शब्द है। इसका प्रयोग स्त्रियों के पहनने की धोती के अर्थ में होता है। प्राचीन काल से हिंदू स्त्रियां अपने शरीर को ढकने के लिए एक ऐसे लंबे वस्त्र का प्रयोग करती थीं जो सिर से लेकर पैर तक उनके समूचे शरीर को छुपा सके। मुसलमान औरतों ने इस लिबास को कब अपनाया, इसके विषय में हमारी जानकारी न के बराबर है। लेकिन मनूची के एक कथन से ऐसा मालूम होता है कि 17वीं शताब्दी में महल की औरतों में भी साड़ी का इस्तेमाल होने लगा था। वह लिखता है-

''वह एक बहुत ही बारीक वस्त्र पहनती हैं। इतना बारीक कि इसके भीतर से शरीर का रंग झलकता है। वे लोग इन कपड़ों को Sircas(साड़ी) कहते हैं।''

फायज़ देहलवी ने अपने शेरों में इस वस्त्र का उल्लेख किया है-

> तुझ बदन पर जो लाल सारी है
> अक़्ल उसने मेरी बिसारी है।
> सबन की रंग रंगलहंगा वा सारी
> किनारे इनके थी टंकी किनारी।

फ़ारसी साहित्य में भी साड़ी का ज़िक्र मिलता है। मार्टिन मंटगमरी के कथनानुसार बिहार व बंगाल की मुसलमान व हिंदू स्त्रियां आमतौर पर साड़ी पहना करती हैं।

ग़रारा और शरारा

इन दोनों परिधानों के चलन के विषय में जमीला ब्रजभूषण का कथन ध्यान देने योग्य है। लिखती हैं-

''जब मुग़लिया सल्तनत पतन की ओर जाने लगी और बहुत सी हिंदू व मुसलमान स्वाधीन हुकूमतें अस्तित्व में आ गईं। तो मुसलमानों के लिबास में कुछ

तबदीलियां आ गईं। इन तबदीलियों में सबसे महत्वपूर्ण तबदीली लखनऊ में नए-नए मुस्लिम पहनावों की ईजाद थी। गरारा, जो एक प्रकार का साया था, इस शहर की औरतें पहना करती थीं। यह राजपूत स्त्रियों के गरारे की नकल पर बनाया गया था लेकिन पेचीदा था और इसकी सिलाई बहुत मुश्किल थी। विशेष रूप से यह संपन्न वर्ग का लिबास था। वह इतना लंबा होता था कि चलने में ज़मीन पर घिसटता जाता था इसलिए इसको उठाकर चलने के लिए नौकरानियां साथ-साथ होती थीं। या कभी कांधे पर भी डाल दिया जाता था। कमर तक चुस्त अंगिया उसके साथ पहनी जाती थी। मुगल हरम में चुस्त पायजामे और पगड़ी का चलन बंद हो गया था क्योंकि इससे बेपर्दगी होती थी। इसका इस्तेमाल सिर्फ़ लखनऊ में और वहां की औरतों में बाकी रह गया है।''

नीमा या नीमतना

नीमा प्रायः बंडी का एक रूप था। यह जाकिट की तरह का लिबास होता था और अंगिया के नीचे पहना जाता था अनुमान होता है कि मौजूदा ब्लाऊज़ इसका बदला हुआ रूप है। मिसेज मीर हसन अली ने लिखा है-

''औरतें अंगिया के साथ एक बहुत बारीक कपड़े की कुर्ती पहनती थीं जो जालीदार होती थी। ये इज़ारबंद को ढक लेती थी। लेकिन इस पर बिलकुल पर्दा नहीं डालती थीं। नीमा में गोटे की पट्टी लगी होती थी और इसकी सींवन भी सुनहरी और रूपहली होती थी।''

पशवाज़

एक घेरदार ज़नानी पोशाक जिसके दामन घुटनों से बहुत नीचे होते हैं। इसकी शक्ल ऐसे होती थी जैसे कि शलूके में लहंगा जोड़ दिया जाए। एक ज़माने में पशवाज़ मुसलमान औरतें पहना करती थीं। इसके बाद इसका प्रयोग दुल्हनों तक सीमित रह गया। रंडियां, डोमनियां और भांड नाचते समय पशवाज़ पहन लिया करते थे। अवध के कस्बों में मुसलमान नाइनें विशेष रूप से सुर्ख़ पशवाज़ पहना करती थीं। अब कुछ दिनों से यह पोशाक चलन से बाहर हो गई है।

जूता और जूती

पुरुष जूते और स्त्रियां जूती पहनती थीं। स्त्रियों की जूतियां जड़ाऊ, सुनहरी और रूपहली हुआ करती थीं-

न हाथ आया जो जूता टाट बाफ़ी और चमकी का
तो पहना एक साहब ने फिरंगी टाट का जोड़ा।

सुर्ख़ी उन एड़ियों की मोतियों की जूती की
धुंधचियां करके दिखावे तुझे एक आन में झट।

विभिन्न प्रकार के वस्त्र

उर्दू शायरी में विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का ज़िक्र मिलता है। जो इस बात का प्रमाण है कि उस ज़माने में इन कपड़ों का रिवाज था। जैसे-खेस, लाही, शबनम, बादला, मुसलसल, मलमल, जाली, जरदोज़ी, किनारी, किमखाब, मख़मल, तमामी, संजाफ़, दरियाई, बानात, ताश, आबरवां, ज़री, बाफ़, ज़रबफ़ंत, पुर्जला आदि आदि।

ये मज़्दा[39] जो पहुंचा तो नक़्क़ारची
लगा हर जगह बादला और ज़री।

किनारी के जोड़े चमकते हुए
वो पाओं के घुंघरू झमकते हुए।

तमामी के संजाफ़ लेकर दुरूस्त
बना जल्द जल्द और पहन तंगोचुस्त।

कोई पहने किनारी और मुसलसल
लिबास-ए-शबनम ओ किमख़ाब-ओ-मख़मल
न शबनम और इक तारे की अंगिया
फ़क़त इक चांद और तारे की अंगिया।

श्रृंगार

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में श्रृंगार की स्वाभाविक रुचि अधिक पाई जाती थी और आज भी है। उसे एक पराधीन जीवन जीना पड़ता है इसलिए हमेशा उसका ध्यान साजसिंगार की तरफ़ रहता है। पति को मोहित और आकर्षित करना इसका मूल कारण है। अपने रूप में आकर्षण पैदा करने की इस स्वाभाविक वृत्ति के रहते हुए स्त्रियों ने श्रृंगार की कई शैलियों का आविष्कार कर लिया। जायसी ने 'पद्मावत' में नख शिख खंड में श्रृंगार वर्णन किया है। अबुल फ़ज़ल ने स्त्रियों के सोलह सिंगार बताए हैं। इनमें

स्नान करना, तेल मलना, चोटी गूंथना, आभूषण पहनना, चंदन का लेप लगाना, परिधान पहनना, टीका या तिलक लगाना आदि। काजल को सुरमे की जगह इस्तेमाल करना, बुंदे पहनना, हाथों में मेंहदी लगाना, नाक में सोना और मोती पहनना, गले में आभूषण, फूल या मोतियों की माला पहनना, और एक हैकल जिसमें छोटे-छोटे जड़ाऊ घुंघरू पड़े हों। इसके साथ-साथ पांव में सोना पहनना, पान खाना और आकर्षित करने वाले हाव-भाव दिखाना।

हम यहां केवल कुछ सिंगारों की चर्चा करेंगे क्योंकि आभूषणों पर अलग से बात की गई है। मुसलमान औरतों ने हिंदू स्त्रियों के निम्नलिखित सिंगारों को अपना लिया था, इसलिए इन सिंगारों के नाम भी हिंदी में ही हैं। उर्दू शायरी में इन सिंगारों का अनेकश: उल्लेख किया गया है।

टीका

तिल स्याही का क्यों बनाया है
दूर कर रुख से नील का टीका।

-शाकिर नाजी

कोई माथे पे टीका लगाती
कोई ले ढोलकी बैठी बजाती।

-मीर हसन

सौ काले टीके गोया रुख़े नज़ाकत के
कहीं नज़र न लगे इसलिए रही थी लिपट।

-इंशा

तेल, इत्र, चंदन और उबटन

जाफ़रान और तेल चमेली का ले
काट कर इस बीच उसे लेमू दे।

उबटने को लेकर टुक मुखड़े को मल
धूप हो तो घर से बाहर मत निकल।
तेल क्यूं डालो हो बालों में चंबोली का मियां
इस सफ़ाई पर किसी का जी फिसल ही जाएगा।

अरगजा

एक प्रकार का सुगंधित द्रव होता था, जिसका हर्ष के अवसरों पर प्रयोग किया जाता था। आनंद राम 'मुखलिस' के एक शेर में आता है-

धूम आवने की किसके गुलज़ार में पड़ी है
हाथ अरगजे का प्याला नर्गिस लिए खड़ी है।
और मीर हसन ने लिखा है-
और इस पर अरगजे का इत्र मल
सलीके से लगा माथे पर संदल।

काजल

जल के मैं सुरमा हुआ बल्कि हुआ काजल भी
खाना-ए-चश्म में तुझ पाऊं जो टुक राह मगर।

स्याही का हुआ है रोशनी नाम
लगाया जब सें तू आंखों में काजल।

गलगूना ग़ाज़ा

गलगूना एक प्रकार की सुर्खी होती थी जिसे औरतें अपने चेहरे में दीप्ति और चमक पैदा करने के लिए लगाती थीं:

वहां ग़ाज़ा मलना या शाना करना
बनावट के ऐसे बहाने बहुत हैं।
कब मुकाबिल तेरे मुखड़े के हो गो, बादे सहर
आरिज़े गुल पे मले लाखों तरह ग़ाज़ा सुबह।

मिस्सी

छोटे और बड़े घराने की औरतें अपने दांतों को स्याह करने के लिए मिस्सी का प्रयोग करती थीं:

वो दांतों की मिस्सी व गुलबर्ग-ए-तर
शफ़क[40] में अयां[41] जैसे शामो-सहर
वो मिस्सो वो उसके लबे लाल-ओ-फ़ाम
कि मुंह पर थी गोया कयामत की शाम।
फ़ायज़ देलवी ने अनेक सौंदर्य-प्रसाधनों का उल्लेख किया है:

नीलम की झलक होती है याकूत[42] में गोया
सो तेरे लबे लाल पे मिस्सी की धड़ी है।
मिस्सी की धड़ी है लबां के ऊपर
कहता हूं वस्फ़-ए-दंदा[43] मिस्सी का
मज़ा लेता हूं तिल चावली का।

सबसे पोशाक जुदी, सबसे निराला नक सिक
दांत तस्वीर है मिस्सी की अदा हर ख़ासी
मिस्सी पे सुर्खी, पान देख मेरी अक़्ल भूली है
कि है खुर्शीद-ए-ताबा[44] तिस पे ऐसी शाम फूली है।

शाना अब हाथ में है जुल्फ बना करती है
मिस्सी दांतों पर कई बार लगा करती है।

-मीर

शक्ल तेरी कि ऐ मियां बंदे हैं कितनी आन के
मुंह की मिस्सी देख के लाल से सबके पान के

-सौदा

पान

होंठों को लाल-लाल रचाने के लिए पान खाया जाता था:
पान खा-खा के आरसी के बीच
अपने होंठों को देखता है लाल।
पान खाता हुआ आता है अदा से जिस वक्त
क़त्ल करती है आह आलम को ये खूंखार की सज।
जुबान होती है उसके वस्फ में लाल
कि जिसका रंग पान से है दहन[45] सुर्ख।
गुंचा ही वो दहा[46] है गोया
होंठों पर रंग पान का है गोया।
क्या कहते एक उम्र में वे कब हिले थे कुछ
सो बात पान खाते हुए वो चबा गया।
देखा न हमने छोट (आभा) याकूत की कभू
था जो समां लबों के तिरे रंग-ए-पान का।

सुखी पान का आलम दहन-ए-तुंग में देख
गुंचा ओ गुल में किया जिसने गुलिस्तां पैदा।

केश-सज्जा

स्त्रियां आरंभ से ही केशों को संवारने पर विशेष ध्यान देती आई हैं। मनूची ने कहा है कि ''उन के सिर के बाल हमेशा बड़ी खूबसूरती से संवारे, गुंथे और तेल से सुगंधित होते थे।'' मिसेज मीर हसन अली लिखती हैं कि औरतें पहले बालों को अच्छी तरह धोती थीं फिर उन्हें सुखाती थीं और उनमें भारत का बना हुआ चमेली का तेल लगाती थी। इसके बाद बड़ी सफाई के साथ चोटी गूंथती थीं जो पीठ पर पड़ी होती थीं। चोटी के सिरों को सुर्ख मलमल की पट्टियों और चमकीले फीतों से संवारती थीं। केश-सज्जा के दो तरीके थे-चोटी और जुड़ा।

बंधा सिर पे जूड़ा, पड़ी जर्द शाल
कमर की लचक मटक की वो चाल।

मीर हसन देहलवी ने चोटी की प्रशंसा इन शब्दों में की है:

करूं उसके बालों की क्या मैं बयां
न देखा किसी रात में यह समां
वो जुल्फें कि दिल जिनमें उलझा रहे
उलझने से जी जिनके सुलझा रहे
वो कंघी, वो चोटी खिंची साफ-साफ
किनारी का पीछे चमकता यू बाफ[47]
क्या उसकी चोटी का क्या रंग-ढंग
कि जूं आखिरी शब हो झुमके का रंग
नुमायां थी यों ओढ़नी से झुमक
कि जूं अब्र[48] में बर्क[49] की हो चमक
मू बाफ ज़री ने किया है गजब
दिया है गिरह दिन को दिन बाल शब
सिंगारों में वो सब से गो है उतार
ये कहते हैं चोटी का उसको सिंगार
न हो क्योंकि चोटी का रुत्बा बड़ा
कि इक नूर है उसके पीछे पड़ा
गुल-ओ-संबल[50] उस पर से कुर्बान है
कि उसकी लटक में अजब आन है।

केशों को संवारने के लिए कंघी और शाने का प्रयोग किया जाता था। आज भी यही तरीका अपनाया जाता है। सिर के बालों के बीच जो सीधी रेखा होती थी वह 'मांग' कहलाती थी। माथे पर एक काला निशान बनाया जाता था ताकि नजर न लग जाए और चेहरे का आकर्षण भी बढ़ जाए। स्त्रियां फूलों के हार पहनती थीं। शरीर और परिधान को सुगंधित करने के लिए इत्र का प्रयोग होता था। बालों को ठीक करने और अपनी सुंदरता पर स्वयं रीझने के लिए दर्पण का प्रयोग किया जाता था। अंगूठे में आरसी पहनी जाती थी। जिसमें दर्पण की भांति एक नग जड़ा होता था।

आनंद राम मुख़्लिस ने लिखा है कि स्त्रियां एक प्रकार का मरहम तैयार करती थीं जिसका प्रयोग मस्तक और भौंहों को चमकाने के लिए किया जाता था। यह मरहम फ़ारसी में 'जीगा' कहलाता था। लिखा है–

''वे चावल से एक चीज बनाती थीं और उसमें कलौंच मिलाकर चमक पैदा करने के लिए माथे और भौंहों पर लगाती थीं। हिंदुस्तान में यह क़ायदा है कि स्त्रियां सोने और चांदी के अति सूक्ष्म कण सज्जा के लिये माथे और भौंहों में चिपका लेती थीं।''

उपर्युक्त सौंदर्य-प्रसाधनों पर उर्दू शायरी में सैकड़ों शेर मिलते हैं। नमूने के लिए कुछ शेर प्रस्तुत हैं–

जो मिस्सी है दो दिन की तो है वही
जो कंघी नहीं है तो यूं ही सही
भरी थी दिलों से ज़बस उसकी 'मांग'
बहुत दिल लिए उसने कंघी से मांग।

–मीर हसन देहलवी

सिर के ताबीज़ सितम और फतह पेच गजब
बाल महके हुए चोटी की गुंधावट खासी।

–सोज़

हर सहर आईना रहता है तेरा मुंह तकता
दिल की तकलीद न करता तो हैरां होता
याद-ए-अय्याम के खूबी से खबर तुझको न थी
सुरमा ओ आईना की और नज़र तुझको न थी।
फ़िक्र आरास्तगी शाम ओ सहर तुझको न थी
जुल्फ आशुफता की सुध दो-दो पहर तुझको न थी।
हमेशा माइल-ए-आईना ही तुझे पाया
जो देखीं हमने यही खुद नुमाइयां देखीं

–मीर

वो अपनी मांग संवारे जो लेके आईना
तो कह कशां की वहीं कद्र सारी जावेगी

-इंशा

मेंहदी

अपने हाथ-पैर और तलवों की सजावट के लिए स्त्रियां मेंहदी या हिना का प्रयोग करती थीं। मनूची का कथन है कि औरतें अपने हाथ और पैरों को रंगीन करने के लिए मेंहदी लगाती हैं। शादी ब्याह के अवसर पर विशेष रूप से दूल्हा और दुल्हन के हाथों पर मेंहदी लगाई जाती थी। अतएव यह एक प्रथा बन गई है। यह मेंहदी की रस्म कहलाती थी। मेंहदी लगाना सुहाग की निशानी थी। आज भी इसका प्रयोग होता है-

अंगुलियों की पोर ऊपर मेंहदी रचाओं
पर हथेली बीच हरगिज मत लगाओ।

-आबरू

मत हिनाई पांव से चलकर कहीं जाया करो
दिल्ली है आखिर न हंगामा कहीं बरपा हो मियां।

-मीर

इस क़दर अर्क़ लहू में ये दिले ज़ार न था
जब हिना से तेरे पांवों को सरोकार न था

-यक़ीन

इस अल्मास की हाथ में अंगुशतरी
सरासर हिना दस्तोपा में लगो

सामान्य जीवन शैली

उर्दू शायरी में सामान्यतया और उर्दू मसनवियों में विशेष रूप से भारतीय संस्कृति एवं जीवन-शैली का गहरा प्रभाव मिलता है। इन मसनवियों में उपलब्ध भारतीय समाज के चित्र का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि मसनवियों का समूचा परिवेश विशुद्ध भारतीय है। किस्सों में नाम अवश्य काल्पनिक होते हैं लेकिन देश का वातावरण पूरी तरह भारतीय है। भले ही किस्सों के पात्र किसी अजनबी देश के क्यों न हों लेखक ने जब उस देश के सामाजिक वातावरण का निरीक्षण ही नहीं किया है तो वह ईमानदारी के साथ उसका चित्रण भी कैसे कर सकता है? इसलिए किस्से में आए स्थानों के नाम यदि गैर हिंदी भी हैं तो भी उन स्थानों का सामाजिक परिवेश भारतीय ही है। हिंदी भी हैं तो भी उन स्थानों का सामाजिक परिवेश भारतीय ही है। इसलिए

'मसनवी सहर-उल-बयान', ज़हर-ए-इश्क, फूलबन (इब्ने निशाती) और गुलशन-ए-इश्क (नुसरती) के विस्तृत अध्ययन से इस युग के भारतीय समाज को समझा जा सकता है। मिसाल के लिए मीर हसन देहलवी ने शहजादा बेनज़ीर की सवारी का जो नक्शा पेश किया है वह सीधे-सीधे मुगल बादशाहों के जुलूस का चित्रण है। सोने-चांदी के आभूषण, अमारियों से सजे हुए हाथियों की कतारें, पालकियां, नालकियां, शहनाइयों की आवाजें आदि सब भारत में मुगलों की जीवन-शैली के अंग हैं।

शाही महल के साजो-सामान का जिक्र भी शायर ने किया है। जब शहजादी बद्र मुनीर अपने बाग की एक इमारत में शहजादा बेनजीर के विश्राम के लिए साज़ो-सामान लगवाती है तब मीर हसन ने भारतीय घरों में काम में आने वाली वस्तुओं के नाम ही लिए हैं। मध्यवर्गीय घरों की बैठकों में इन वस्तुओं को देखा जा सकता है।

दिल्ली के बादशाहों के रहन-सहन और लाल किले के भीतर की जीवन शैली का मीर हसन ने जीवंत चित्र प्रस्तुत किया है-

सदा माहरूओं से सोहबत उसे
सदा जामा जेबों से रुगबत उसे
हजारों परी पैकर उसके गुलाम
कमर बस्ता खिदमत में हाजिर मदाम।

इसी प्रकार अवध के शासक नवाब सआदत अली खां के मनोरंजन की सभाओं का 'महजूर' ने सजीव चित्रण किया है।

हिदायत एक कसीदे में नवाब आसफुद्दौला की महफिल का जिक्र किया है। एक दूसरी जगह नवाब ताजउद्दौला और मीरक हुसैन खां की सभाओं का रमणीय दृश्य प्रस्तुत किया। 18वीं शताब्दी के अमीरों का जीवन भोग विलास से ओत-प्रोत था, वे सुरा-सुंदरी के प्रेमी थे। अब्दुल हई ताबां ने मसनवी दरमदह उस्ताद खुद हश्मत व उम्दतुल मुल्क ने अमीर खां अंजाम के राग-रंग की चर्चा की है।

इसी प्रकार इंशा ने लखनऊ की एक शाही हरम दुल्हन जान की प्रशंसा में एक क़सीदा लिखा है और उसकी नृत्य संगीत की महफिल का वर्णन किया है।

मीर हसन देहलवी ने अपनी 'मसनवी सहर-उल-बयान' में शाही खानदान की औरतों का नख-शिख वर्णन किया है। इसे पढ़ते हुए शाही महल के विलासप्रिय जीवन का चित्र आंखों के समक्ष उपस्थित हो जाता है। शायर ने खवासों और रंडियों के रूप का वर्णन भी किया है-

दवा दाइयां और मुगलानियां
फिरें हर तरह इसमें जलवाकनां
खवासों और लौंडियों का हुजूम

महल की वो चोहलें वो आपस के धूम।
तकल्लुफ के पहने फिरें सब लिबास
रहें रात दिन शहज़ादे के पास।
कनी जान महरू की हर तरफ रेल
चमेली कोई और कोई राय बेल।
रंगीली कोई और कोई शाम रूप
कोई चिक लगन और कोई काम रूप।
कोई केतकी और कोई गुलाब
कोई महरतन और कोई माहताब।
कोई सेवती और हंसमुख कोई
को दिल लगन और तनसुख कोई॥
कहीं अपने पटे संवारे कोई
अरी और बस कह पुकारे कोई।
कहीं चुटकियां और कहीं तालियां
कहाके कहीं और कहीं गालियां।
बजाते फिरे कोई अपने कड़े
कहीं होयरी और कहीं वाछड़े।
अदा से कोई बैठी हुक्का पिऐ
दम दोस्ती कोई भर भर जिए।
कोई हौज़ में जाके ग़ोता लगाए
कोई नहर पर बैठी पांव हिलाए।
कोई आरसी अपने आगे धरे
अदा से कहीं बैठी कंघी करे।

शाही महलों की खवासों और लौंडियों के नाम भारतीय फूलों पर आधारित थे। नज्मुलनिसा ने जोगन का वेश धारण किया था। मीर हसन देहलवी ने जोगियों और जोगनों के वेश और उनसे संबंधित दूसरी बातों का विशद वर्णन किया है।

मुगल शहज़ादों के परिधान एवं आभूषण

मुगल काल में बादशाह, शहजादे और अमीर ज़ादे आभूषण पहना करते थे। यह भी भारतीय संस्कृति का प्रभाव ही था। मीर हसन देहलवी ने एक शहज़ादे के शरीर पर सुशोभित आभूषणों का वर्णन किया है-

जवाहर सरासर पहनाया उसे
जवाहर का दरिया बनाया उसे
कड़े, कंगन और कलगी और नौरतन
किया एक से एक जेब-ए-बदन
वो मोती के मालेब सद जेब ओ ज़रीं
कहीं जिसको आराम जां दिल का चैन।

बाज़ार

मध्य काल के बाज़ार उस समय की संस्कृति तथा सामाजिक जीवन के प्रतिबिंब हुआ करते थे। साथ-साथ इन बाज़ारों से लोगों की आर्थिक स्थिति का अनुमान भी बखूबी किया जा सकता था। इन बाज़ारों में कहवाखाने थे जहां शायर और अदीब जमा होते थे और अपने विचारों का आदान-प्रदान करते थे। इन बाज़ारों में किशोर लड़कों के नृत्य होते थे और दर्शकों के मजमे लगते थे। यहां ज्योतिषी अपनी दुकानें सजाते थे और इनके आसपास लोगों की भीड़ होती थी। सांस्कृतिक दृष्टि से इन बाज़ारों का बड़ा महत्व था। लखनऊ के बाज़ार का एक चित्र देखिए-

''इस बाज़ार में बड़े हंगामें हैं...अजब जलसा है। ढोलक बज रही है। शेर पढ़े जा रहे हैं, कुछ लोग जलकर कहते हैं, मियां क्या खुश हो, मियां आतिश साहब का वासोख्त[51] पढ़ो। शेर से शेर लड़ते, अब चौदहवीं को मुशायरा होगा। उस्ताद मटरू व मदारबख्श आएंगे। हस्सू खां फैज़ाबादी से तकरार पड़ी है। बड़ी याद करके आया है। बारह पहर पढ़ता है। हमें चार दिन की याद है, शेख घसीटा हमारा उस्ताद है।''

फ़ैजाबाद का बाजार

मीर हसन देहलवी ने गुलजार-ए-इरम में फैजाबाद के बाजार की चहल-पहल और खरीद-फरोख्त की गर्म बाजारी का बड़ा ही रोचक दृश्य प्रस्तुत किया है। एक ओर जौहरी, बजाज़ और सुनार व उनके दलाल लोगों को आवाजें दे दे कर अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। कपड़ों की दुकानों में किनारी, गोटे और मलमल के थान सजे हुए हैं। कहीं तरबूज और खरबूजों के अंबार लगे हुए हैं, कहीं मालिनें खड़ी फूलों के हार बेच रही हैं। कोई मोतियों के फूल बेच रहा है। कोई आवाज लगा रहा है कि ''गन्ने की गंडेरियां हैं, मिसरी की डलियां हैं''। कोई फिरनी और फलूदे को सकोरों में रखकर बेच रहा है। कहीं मेवाफरोश, कहीं खोमचे वाले, कहीं नमकीन और चने वाले। कोई सौंठ, खटाई, कोई पट्टी, कोई खताई, कोई चाट, एक तरफ खाने की दुकानें हैं, जिनमें खुश्का, सालन बाहर निकला रखा है, कहीं कबाबी शीर माल वाले, रोटियों

वाले, दूध मलाई वाले, हलवाई, पचलौना और पाचन वाले, खीर वाले, रेवड़ी वाले दुकानें लगाए हैं। कहीं घास बेचने वाले, कहीं कहवा की दुकानें हैं, कहीं इलाकाबंद, मोची, आईनासाज आदि दिखाई देते हैं। गर्ज कि हर पेशावर आवाजें लगा-लगाकर राहगीरों को अपनी तरफ बुला रहे हैं। इन बाजारों में नाच और गाने के मज्मे होते थे। कबूतरबाज और ऐयाश तबियत के लोग जमा होते थे और उनमें हिंदू व मुसलमान सभी कौमों के लोग दिखाई देते थे।

दिल्ली का चांदनी चौक बाज़ार

चौक नाम के बाज़ार उत्तर भारत के लगभग हर शहर में पाए जाते थे। लेकिन दिल्ली का चांदनी चौक अपनी सुंदरता और सजधज के लिए देश भर में विख्यात था और दूर-दूर से लोग इस शहर को देखने के लिऐ आते थे। दरगाह कुली खां ने अतिशयोक्ति से काम लेते हुए यहां तक लिख दिया है कि परिंदे भी इस बाज़ार की रौनक की वजह से जमीन पर गिर पड़ते हैं। मीर हसन देहलवी ने इस बाज़ार का चित्र निम्नांकित शेरों में प्रस्तुत किया है-

ये दिलचस्प बाज़ार था चौक का
कि ठहरे जहां पर वहीं दिल लगा।
जहां तक कि रस्ते थे बाज़ार के
कहे तो के तख्ते थे गुलज़ार के।
वो पुख्ता मकानों के दीवार ओ दर
सफेदी पे जिसकी न ठहरे नजर।
सफ़ा पर जो उसकी नज़र कर गए
उसे देखकर संग मर मर गए।

उस दौर की उर्दू शायरी में दिल्ली के दूसरे बाज़ारों का भी ज़िक्र मिलता है। लेकिन उनका विस्तृत ब्यौरा नहीं मिलता।

चावड़ी बाज़ार

चावड़ी मराठी भाषा का शब्द है और थाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मराठों के प्रभुत्व के दौर में यहां पुलिस स्टेशन था। हौज़ काज़ी से जामा मस्जिद की ओर जाने वाली सड़क पर यह बाज़ार आज भी इसी नाम से जाना जाता है। 'सौदा' के एक शेर में इसका हवाला मिलता है। उसने कोतवाल पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि ठीक थाने के रास्ते में भी लूट-पाट की घटनाएं होती हैं।-

देखी हमने जो राह चावड़ी की
पश्म है रहज़नी तलावड़ी की।

खास बाज़ार

यह भी मुगल कालीन दिल्ली का एक बाज़ार था। यह बाज़ार वहां स्थित था जहां वर्तमान में एक बड़ा परेड ग्राउंड हैं। यहां पहले पांच बड़े मुहल्ले और बाज़ार थे जिनमें बेगम बाज़ार, खास बाज़ार ज्यादा प्रसिद्ध थे। कहा जाता है कि 1857 में इन इलाकों के लोहार हथियार ढालते थे और विद्रोहियों को सप्लाई करते थे। इसलिए अंग्रेजों ने सारे इलाके पर बुलडोजर चलवा दिए। ये बाज़ार 'ग़ालिब' के समय में ध्वस्त कर दिए गए थे। उनके पत्रों में इस घटना के अक्सर हवाले मिलते हैं।

खास बाज़ार पर 'सौदा' का एक शेर भी है-

खास बाज़ार का जो सुनिए बयान
ओन ने सब के काट डाले कान।

गुदड़ी बाज़ार

गुदड़ी शब्द कदाचित उर्दू के 'गुज़री' का अपभ्रंश है। जिसका अर्थ होता है ठंडी सड़क। आज ऐसे बाज़ार को माल रोड कहते हैं। लगभग हर शहर में गुदड़ी बाज़ार मौजूद है। जहां लोग शाम को घूमने जाया करते हैं। दिल्ली के गुदड़ी बाज़ार में प्रायः कबूतर बेचने वाले होते थे। जैसा कि सौदा के एक शेर में आता है-

वो तोपची का हरगिज़ हमको लिखे न नामा
गुदड़ी में जा कबूतर लेता है मोल गो ले।

मुसहफी का एक शेर है -

होता है सरे शाम तमाशा गुज़री का।

उर्दू बाज़ार

दिल्ली में जामा मस्जिद पर आज भी उर्दू बाज़ार मौजूद है। लेकिन उसका मुगलकाल के उर्दू बाज़ार से कोई संबंध नहीं है। इसे देहली म्यूनिसपल्टी ने अंग्रेजों के जमाने में यह नाम दे दिया था। असल उर्दू बाज़ार लाल किले से सटा हुआ था और 1857 के बाद बेगम बाज़ार और खास बाज़ार की तरह इसे भी धराशायी कर दिया गया था। उर्दू बाज़ार का यह नाम किले के नाम के अनुकरण पर रखा गया था। किले को उर्दू-ए-मुअल्ला कहा जाता था। फ़ायज़ देहलवी ने अपने एक शेर में इस बाजार का उल्लेख किया है-

मेवा और शीरीनी है सब इक्साम
उर्दू बाज़ार ले गया है तमाम।

घरेलू वस्तुएं

घर के दरवाजों पर प्रायः ओट के लिए चिकें डाली जाती थीं। उर्दू शायरी में इनका जिक्र मिलता है। दालान के फर्श पर चांदनी, कालीन और चादर बिछाए जाते थे। मसनद दालान या बैठक कक्ष का वह ऊंचा स्थान होता था जहां मकान मालिक विराजमान होता था-

देख इंशा को एक हूर निज़ाद[62]
खड़े दूं को चिक की ओर लगे
फूलों की सेज पर से जो बेदिमाग उठे
मसनद पे नाज़ की जो त्योरी चढ़ा के बैठे।

तहखाने और खसखाने

भारत में ग्रीष्म की अधिकता के कारण उच्च और मध्य वर्ग के लोग अपने मकानों में तहखाने भी बनवाते थे। मुगल बादशाह और उनके अमीर गर्मी की दोपहर खसखानों में बिताया करते थे।

आवारा पड़े फिरते हैं क्यों धूप में साहब
तहखाने में सो रहिए न, चलती है हवा गर्म।
हैं ये मिजगां इस नमत दामे हवस की टट्टियां
जिस तरह गर्मी में छिड़की जाएं खस की टट्टियां

पंखा

गरीब और निचले वर्ग के लोग गर्मी में हाथ या छत के पंखों से अपना काम चलाते थे। नज़ीर अकबराबादी ने 'बरसात की उमस' शीर्षक से एक कविता लिखी है।

पंखे कोई पकड़े कोई खोले हैं खड़ा बंद
दम रूक के धुला जाता है गर्मी से हर एक बंद।

नज़ीर ने पंखे पर भी एक पूरी कविता लखी है। कुछ पंक्तियां देखिए-

क्या मौसम-ए-गर्मी में नमूदार है पंखा
खूबों के पसीनों का खरीदार है पंखा।
गुलरू का हर एक जा ये तलबगार है पंखा

अब पास मेरे यार के हर बार है पंखा।
गर्मी से मुहब्बत की बड़ा यार है पंखा।

स्नान की वस्तुएं

सामान्यतया चौकी पर बैठकर स्नान किया जाता था और झांबे से शरीर का मैल साफ किया जाता था-

शेख ज्यू साहब जो नहाते मश्क से बैठे चौकी पर
मूंडी मांडी चंदिया पर क्या खूब तरेड़ी पड़ती है।

घरेलू बर्तन

खाना बनाने और खाने के लिए आमतौर पर देगों, देगचियों, कड़ाहियों, हंडियों, रकाबियों और थालों आदि की आवश्यकता होती थी। हाथ मुंह धोने के लिए आफताबा या लोटा काम में आता था-

मुंह धोने उसके आता है अक्सर आफ़ताब
लगावेगा आफताबा कोई खुदसर आफ़ताब।

मध्यकाल में मिट्टी के पात्रों का आम प्रचलन था और वर्तमान समय में भारत के देहातों और कस्बों में आज भी मिट्टी के बर्तन बहुत ज़्यादा इस्तेमाल किए जाते हैं। नज़ीर अकबराबादी ने 'कोरे बर्तन' शीर्षक से एक नज़्म लिखी है। जिसमें गोली, मटका, ठिया, लोटा, कूजा, झजर, सुराही आदि बर्तनों के नाम गिनाए हैं।

ओढ़ना बिछौना

पलंग- तुमने पलंग और बिछाया तो क्या हुआ
तुम जानते हो मुझको कि मैं हूं पिलंग-ए-फर्श

चारपाई- चारपाई वो लगा फांद के आई किस राह
ऐसी दीवार बड़ी से अजी ये बात गलत।

मुसहफी ने 'दर हिजू चारपाई' नाम से एक मसनवी लिखी है। जिसमें चारपाई के दोषों का वर्णन किया गया है। 'मीर' ने अपनी मसनवी 'दर हिजू खाना ए खुद' में चारपाई का जिक्र किया है।

छपरकट

वह बड़ा पलंग जिसके चारों पायों में ऊपर की तरफ भी डंडे लगाकर छत का मंडप बनाया जाता था। इस पर मच्छरदानी तान लेते थे।

इतनी रची हुई है ये परदों में किसकी बास
यों मैंने गिरके शब जो छपरकट से गश किया।

सर्दी के मौसम में लोग रजाई और लिहाफ का प्रयोग करते थे-

जाड़े में क्या मज़ा हो वो तो सिमट रहे हैं
और खोल कर रजाई हम भी लिपट रहे हैं।

मुसहफ़ी ने शहज़ादा सुलेमान शिकोह को एक 'कता' लिख कर भेजा था जिसमें उन्होंने सर्दी से बचने के लिये गर्म कपड़ों का अनुरोध किया था। इस कते में लबादा, पट्टू और शाल आदि का जिक्र आया है। मध्य वर्ग के लोग सर्दी में शाल, दुशाला और कंबल आदि का प्रयोग करते थे।

तकिया

सिरहाने तकिया रखने का रिवाज था-

तकिया तेरे सिरहाने का सूंघ के गशन क्यूं हूं मैं
आती है वाह, जोर बास तेरे इस गिलाफ में।

खाद्य और पेय पदार्थ

कुलचा

यह एक तरह की खमीरी रोटी होती है-

किसी हसीन का एक मुंह तो था ही कुलचा सा
रचावट और हुई अबके उसपे तिल लिपटे।

पंजरी

एक प्रकार की मीठी चीज़ जो खरबूजों के बीजों से तैयार की जाती थी। ये बीज घी और शक्कर के साथ भूनकर मैदे या सूजी में मिला देते थे।

क्या वो पंजरी सीली पीली अजी
जो कि होठों में मुरभुरी न लगे।

समोसा

है एक कनाअत को फ़कत नाने जिवी[53] बस
दरकार नहीं उनके तकल्लुफ के समोसे।

खागीना

अंडे और प्याज में मसाला मिलाकर उसे भूना जाता है। उसे खागीना कहते हैं-

न दमड़ी जोड़ खागीना पकाया
कि है मुर्गी का काम अंडों को सेना।

कहवा पान

अठारहवीं शताब्दी में कहवा पीने का आम रिवाज था। शायरी में कहवा के अनगिनत हवालों से ऐसा पता चलता है। किसी उत्सव या सामाजिक कार्य के अवसर पर पान की तरह कहवे से अतिथि सत्कार किया जाता था। चांदनी चौक दिल्ली में कहवे की दुकानें थीं जहां अदीब और शायर जमा होते थे। न अब वह चांदनी चौक रहा और न वे कहवाखाने। शाह हातिम ने कहवा पर एक पूरी मसनवी लिखी है। इसका एक अंश प्रस्तुत है-

अनीस[54] रूह ओ जान ओ राहते दिल
जलीसे बज्म[55] औ रौनक़ बख्श महफिल।
बराए हुरमत अफ़ज़ाई[56] तवाज़े[57]
तवाज़े इसकी है जा-ए-तवाज़े।
सभूं के हाथ मजलिस में प्याला
चमन सा खिल रहा यकदस्त लाला।
जहां देखो तहां हर आन कहवा
हे बज़्मे एश का सामान क़हवा।

उत्तर भारत के शहरों के बाजारों में कहवे की दुकानें होती थीं। फ़ैज़ाबाद के बाज़ार की एक दुकान का जिक्र मीर हसन देहलवी ने किया है।

'ज़िक्रे मीर' के अंत में लखनऊ में वारेन हैस्टिंग्ट के बुढ़ापे का जिक्र करते हुए मीर ने उस युग के भोजन के व्यंजनों के नाम गिनाए हैं। उस दौर में ऐसी पुस्तकें भी लिखी गई हैं जिनमें 'पाक कला' की विभिन्न शैलियों का वर्णन किया गया है। 19वीं शताब्दी के आरंभ में ऐसी एक पुस्तक 'ख्वान नैमत' के नाम से फोर्ट विलियम कॉलेज से प्रकाशित हुई थी।

पेशावर या व्यवसायी लोग

उर्दू साहित्य की शहर-ए-आशोब विधा में मुख्य रूप से पेशावरों के बारे में बहुत से हवाले मिलते हैं। धोबियों का जिक्र विशेष रूप से मिलता है। धोबी नांद में कपड़े धोते थे। नदी के किनारे धोबी घाट होते थे। जहां वे कपड़े ले जाकर धोया करते थे। इंशा ने धोबियों पर कई शेर लिखे हैं-

न मुतरिबों[58] की किसी ने सुनी तो वो नाचार
शुरू धोबियों की तरह खंड करते हैं।
आपकी गायन की क्या तारीफ कीजे वाह वाह
कोई धोबी घाट पर जिस रूप गाता हो वे खंड।

अंत्येष्टि संस्कार

मुसलमानों में किसी व्यक्ति की मृत्यु पर अदा की जाने वाली रस्मों पर हम पहले बातचीत कर चुके हैं। इसलिए यहां इन रस्मों से संबंधित उर्दू साहित्य से कुछ उदाहरण दिए जाते हैं। तीजा, दसवां, चालीसवां और बर्सी मुख्य रस्में हैं-

छुरी सी नाज की तू किसको बिस्मिल कर पसीजा है
न पढ़िए फातिहा यक रंग आशिक़ का ये तीजा है।

-शाकिर नाजी

न होने पाया चहल्लुम भी शहीदे नाज़ का तेरे
सितमगर आफ़री[59] कहिए तेरे मेंहदी लगाने पर

-ज़फ़र

आमतौर पर कब्र पर फूल और मेंहदी चढ़ाई जाती थी-

मेरी मज़ार पर रख दीजियो गुल व मेंहदी
कि मैं शहीद हूं इस पंजा-ए-हिनाई का
फूल चढ़ाने दौने लाए गौरे ग़रीबां[60] पर आऐ
कुश्ता नाज निहां की तेरी कब्र फरिश्ते भूल गए।

स्त्री का वैधव्य

विधवा स्त्री को एक विशेष प्रकार का लिबास पहनाया जाता था जो हिंदुस्तानी जबान में रंडसाला कहलाता था।

चादर ओढ़े मलगजी बैठई सीस नवाए

-सौदा

रंडसाला लाए उसको शबे अक़्द[61] की सुबह
सामान ये हो हुसैन की दुख्तर[62] के वास्ते।

-मुसहफी

रीति-रिवाज

हर देश का साहित्य वहां के सामाजिक परिवेश को प्रतिबिंबित करता है। उर्दू साहित्य में भी मध्यकाल के सामाजिक जीवन के सूक्ष्म ब्यौरे बहुतायत के साथ मिलते हैं। जातेष्टि से लेकर अंत्येष्टि तक के संस्कारों पर विवरण मिलता है। हम पिछले अध्यायों में मुसलमानों के रस्मोरिवाज पर बातचीत कर चुके हैं। यहां केवल उर्दू साहित्य से कुछ उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। इन उदाहरणों से यह बात सिद्ध हो जाएगी कि उर्दू साहित्य भारतीय परिवेश से बहुत गहरे में जुड़ा हुआ था।

जन्म

यदि बादशाहों और अमीरों के यहां बच्चे के जन्म की उम्मीद होती तो ज्योतिषियों को बुलाकर जन्म के संभावित समय का पता लगाया जाता। यदि पुत्र जन्म होता तो नगाड़े और दूसरे साज़ बजाए जाते या तोप दाग़ कर जन्म की घोषणा कराई जाती थी। इसके विपरीत गांव के गरीबों के यहां पुत्र-जन्म होता तो वे पीतल की थाली बजाकर हर्ष व्यक्त करते थे। मीर हसन देहलवी ने एक बादशाह के यहां पुत्र-जन्म के हर्ष का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है-

मुबारक तुझे ऐ शहे नेक बख़्त[63]
कि पैदा हुआ वारिसे ताजो तख़्त
नकीबों[64] को बुलवा के यह कह दिया
कि नक्कार ख़ाने में दो हुक्म जा।
कि नौबत खुशी की बजा दें तमाम
ख़बर सुन के ये शाद[65] हों ख़ासोआम।

नृत्य संगीत

किया भांड और भगतियों ने हुजूम
हुई आहे आहे मुबारक की धूम
लगा कंचनी चूना पुरनी तमाम
कहां तक मैं लूं नृत्यकारों के नाम।

धन न्यौछावर करना

दिये शाह ने शहज़ादों के नांव
मशायख़[66] को और पीर ज़ादों को गांव
खवासों को खूजों को जोड़े दिए
प्यादे जो थे उनको घोड़े दिए
खुशी में किए यां तलक ज़र निसार
जिसे एक देना था बख़्शे हज़ार।

छठी

छठी तक ग़रज़ थी खुशी ही की बात
कि दिन ईद और रात थी शबे बरात।

इसी प्रकार छूछक, छुट्टी, जच्चा को तारे दिखाना, मृग मारना, सालगिरह, नवजात शिशु का दूध छुड़ाना, बिस्मिल्लाह-ख़्वानी, रतजगा आदि की रस्मों का भी उर्दू साहित्य में उल्लेख मिलता है।

हज़रत फ़ातिमा की सहनक[67] की फ़ातिहा और रतजगा से संबंधित उदाहरण भी मिलते हैं-

रात को हो रतजगा दिन को सहनक भी शहा
धूम ये शामोसहर आज हो कल भी हो।

विवाह की रीतियां

विवाह की सबसे पहली रीति है वर या कन्या की तलाश। इसे सगाई की रस्म कहते हैं। फिर मंगनी, शादी, बरात, साचिक, मेहंदी आदि की रस्में निभाई जाती थीं। 'सौदा' ने अपने मर्सियों में शादी से संबंधित सभी रस्मों का उल्लेख किया है-

रिश्ते की तलाश

कई जो नारी वो बूढ़ियां थीं जसोदा जी ने उन्हें बुलाया
किसी को इधर किसी को उधर सगाई ढूंढन कहीं भिजाया।
जो भेद था अपने मन के भीतर सो सभों के लिए जताया।

लड़के को देखने की रस्म

नक़्ल है एक शख़्स की निस्बत[68]
ठहरी इक जा पे जब बसद रूग़बत[69]
रस्म है देखने की ऐ यारो
हर जगह में बुलाते दूल्हा को।

सगाई

ठहराओ सगाई गौरां की शुभ सायत से तुम उसके घर।

मंगनी

ग़रज़ जिस वक्त मंगनी का निशां उस शह को आया था।

लगन धरना

जब दोनों पक्ष तैयारियां कर लेते तो विवाह की तिथि निश्चित की जाती और यह रस्म शादी की लगन धरना कहलाती थी-

धरना लगन इस ब्याह का ज़नहार[70] न मानो
किरदार फ़लक में न समझता हूं तो जानो।
गिर्द उसके खड़े पीटे हैं सब सीना व ज़ानू[71]
भर तास[72] धरा खून का नाम लगन धरना।

पीली चिट्ठी भेजना

तब राजा ने हर पंडित से वां लगन महूरत की पूछी
सब बोले माह महीने की सुभ सायत है और नेक घड़ी।
दिन ठहरा ब्याह ने आने का शुभ सायत शादी लगन धरी
तब राजा ने शिव शंकर को इस बात की पतरी लिख भेजी।

दूल्हा के हाथ में कंगन बांधना

बांध कंगन तेरे सुख करने को
क्या मैं जाने थी कि यूं बिछड़ेगा हाथ।

माइयों बिठाना

माइयों बदले दूल्हे के मातम में ला बिठलाई है।

साचिक

काना हुआ वो सर था जो साचिक़ का जतावा
गर्दन का ख़ते ज़ख़्म था मटके का कलावा।

मेंहदी

जो ख़्वान के दुल्हन के लिए मेंहदी का आया
दूल्हा का लहू हाथों में दुल्हन ने लगाया।

शहना गाना

सुहले ये डोमनियां गाती हैं लेके जब धूल
शेख़ जी तुम भी समझते हो कुछ सुहलों के बोल।

बरात

बरात प्रस्थान से पहले दूल्हा को नहला धुलाकर बरी का जोड़ा पहनाया जाता था। आभूषण और गजरों से सजाया जाता था। कुछ रस्में होती थीं, जैसे मंडवे के नीचे नहलाना, तेल चढ़ाना, कंगन बांधना, गले में हार-गजरे डालना आदि। 'नज़ीर' ने एक नज़्म में बरात के आगमन, प्रीति भोज, फेरे, दहेज, विदा और बरात की वापसी का विस्तार के साथ वर्णन किया है।

मीर हसन देहलवी ने भी एक बरात का चित्र खींचा है। शाह कमाल ने अलिफ़ खां के बेटे की शादी के अवसर पर क़ुसीदा लिखा था। इस अवसर पर नृत्य और संगीत का आयोजन भी हुआ था।

धंगाना

देखें नकीस मेंहदी अकबर शाह की सब नारी बनी परियां
सब समधन मिल द्वार रोक खड़ीं ले हाथों में छड़ियां।

समधनों की आपस में गाली-गलौच

उतरने की वां समधनों की हवन
खिलें फूल जैसे चमन दर चमन
गुलों में पिनहाना वो हंस हंस के हार
सरासर वो फूलों की छड़ियों की मार।
दिखाना वो बन-बन के अपना बनाव
वो आपस की रस्में वो आपस के चाव।
क़हाके, हँसी, शोरोगुल, तालियां
सुहानी-सुहानी नई गालियां।

-मीर हसन

नज़ीर अकबराबादी ने समधन के विषय पर एक पूरी नज़्म लिखी है-

करूं किस मुंह से ऐ यारो बयां मैं शान समधन की
लगी है अब तो मेरे दिल को प्यारी आन समधन की।
कमर नाजुक, मटकती चाल, आँखें शोख, तन गोरा
नज़र चंचल, अदा छपियल ये है पहचान समधन की।
सुनहरी ताश का लहंगा, रूपहली गोट की अंगिया
चमकता हुस्न जौवन का, झमकती आन समधन की।

18वीं शताब्दी में नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद नैतिक मूल्यों की पकड़ कमजोर पड़ चुकी थी। जहांगीर के जमाने में यह हाल था कि बादशाह अगर लाल कुंवर की बांहों में होता और संयोग से कोई मुसाहिब अंदर चला आता तो मुस्कराकर सिर झुका लेता था। लज्जा और मर्यादा लेशमात्र नहीं रही थी। इसलिए शादी-ब्याह के अवसरों पर अश्लील मज़ाक़ होते थे और एक दूसरे को गालियां दी जाती थीं। समधन और समधी एक दूसरे का नाम ले लेकर अश्लील गालियां देते थे। 'नादिरात-ए-शाही' में इस प्रकार की गालियां भरी पड़ी हैं। भौंडापन शायरी का स्थायी भाव बनता जा रहा था।

समधन तेरी तंग बहुत है सुंदर सुघड़ अनूठी
उंगरी जात नहीं है वा में ऐसी लाल अंगूठी।

-शाह आलम सानी

दूल्हा का सिंगार

उरूसी[73] वो गहना वो सोहा लिबास
वो मेहंदी सुहानी वो फूलों की बास
भला सुर्ख जूड़े पे इत्र-ए-सुहाग

खुले मिल के आपस में दोनों के भाग
खजूरी वो चोटी ज़री का मूबाफ़[74]
कि ज्यूं दोद के बाद शौला हो साफ
उरूसाना उसने किया जो लिबास
तो आने लगी खून की उसमें बास!

सुहाग और घोडियां

'मुसहफी' ने एक मुस्लिम स्त्री की कहानी लिखी है, जिसकी शादी एक मुगल से हुई थी। इस शादी के अवसर पर दुल्हन के सिंगार का वर्णन किया है। इन दिनों सुहाग और घोड़ियां नामक गीत गाए जाते थे। दुल्हन के घर में बड़ी रौनक और चहल-पहल होती थी।

जब आई वो दुल्हन के घर पर बरात
कहूं वां के आलम की क्या तुमसे बात।

निकाह

पाणि-ग्रहण को धार्मिक रूप देने के लिए मुसलमानों में निकाह और हिंदुओं में सप्तपदी (फेरों) की रीति का पालन किया जाता था। इसके बाद बरातियों में हार, पान, शर्बत पिलाने और खासदान बांटने की रस्में अदा होती थीं।

हुआ जब निकाह और बंटे हार-पान
पिला सब को शर्बत दिए खासदान।

इसके बाद सेहरे पढ़े जाते थे। यह रीति विशुद्ध रूप से भारतीय थी। सेहरा लिखने की शुरूआत उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से हुई। सेहरे दो प्रकार के होते थे। एक रिवायती सेहरे जिन्हें डोमनियां हर खुशी के मौक़े पर गाती थीं। दूसरे वे सेहरे जो शायर दूल्हा की शान में पढ़ा करते थे। या तो वे स्वयं पढ़ते थे या गायक कलाकारों से गवाते थे। इस सिलसिले में 'जौक़' और ग़ालिब और बहादुरशाह ज़फ़र के सेहरे उल्लेखनीय हैं।

इसके बाद दूल्हे को ज़नान-खाने में ले जाया जाता था और इस अवसर पर भी विभिन्न प्रकार की रस्में अदा होती थीं।

चौथी

रुख़सती (विदा) के चौथे दिन दुल्हन के मायके वाले आते थे। यह रस्म चौथी कहलाती थी। इस दिन दुल्हन अपने पति को साथ लेकर अपने पीहर जाती थी। साथ

में ससुराल की औरतें भी होती थीं। इस अवसर पर दोनों पक्षों की औरतें रंग से खेला करती थीं।

उठाया उसी धाम में लगते हाथ
परीज़ाद का ब्याह चौथी के साथ।

आभूषण

अपने शरीर के अंग-प्रत्यंगों को सुसज्जित करना स्त्रियों की स्वाभाविक वृत्ति है। जमीला ब्रजभूषण का कथन है, ''खूबसूरती और ज़ेवरात से फ़ितरी लगाव इंसान और खुदा दोनों में एक-सा पाया जाता है। सुंदरता की आध्यात्मिक कल्पनाओं का मनुष्य के आचरण से गहरा संबंध है। सुंदरता की कल्पना की जड़े ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना में निहित हैं।''

भारत में आभूषणों के प्रयोग को एक धार्मिक रूप दे दिया गया था। क्योंकि इन्हें सुहाग का चिह्न माना जाने लगा था। इस दृष्टि से हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों की औरतों में गहनों को बराबर अहमियत हासिल थी। इसलिए एक हिंदू स्त्री अपने शरीर पर एक न एक गहना अवश्य पहनती थी। क्योंकि इन्हें पहनने से बुरी नज़र से बचाव हो सकता था। मुसलमान औरतें अक्सर अंगूठी में अरबी की आयतें खुदवा कर पहना करती थीं। इसी प्रकार हिंदू भी मंत्र आदि खुदवा लेते थे। अबुल फ़ज़ल ने लिखा है:

''हर शख़्स इन जेवरात को जड़ाऊ या सादा बनवाते हैं और तरह-तरह से पहनते हैं। ज़ेवर साज़ी के अजायब का क्या बयान करूं? उनकी नज़ाकत और हुनरमंदी यहां तक पहुंच गई है कि एक तोले सोने के जेवर की बनवाई दस तोले तक दी जाती है। जहांपनाह ने नई-नई बनक के ज़ेवरात ईजाद किए हैं।''

कुल मिलाकर भारतीय स्त्रियां प्राचीन काल से ही अपने-आपको सजाने और अपने ऊपर भारी आभूषण लादने की शौकीन रही हैं। मुगल बादशाहों के युग में इन पारंपरिक प्रथाओं पर आचरण किया जाता रहा। भारत आने वाले सभी यात्री इस बात पर एकमत हैं कि आभूषण यहां कि स्त्रियों की हार्दिक प्रसन्नता का आधार रहे हैं। यदि दुर्भाग्य से कोई स्त्री विधवा हो जाती है तो वह सभी प्रकार के आभूषणों से वंचित हो जाती थी।

पति की मृत्यु के बाद मुसलमान स्त्रियां भी ऐसा ही करती थीं और सभी जेवरों को त्याग देती थीं।

लड़कियों में किशोरावस्था से ही आभूषणों के प्रति आसक्ति बढ़ जाती थी। लड़कों के कान और लड़कियों के नाक-कान बचपन में ही छिदवा दिए जाते थे।

माता-पिता की आर्थिक स्थिति के अनुसार सोने, चांदी या तांबे के आभूषण इनमें डाल दिए जाते थे और ये छेद उम्र बढ़ने के साथ भारी वज़न के आभूषण सहन करने लगते थे। हर बच्चे की कमर में सोने या चांदी की ज़ंजीर डाली जाती थी जिसमें घुंघरू पड़े होते थे। पैरों में बेड़ियां और घुंघरू डाले जाते थे।

जहांगीर के युग में एक नया आभूषण 'जहांगीरी' (पत्थरों से जड़ाऊ पहुंची) ईजाद किया गया था जो कलाइयों में पहना जाता था। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी तक इन आभूषणों की संख्या बढ़ते-बढ़ते 125 तक पहुंच गई थी। इनमें से अनेक आभूषण मुगल काल की देन थे। और उन्हें फ़ारसी नाम दे दिए गए थे। इन सभी आभूषणों का मुसलमान औरतों में प्रचलन था और आज भी है। स्थानाभाव के कारण यहां केवल कुछ आभूषणों का उल्लेख किया जा रहा है। उर्दू साहित्य में आभूषणों का जगह-जगह ज़िक्र मिलता है, ये सब भारतीय थे, जैसा कि इनके नामों से स्पष्ट होता है।

उर्वशी

यह संस्कृत का शब्द है। यह आभूषण स्त्रियों के वक्ष पर शोभा पाता है। उर्दू में इसे धुकधुकी भी कहते हैं-

दोलड़ा माला बद्धी उरबसी
और इन बारी में कहने के फंसी।

अनोट

एक घुंघरूदार ज़ेवर जो पैरों के अंगूठों में पहना जाता था-
वही सरासरी, चंपाकली, वही गहने
वो टीका, बीने, वही झुमके, वही अनोट।

अंगूठी

हाथों की उंगलियों का आभूषण-
दिल छिला चाहे तो पहन अंगुश्तरी
जेब दे हाथों के तईं रश्के-परी।
शेब अगर खुश रंग जो असलूब
तो अंगूठी बीच रखना ठीक है।

आरसी

एक चांदी या सोने की सादा या मीना काट अंगूठी जिसमें एक छोटा सा गोल आईना जड़ा होता है और उसे औरतें हाथ के अंगूठे में इसलिए पहनती है कि वक्त जरूरत अपना सिंगार ठीक कर सकें।

आवेज़ा

एक प्रकार का आभूषण जो कानों की लवों में पहना जाता है-
आवेज़ा गुहर है बना गोश-ए-यार में
सर बा निगूं है इसके मुकाबिल गुसरे सुबह

बाला और बाली

सोने या चांदी का एक मुड़ा हुआ तार या गोल घेरा जो कानों में पहना जाता है। बाली भी कान का एक घेरदार ज़ेवर है, सादा या जड़ाऊ दोनों प्रकार की होती है-

फकत कानों में एक सोने का बाला
कि माह के हो गिर्द हाला

बाली की, न बुंदे की, न गौहर के हवाले
है दिल को किया जुल्फ मुअब्बर के हवाले

बिजली

कान में पहने जाने वाला एक सोने का जेवर जो सादा और जड़ाऊ दोनों प्रकार का होता है-

बिजली वो हर एक जीनत-ए-गोश
थी बर्क बराई खिर्मन होश।
न झमकें किस तरह कानों में उसके हुस्न के झुमके
इधर झुमका, उधर बुंदा, इधर बिजली का बाला है।

बुंदा

एक सुराहीदार नगीना होता है जो कानों में पहना जाता है-
बुंदा पहन के यूं तो न फिर ज़ेर-ए-आसमां
ऐसा व हो कि ज़ुहरा-ए-गर्दूं टपक पड़े।

बुलाक

एक़ ज़ेवर का नाम है जो दीवारबीनी में पहना जाता है-
चांद से तारे का होता है कुछ तो इत्तफाक
इस तरह मुंह पर तेरे प्यारे झमकता है बुलाके

बेसर

सोने से बना नाक का आभूषण होता है-

रहे हैं अब तो पास उस शौख़ के शामोसहर मोती
जिबीं पर मोती और बेसर में मोती, मांग पर मोती।

बानक

एक विशेष प्रकार के छल्ले का नाम है-
जो देखा मैंने उन मेहंदी भरे हाथों का हिल जाना
अंगूठी बांक छल्ले आरसी का फिर नजर आना।

बोर

चांदी या सोने के फूल, एक किस्म का जेवर या पांव के छोटे-छोटे घुंघरू-
शोख़ पर अपने जोर थे, उसके बरन भी ज़ोर थे
तोड़े, कड़े व बोर व छल्ले भी पोर-पोर थे।

भुजबंद या बाजूबंद

स्त्रियों की बांहों का आभूषण-
वो भुजबंद वाजू के और नूरतन
कि जूं गुल से हो शाख़ ज़ेबे-चमन।

बेसना

एक माथे का ज़नाना ज़ेवर जो झूमर की किस्म का होता है और अक्सर दुल्हनों को पहनाते हैं:
उस बुंदे के हम बंदे हैं वो बाला सबको दे बाला
मोती से सारी मांग भरी बेसने की झमक फिर वैसी है।

बाहू

बाहू, पहुंची, व कंगन पचलड़ी
सरसों थी पालग जवाहर में जड़ी।

बद्धी

दो लड़ा माला व बद्धी उरबसी।

पहुंची

हाथों का एक ज़ेवर जो चांदी या सोने का और जड़ाऊ या सादा होता है।
वो पहुंची जमर्रद की और दस्त बंद
नज़ाकत में शाख-ए-गुल से दो चंद।

पंचलड़ा, दो लड़ा, सतलड़ा

गले में पहनने की बहुत-सी ज़ंजीरें-
वो मोती का दो लड़ा, वो मोती का हार
सदा अश्क गम दीदा जिस पर निसार

लगा धुकधुकी, पंचलड़ा, सतलड़ा
सरासर गले हुस्न उसके पड़ा

पैजन

यह पैर का ज़ेवर होता है-
बयां क्यूं कर करूं इनमें रफ़्तार
करूँ तक़रीर क्या पैजन की झंकार

पाज़ेब

चांदी का बना पैर का ज़ेवर। इसमें घुंघरू डाले होते हैं इसलिए चलते समय आवाज होती है:

फकत मोतियों की पड़ी पायज़ेब
कि जिसके कदम से गुहर पाए ज़ेब

ताबीज़

एक सोने का ज़ेवर जिसे औरतें बांह पर बांधती थीं। यह सिर और गले का सिंगार भी है-

फ़कत ताबीज़ दरियाई क्या खुश रंग
बंधा बाजू में और खिंचा हुआ तंग।

तोड़ा

एक चांदी या सोने की ज़ंजीर सी होती है जिसे औरतें पांव में पहनती हैं। तोड़ा गले का आभूषण भी होता है। जो ज़ंजीर जैसा लगता है। तोड़ा हाथों में भी पहना जाता था-

सनम के नाज़नीं पांवों में क्या ये खूब तोड़े हैं
गोया अल्लाह ने अपने यद-ए-कुदरत से जोड़े हैं।
वो तोड़ा हाथ में तारों के बारीक
कि बिन देखे जहां हो जिसके तारीक।

टीका

माथे का एक जड़ाऊ आभूषण-
वो माथे पे टीके की उसकी झलक
सहर-चांद-तारों की जैसे चमक।

जुगनू या जुगनी

स्त्रियों का एक आभूषण जो गले में पहना जाता है-

जुगनू को न रख मेहर में शबनम में, अरी छोड़
एक ज़हर भरा मेरे दिल तंग में कीड़ा।
जुगनू जुगनू से जो चमकते थे
अश्के खून-ए-नाब टपकते थे।

जोशन

एक सोने या चांदी का आभूषण जो बांह पर बांधा जाता था-
क्या ये अक्से दाम कम है जोशान-ए-फ़ौलाद से।

झुमका

यह कान का ज़ेवर है-
सिर के बालों से अटक झुमके से उलझा तो क्या
अब लगा मुझको सताने ये निगोड़ा तावीज़।

जहांगीरी

चूड़ियों की भांति एक जड़ाऊ आभूषण, औरतें इसे हाथों में पहनती थीं-
जो जेवर उस कलाई में पड़ा है
जहांगीरी का नाम उसको मिला है।

छड़े

ये पैरों में पहनने के कड़े होते है-
फकत पांवों में सोने के कड़े थे
तकल्लुफ कुछ नहीं उनमें छड़े थे।

छल्ला

चांदी सोने या किसी अन्य धातु का बना नगीने का एक घेरा जो हाथ या पैरों की अंगुलियों में पहना जाता था-
वो मीने के पांव में छल्ले थे कुल
कि आंखों से दिल उनपे खाते थे गुल।
जवाहर के छल्ले भरे पोर-पोर
ज़री की टकी जैसे मखमल के फ़ौर

चूढानी

यह कान का आभूषण होता है-
जड़ाऊ जोड़ी चूढानियों की
और इक जोड़ी चमकती नौ नगों की।

चंपाकली

सोने या चांदी का एक आभूषण जो गले में पहना जाता था। इसके दाने चंपा की

कली की भांति होते थे।-

जड़ाऊ दमकती वो चंपाकली
रही जिससे अल्मास को बेकली।

चूड़ी

चूड़ियां सोने या चांदी की होती थीं। कांच या बिल्लौर या लाख की भी चूड़ियां बनती थीं। हाथ में पहनी जाती थीं-

एक तो आकत तेरी गोरी कलाई गोल है
और फिर इसमें गजब चूड़ी तलाई गोल है।

चांद

माथे पर पहनने का एक आभूषण-

चांद रहता था वो जो जेबे जिबीं
लाल मातम बना था होके हज़ीं

छन्नी

सोने या चांदी का जड़ाऊ या सादा जेवर जो हाथ की कलाइयों में चूड़ियों के बीच पहनी जाती थी-

चूड़ियों में हुस्न भरती हैं जड़ाऊ छन्नियां
या नगीने इश्क जड़ती हैं जड़ाऊ छन्नियां।

चंदनहार

गले का एक आभूषण जिसमें चंद्रमा के आकार की पत्तियां लगी होती थीं-

बनाया नौ रतन चंदन हार
जुगनू, चंपाकली, किरन फूल ऐ यार।

चंदनहार अब नहीं, हैं यारा-ए-दिल
कि रहते हैं गले में नित हमाइल।[75]

छागल

चांदी का आभूषण जो पैरों में पहना जाता है। जिसमें घुंघरू लगे होते हैं-

छागल के वो घुघरूओं की आवाज
उश्शाक[76] के दिल पर बर्कअंदाज[77]

-'मीर'

हमाइल

छोटी तक़्ती का कुरानशरीफ जिसे सोने या चांदी के पत्तरों में मढ़कर गले में डालते हैं-

रंग आशिक का न हो क्यों रश्क से असगर[78] जब हों
फूल गेंदे भी वहां जेबे हमाइल दो चार।

खलखाल

पाजेब जैसा पैर का एक आभूषण-
वो जो पांव में उसकी थी खलखाल
सूक कर हो गई थी रश्क हलाल।

दस्तबंद

मोती की लड़ियों जिनको स्त्रियां हाथों में पहनती थीं-
वो पहुंची जमरद की और दस्तबंद
नजाकत में थी शाखे गुल से दो चंद।

दुरे गोश

कान के निचले भाग में बाली की तरह का एक गोल छोटा सा आभूषण। इसमें एक मोती बड़ा होता था।

दुरे गोश जब उसका ताबिंदा हो
सढफ का दिल साफ और शर्मिंदा हो।

दो लड़ा

मोतियों का एक जेवर जिसमें दो लड़ियां होती थीं-
वो मोती का दो लड़ा वो मोती का हार
सदा अश्क गम दीदा जिस पर निसार।

रामझूल

पैरों में पहनने का एक चांदी का आभूषण-
माशूक हंसी भी हो गये राम
उस बुत ने जो रामझूल पहनी।

-इंशा

ज़ंजीर

गले में पतली एक सोने की ज़ंजीर
कि जूं मौजे हवा गुल की गुलूगीर।

सब्ज़ा

कान का एक सब्ज़ रंग का जेवर या सब्ज़बुंदा-
वो सब्ज़ा कान में ज़ेब बना गोश
कि जिसको देका तूती के उड़े होश

तोक

चांदी या सोने का बना गले में पहनने का एक आभूषण-
या उसका कभी हल्का वो साअद[79] सीमीं था
या हल्का आइन अब तोक़ अपने गुलू[80] का था।

अक्द गौहर

तेरे कानों में देखा मैं जब से अक़्देगौहर को
मेरी नजरों से प्यारे गिर गया है खोशा-ए-अंजुम।[81]

अलीबंद

सोने या चांदी का एक आभूषण जिसे शिया लोग लड़कों की कलाइयों में बांधते हैं-
मारा है आज अली बंद ने मुझे
दो अंगुलियों भी कम नहीं कुछ जुल्फिकार से।

कंगन

हाथों में पहनने का एक गोल आभूषण-
जैसे कंगन गया था हाथ से छूट
मोतियों की पड़ी थी माला टूट।

फीरोज़ी

एक प्रकार का कान का आभूषण। 'आईन-ए-अकबरी' में इसका उल्लेख नहीं मिलता। इसका चलन शायद बाढ में हुआ होगा-
सदक दुर थे गर आवेजा गौहर से वो कान
पहनी फीरोजी तो टुक और भ़ी संगीन हुए।

कौल का छल्ला

वह छल्ला जो प्रेमी-प्रेमिका स्मृति के रूप में एक एक दूसरे को भेंट करते थे। एक प्रकार का छल्ला जिसकी बनावट इस तर्ज़ की होती है कि उसका निचला भा बहुत संकरा होता है। लगता है जैसे दोनों सिरे एक दूसरे को वचन दे रहे हों।
छल्ले को कौलके वो कर बंद क्यों खोले
जब याद न होवे उसके तईं गर उसका।

-मुसहफी

उन अंगुलियों में कौल के छल्ले नजर पड़े
वल्लाह तुम तो सख्त चबल्ले नजर पड़े

-इंशा

कर्णफूल

कान का एक आभूषण होता है-

वो आखों की मिस्सी वो मिज़गा (पलकें) की नोक
कर्णफूल की ओर बाले की झोक।

कड़ा

बच्चों और स्त्रियों के हाथों या पांवों में पहनने का सोने चांदी का छल्ला जो जड़ाऊ या सादा होता है-

फिर उसमें हल्का-ए-ज़र्री पड़ा है
वो कहते है इसी खातिर कड़ा है।

-जुरअत

वो हाथों में सोने के मोटे कड़े
झलक जिसकी हर कदम पर पड़े।

-मीर हसन

कील

एक आभूषण जो लौंग के आकार का होता है। स्त्रियों नाक में पहनती हैं-

कील हीरे की किसकी नाम में है
सिरे दिल में गड़ी जो कौल सी है।

गोशवारा

यह कान का आभूषण है-

गोशचारे का गुहर मर जाये होकर बेकरार
देख तुझ रूख की सफाई कूं सदा पकड़े हैं कान।

गोखरू

यह एक कांटेदार आभूषण है। यह हाथ में पहना जाता है। इसे कंगन भी कहते हैं।

देख के लहराये ये दिल कहता है
गोखरू और बनत की बनावट खासी।

लच्छा

लच्छे हाथ और पैर दोनों में पहने जाते हैं। वह आभूषण सादा और जड़ाऊ दोनों प्रकार का होता है-

वो मख़्तूलों के लच्छे उनमें पुरकार
चमक से जिनकी शर्मिदा हो गुलज़ार।

लौंग

लौंग नाक और कान दोनों में पहनी जाती है-

मैंने देखी है उसके कान में लौगं।

मुर्की

कान की फूलदार कील-

मुर्की वा नथ, मांग टीका, कानफूल

देखकर गई सुध सकल तनमन की भूल।

मगर

मगरमच्छ के आकार का कान में पहने जाने वाला एक आभूषण-

गौर से देखा तो क्या-क्या दिल की मछली के "नज़ीर"।

माला

वो मोती के माले लछकते हुए

रहें दिल जहां सर पटकते हुए।

नथ

नाक का एक आभूषण जो सुहाग की निशानी होता है-

और उस नथ का है हल्का-ए-रूख पे यूं आह

कि जैसे हाले के अंदर जुदा हो माह।

नथ के हल्के का देख के आलम

नाक में आ रहा है अपना दम।

नौगुना

इस आभूषण को स्त्रियां बांह पर पहनती हैं। इसमें नौ नगीने होते हैं-

जड़ाऊ जोड़ी इक चूदानिसों की

और एक जोड़ी चमकती नौ गुनों की।

नौरतन

एक प्रकार का जड़ाऊ आभूषण। इसमें नौ जवाहर जड़े होते थे-पन्ना, नीलम, माणिक, खनिया, पुखराज, मोती, लाल, मर्जान और जमर्रद आदि-

वो तरकीब और चांद सा वो बदन

वो बाजू पे ढुलकते हुए नौरतन।

ज़रा बाजू को देखो क्या बर है

कि हर बाजू पे उसके नौ रतन है।

नादे अली

सोने या चांदी की एक अठपहलू तख्ती जिस पर "नादेअली" शब्दों को

खुदवाकर मुसलमान लोग अपने बच्चों के गले में पहनाते थे। विश्वास यह था कि इसके पहनने से बच्चा बुरी नज़र से सुरक्षित रहता है। सुंदर स्त्रियां भी इसे गले में पहनती थीं-

मुमकिन नहीं उस पर बद का असर हो
जेवर में अली बंद है नादे अली भी।

हैकल

गले का आभूषण है। हैकल कमर में भी पहनी जाती थी-

जवाहर से मीने की है कल जड़ी
कमर और कूल्हे के नीचे पड़ी।

हार

मोतियों या फूलों का हार-

वो हाथ टूट जाइयो या रब शबे विसाल
जिस हाथ से गले का तेरे हाथ तोड़े।

हंसली

सोने या चांदी से बना गला का एक आभूषण-

पहने फिरे हैं शौख़ कड़े और हंसलियां
फूलों पगड़ियों में है शाखें उड़स लियां।

स्थानों और शहरों का वर्णन

अठारहवीं शताब्दी में उर्दू जब साहित्यिक भाषा बन गई तो उस जमाने में अधिकाशं वे मुसलमान थे जिनका जन्म भारत की धरती पर हुआ था। यहां की जलवायु और सामाजिक परिवेश में उन्होंने सांस ली थी। उनका पालन-पोषण भारतीय परिवेश में हुआ था। इसलिए उनके मन में अपने जन्मस्थान और शहर के प्रति लगाव का होना स्वाभाविक था। उत्तर भारत के शायरों ने अपनी रचनाओं में जन्म भूमि के प्रति प्रेम को अभिव्यक्ति दे दी है।

दिल्ली

तेरहवीं शताब्दी से ही दिल्ली भारत की राजधानी रही थी। मुसलमानों की छत्रछाया में इस शहर ने आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक और व्यावसायिक क्षेत्र में एक केंद्र की हैसियत प्राप्त कर ली थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों के अंतर्ग्रथन से एक समन्वित संस्कृति का निर्माण हो गया।

साहित्य और लोगों की लोकप्रियता बढ़ने लगी। इतिहास गवाह है कि मुसलमानों को इस शहर से बेहद मुहब्बत और लगाव था। ''बर्नी'' का बयान है कि मुहम्मद तुगलक ने जब लोगोनों को विशेष रूप से मुसलमानों को दौलताबाद जाने के लिए विवश किया तो वे चले तो गये लेकिन दिल्ली के विछोह में वे रेत की मछली की तरह तड़पते ही रहे और अंततः सुल्तान को दुबारा उन्हें दिल्ली वापस जाने की इजाजत देने पर बाध्य होना पड़ा।

मुगल काल में इस शहर ने बहुत प्रगति की। शाहजहां ने इस शहर को नये सिरे से आबाद किया। लालकिले का निर्माण कराया। जामा मस्जिद और दूसरी इमारतें बनवाई। अमीरों ने शानदार हवेलियां बनवाई। चांदनीचौक और चौक सादुल्लाह खां जैसे बाजार बने। चांदनी चौक के बीच से एक नहर निकाली गई जो भ्रमण के लिए एक रमणीय स्थान था। दिल्ली शहर और उसके पास सैकड़ों की तादाद में बाग लगाये गये। मुहम्मद शाह के पुत्र अहमद शाह के ज़माने में एक सौ पचास बाग़ों का जिक्र मिलता है। दिल्ली के बाज़ार में हर प्रकार का व्यापार होता था। हर देश के व्यापारी दिखाई देते थे। कहने का अभिप्राय यह है कि दिल्ली शहर शीराज़, बुख़ारा और समरकंद के मुकाबले का शहर बन गया था।

18वीं शताब्दी के उर्दू साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि दिल्ली के निवासियों को अपनी जन्मभूमि से बड़ा प्रेम था। मिसाल के लिये मीर तकी ''मीर'' का जन्म तो आगरे में हुआ लेकिन उन्होंने अपने जीवन के 60 वर्ष दिल्ली में गुजरे थे। यहां की हर गली उनकी नज़र में हफ़्ते अक़्लीम थी और सौदा की नज़र में एक ''जिसकी ख़ाक से लेती थी ख़ल्क मोती रौल''।

इस युग के शायरों ने इस शहर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। 'मीर' इस शहर को ''तिलिस्मात'' और यहां के हर कूचे को ''औराक-ए-मुसव्विर''[82] कहते हैं-

दिल्ली के न थे कूचे औराक़-ए-मुसव्विर थे
जो शक्ल नज़र आई तस्वीर नज़र आई।

हफत अक़्लीम[83] हर गली है कहीं
दिल्ली-से भी दयार होते हैं!
दिल्ली थी तिलिस्मात की जगह ''मीर''
इन आंखों से आह हमने क्या-क्या देखा

देश प्रेम

नादिर शाह (1739ई.) के आक्रमण के बाद दिल्ली के दारिद्रय की कहानी शुरू

होती है। आर्थिक और राजनीतिक संकट का दौर शुरू होता है। साहित्य और अन्य विद्याओं की गतिविधियां ठंडी पड़ जाती हैं। और विवश होकर शायरों का एक बड़ा वर्ग सूबाई दरबारों में आश्रय खोजने के लिए निकल पड़ता है। फर्रूखाबाद टांडा और अवध के दरबारों में इन बाहर से आए हुए शायरों की बड़ी आव-भगत हुई। लेकिन दिल्ली के वियोग में वे इतने व्याकुल थे कि मिसाल के लिये 'मीर' एक शेर में कहते हैं-

खुराबा दिल्ली का वो चंद बेहतर लखनऊ से था
वहीं मैं काश मर जाता सरासीमा न आता यां।
'मुसहफ़ी' कहते हैं-
ऐ 'मुसहफ़ी' मत पूछ के दिल्ली से निकलकर
क्या कहिये के हम कितने पशेमान हो गये।

यारब शहर अपना यों छुड़ाया तूने
वीराने में मुझको ला बिठाया तूने
मैं और कहां ये लखनऊ की ख़लक़त
ऐ वाय ये क्या किया खुदाया तूने।

इसी तरह शाकिर नाजी, हातिम, मीर हसन देहलवी, सौदा, यक़ीन और दूसरे शायरों के कलाम में दिल्ली के बारे में शेर मिलते हैं।

दिल्ली की बर्बादी

नादिरशाह के हाथों मुगलों की पराजय ने मुगल सल्तनत की दुर्बलता को प्रकट कर दिया। औरंगजेब की मृत्यु (1707ई.) के बाद पतन की प्रक्रिया आरंभ हो चुकी थी। इसके बाद अब्दालियों, सिखों, मराठों, जाटों और रूहेलों ने मुगल सल्तनत के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। दिल्ली के साहित्यिक और सांस्कृतिक माहौल को तहस-नहस कर दिया। इन बिगड़ते हुए हालात ने हमारे शायरों को बहुत उद्वलित किया। दिल्ली उनकी जान थी और दिल्ली का पतन एक संस्कृति का पतन था। उन्होंने अपनी आंखों से इसकी रौनक देखी, इसके पतन के दृश्य देखे, खून की नदियां बहती देखीं, कत्ले आम,लूट-खसौट के भयानक दृश्य देखे। इसलिये उन्होंने दिल्ली की तबाही के मर्सिये लिखे। इन मर्सियों को पढ़कर उनके देश प्रेम या जन्म-भूमि के प्रति लगाव का अनुमान होता है-

जहां आबाद तो कब इस सितम के क़ाबिल था
मगर कभू किसी आशिक का ये नगर दिल था

कि यूं मिटा दिया गोया कि नक़्शे बातिल था।
अजब तरह का ये बहरे जहां में साहिल था।
कि जिसकी खाक से लेती थी ख़ल्क मोती रौल
दिया भी वां वहीं रोशन, थे जिस जगह फ़ानूस।
पड़े हैं खंडहरों में आइनाख़ानों के मानूस[84]
करोड़ों दिल पुर आज उमीद हो गया मायूस।
घरों से यूं नजबा के निकल गई नामूस[85]
मिली न डोली उन्हें थे साहबे चौंडोल।

-सौदा

अब शहर की गलियों में जो हम होते हैं
मुंह खूने जिगर से दम बदन धोते हैं।
यानी हर एक जा पे जूं अब्र-ए-बहार
आलम-आलम जहां-जहां रोते हैं।

'मीर' उसकी आंखें देखीं हमने सफ़र को जाते
ऐन बला हुआ है सो अब वतन हमारा।

वैसे 'मीर' के कलाम में दिल्ली की तबाही और बर्बादी पर सैकड़ों शेर मिलते हैं लेकिन 'मीर' का वह क़ता जो उन्होंने लखनऊ के एक मुशायरे में पढ़ा था, इस सिलसिले में बहुत मशहूर है। हालांकि आमतौर पर कहा जाता है कि यह 'मीर' का क़ता नहीं है। क़ता देखिये-

क्या बूद ओ बाश पूछो हो पूरब के साकिनो
हमको गरीब जान के हंस हंस पुकार के
दिल्ली जो एक शहर था आलम में इंतख़ाब
हम रहने वाले हैं उसी उजड़े दयार के।

दिल्ली की तबाही के मर्सिये और शेर आबरू, सौदा, जुरअत, शाकिर नाजी, अफसोस, सौज़, मुसहफ़ी, आसमीं, ताबां, ख़्वाजा मीर दर्द, मीर हसन अली चौगां, शेख़ अली हज़ीं, जाफ़र अली हसरत और अन्य समकालीन शायरों के कलाम में भी मिलते हैं।

नादिरशाह की लूट

1739 में नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। राजधानी दिल्ली में उसके निवास के दौरान एक भयानक घटना घटी। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप नादिरशाह ने

क़त्लेआम का हुक्म दिया। शवों से रास्ते पट गये, गुजरना मुश्किल हो गया। जगह-जगह शवों के ढेर नज़र आते थे। अंत में सफाई का हुक्म हुआ। शहर कोतवाल ने शवों को हिंदू या मुसलमान की पहचान किये बिना जलवा दिया। हमारे संवेदनशील शायर इस मर्मांतक तक घटना से बहुत गहरे में प्रभावित हुए। उनकी रचनाओं में इस घटना का जगह-जगह उल्लेख मिलता है और क़त्लेआम एक कहावत बन गई। अपने महबूब (प्रिय) के साथ कत्लेआम शब्द को जोड़ दिया गया और इसे नादिरशाह के क़त्लेआम का पर्याय मान लिया गया। जैसे-

तू नादिर शाह मुल्क परी रूओं का ऐ ज़ालिम
जिधर भरकर नज़र देखे तो क़त्लेआम हो जाये।

-मिर्ज़ा अस्करी

मीर, जुरअत, मुसहफी, लाला लछमन नाथ और ज़फर के कलाम में भी इस घटना से संबंधित शेर मिलते हैं।

अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण

अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर नौ आक्रमण किये। इन आक्रमणों के ज़रिये उसने दिल्ली और उसके आस-पास के क्षेत्रों को आतंकित कर दिया, निर्ममता के साथ लूट-खसौट की, इज्ज़दारों की इज़्ज़त लूटी गई, लोगों को बेघर कर दिया गया और दिल्ली को तबाह व बर्बाद कर दिया गया। इन सभी बातों को मीर तक़ी ''मीर'' ने ''जिक्रे मीर'' में बहुत ही मार्मिक रूप में बयान किया है। इस दौर के अन्य शायरों ने भी इस विनाशलीला के चित्र अपने शेरों में खींचे हैं। इस पीड़ा को उन्होंने स्वयं भोगा था। अपने पांचवें आक्रमण के दौरान अब्दाली के सिपाहियों ने दिल्ली को खूब लूटा। इस ज़माने में 'मीर' का मकान भी ज़मीन में मिला दिया गया। कहा जाता है कि अहमदशाह अब्दाली ने क़मरूद्दीन ख़ां वज़ीर के घर में तो झाड़ू ही दे दी थी। मीर ने इस वाक़या को इस शेर में बयान किया है-

तिनका नहीं रहा है अब क्या निसार करिये
आगे ही हम तो घर को जारोब कर चुके हैं।

क़ायम चांदपुरी, मुसहफी और बहादुरशाह ज़फ़र के कलाम में भी इस वाक़या के शेर मिलते हैं।

बादशाहों की दुर्दशा

18वीं शताब्दी के शासक विलासिता में आकंठ डूबे हुए थे और उन्हें अपना दायित्व बोध नहीं था। उनमें वीरता और शौर्य शेष न रहा था। वे अमीरों के हाथों की

कठपुतली बने हुए थे। और अमीरों ने शाहगर (किंग मेकर) की हैसियत हासिल कर ली थी। मुगल अमीरों ने मुहम्मद फ़र्रूख़सियर को पीड़ित किया। और उसकी आंखों में सलाइयां फ़िरवाकर देखने से महरूम कर दिया। इसके बाद अहमदाशाह बिन मुहम्मद शाह के साथ ऐसा ही दुर्व्यवहार किया गया। 'मीर' ने अहमदशाह की घटना अपनी आंखों से देखी थी। एक शेर में कहते हैं-

शहां के कुहल जौहर थी ख़ाके पा जिनकी
उन्हींकी आंखों में फिरती सलाइयां देखीं।

ऐ हुब्बे जाह वालो जो आज ता जोर है
कल उसको देखियो तुम, ने ताज है न सिर है।

इसी तरह आबरू, मिर्ज़ा ज़ाफर अली 'हसरत' लाला बिंदरावन राक़िम, कुदरतुल्लाह क़ासिम और अन्य शायरों के कलाम में ऐसे शेर मिलते हैं जिनसे उस जमाने के बादशाहों की अशक्तता और असहायता का पता चलता है।

आलमगीर सानी के बादशाह आलम सानी दिल्ली के तख़्त पर बैठा। उस समय गुलाम क़ादिर रूहेला ने लालकिले पर कब्ज़ा कर लिया। बादशाह को बड़े अपमान के साथ दण्डित किया। ख़ानदान के लोगों को लज्जित किया। भूख-प्यास से तड़पाकर उन्हें बेहद परेशान किया और अंततोगत्वा शाह आलम की आंखें निकलवा लीं। कुदरतुल्लाह क़ासिम ने एक क़ते में इस घटना की ओर संकेत किया है-

एहवाल शाहे आलम देखो व चश्मे इबरत
अफ़गान पिसर के सर पर क्या-क्या ख़राबियां हैं।
दौलत पे चार दिन की ऐ मन अमों न फूलो
वो बादशाहियां हैं और ये नवाबियां हैं।

दिल्ली पर अंग्रेज़ों का आधिपत्य

ख़ाके देहली में किया जब से नसारा ने अमल
शोर-ए-गूजरी रहा न हंगामा-ए-जाट
क्या ग़म है 'मुसहफ़ी' जो नसारा में जा मिला
रोज़े अज़ल से कुश्ता हुस्न-ए-फ़िरंग था।

अंग्रेजों ने भारत की संपत्ति पर पूरा आधिपत्य कर लिया और यहां के धन को इंगलैंड भेजने लगे-

हिंदोस्तान में दौलत ओ हश्मत जो कुछ थी
काफिर फिरंगियों ने बा तदबीर खैंच ली।

-मुसहफ़ी

अवध की रिसायत पर अंग्रेज़ों के हस्तक्षेप के बाद इस रिसायत का विनाश आरंभ हो गया। अकबर अली ख़ां अकबर ने एक मसनवी में इस तबाही का ज़िक्र किया है। शाह कमाल ने भी एक 'शहर-ए-आशोब' में आम जनता की दुरवस्था का वर्णन किया है।

नजफ़ खां, शाह आलम सानी का अमीर उलउमरा था। इस अमीर को चुग़लखोरी की बड़ी बुरी लत थी। मुसहफ़ी ने कहा है-

उम्दा जो पेट भर के बोले झूठ
ऐसे न मनफ़ैल को क्या कहिये।
गर नजफ़ ख़ां न कहिये इसको तो क्या
सिर के बालों का बादशाह कहिये।

मराठों का शक्ति-प्रदर्शन, दिल्ली पर उनके हमले और शाह आलम पर अपना अधिकार कर लेना-इन तमाम घटनाओं का ज़िक्र भी उर्दू साहित्य में मिलता है। 1857 के विद्रोह में दिल्ली के महाविनाश के बारे में बहुत से मर्सिये लिखे गये हैं। इन मर्सियों को 'फ़ुग़ान-ए-देहली' में देखा जा सकता है।

दिल्ली के साथ-साथ लाहौर, फैजाबाद, लखनऊ, अज़ीमाबाद, बनारस और दूसरे शहरों के ज़िक्र भी उर्दू साहित्य में मिलते हैं। स्थानाभाव के कारण इनकी चर्चा नहीं की जा रही है।

भारतीय ऋतुएं

वसंत

भारत में ऋत-चक्र वसंत से आरंभ माना जाता है। इस देश में सरसों के फूल वसंत का प्रतीक है। इस ऋतु में यहां के किसान सरसों के पीले फूलों को बड़े हर्ष के साथ अपने घरों में लाते हैं और अपने बच्चों को दिखाते हैं। वसंत की हवाएं प्रेम भावना को उद्दीप्त करती हैं। पुरानी स्मृतियों को जगाती हैं। भारतीय मिथकशास्त्र में कामदेव को वसंत का राजा माना गया है। उर्दू शायरी में वसंत ऋतु पर नज़्में मिलती हैं। इनकी चर्चा पहले हो चुकी हैं।

ग्रीष्म

वैशाख के साथ ग्रीष्म ऋतु आरंभ होती है। ज्येष्ठ और आषाढ़ में सूर्य की किरणें अपेक्षाकृत अधिक प्रचंड हो जाती हैं। भारी गर्मी पड़ने लगती है। भारत की इस ऋतु की विशेषताएं उर्दू शायरी में सौदा, जुरअत और नज़ीर अकबराबादी ने बड़ी खूबी से बयान की हैं।

वर्षा

ग्रीष्म से तपती हुई धरती को वर्षा ऋतु हराभरा कर देती है। मनुष्य, जीवधारियों और वनस्पति में एक नये जीवन का संचार हो जाता है। उर्दू शायर भी बरसात के मौसम से प्रभावित हुए और उन्होंने बहुत-सी नज़्में लिखी है। मीर तक़ी 'मीर' की बरसात पर चार मसनवियां हैं। मीर हसन देहलवी ने लखनऊ की बरसात और इस मौके पर वहां की कीचड़ का बड़े दिलचस्प अंदाज़ में वर्णन किया है। जुरअत ने 'दर मज़म्मत बारां' शीर्षक से एक मसनवी लिखी है। कायम चांदपुरी ने एक मसनवी 'दरबयान शिद्दतेगुल वा लाये' के नाम से लिखी है। इसी प्रकार मुसहफी और नज़ीर अकबराबादी के यहां भी मौसम बरसात पर नज़्में मिलती हैं।

शरद

वर्षा के उपरांत शरद ऋतु आती है। इसके बाद शीत का आरंभ होता है। पूस में बहुत ठंड पड़ने लगती है। फाल्गुन में होली के त्यौहार तक शीत लहर चलती रहती है। 'सौदा' ने 'दर हिजू मौसम-ए-सरमां' पर एक मसनवी लिखी है। जिसमें 154 शेर हैं। इसी प्रकार मुसहफ़ी, जुरअत, नज़ीर अकबराबादी और क़ायम चांदपुरी ने भी इस मौसम पर नज़्में लिखी हैं।

पक्षी

पुराने दौर के शायरों ने भारतीय पक्षियों पर पूरी नज़्में नहीं लिखीं हैं। लेकिन उनकी शायरी में इस देश के पक्षियों का ज़िक्र मिलता है। नज़ीर अकबराबादी ने 'बुलबुलों की लड़ाई' और 'बया' वाली नज़्मों में इन पक्षियों की विशेषताओं का सविस्तार वर्णन किया है। 'इंशा' की रचनाओं में कोयल, मोर, कबक, बुलबुल, फाख्ता, हुदहुद, मुर्गाबी, कमारी आदि पक्षियों की चर्चा मिलती है।

पशु

उर्दू शायरों ने हाथी और घोड़ों पर नज़्में लिखी है। 'सौदा' ने मसनवी 'दर हिजू पील राजा निरपत सिंह' में हाथी के गुणों का बखान किया है। इंशा ने मसनवी 'फ़ील' के नाम से एक नज़्म लिखी है। इसमें 188 शेर हैं। मुसहफ़ी ने घोड़े की प्रशंसा में एक नज़्म लिखी है।

वनस्पति

उर्दू शायरों ने भारत की वनस्पति का सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है। मिसाल के लिए 'मुसहफ़ी' ने अजवायन के बारे में एक दिलचस्प मसनवी लिखी है। इसमें अजवायन के गुण बताये गये हैं। इस मसनवी में 49 शेर हैं। तिल्ली का तेल मलने के काम में तो आता ही था। लेकिन सर्दी के मौसम में भारत में तिल के लडडू विशेष रूप से खाये जाते थे। नज़ीर अकबराबादी ने इस विषय पर एक नज़्म लिखी है। आगरा की ककड़ी प्रसिद्ध थी। नज़ीर ने ककड़ी की तारीफ में एक नज़्म लिखी है। तरबूज़, जामुन, नारंगी और अन्य सूखे व तर मेवों का भी जिक्र उर्दू साहित्य में पाया जाता है। हिंदुस्तानी शायर इस देश के फूलों से विशेष रूप से प्रभावित हुए। उन्होंने बहार और बागों के सौंदर्य का चित्रण करते हुए यहां के फूलों के प्रति अपना अनुराग प्रकट किया है। उनके प्रिय फूल हैं नरगिस, यास्मिन, चमेली, मोतिया, रायबेल, मोगरा, गेंदा, चंपा और गुलाब मौलिश्री आदि।

विभिन्न जीव-जंतुओं पर नज़्में

उर्दू शायरों ने खटमल, मक्खियों, भिड़ों आदि विभिन्न जीव-जंतुओं पर भी नज़्में लिखी हैं। 'मीर' और 'इंशा' ने खटमलनामा लिखे हैं। इंशा ने एक मसनवी 'दर हिजू मगस' लिखी है। इंशा की ही एक मसनवी 'दर हिजू जंबूर' है। इसमें आता है कि इन भिड़ों ने बागों के फूलों और पत्तियों तक को बर्बाद कर दिया था।

रोग एवं औषधियां

भारत देश में होने वाले विशेष रोगों और उनकी दवाओं पर भी उर्दू शायरी में उदाहरण मिलते हैं। उर्दू में मसनवी 'दर मजम्मत चेचक', मसनवी, 'दर हिजू नज़ला व जुकाम', मसनवी 'दर हिजू खारिश (जुरअत)', मसनवी 'दर हिजू तपेलर्जा' आदि रचनाएं मिलती हैं।

नदियां

उर्दू शायरी में गंगा, यमुना, गोमती और घाघरा आदि नदियों का अनेक जगह हवाला मिलता है।

उर्दू शायरी में भारतीय प्रतीकों और उपमाओं का भी भरपूर प्रयोग किया गया है। उर्दू की अधिकांश मसनवियों का आधार भारतीय कथाएं हैं। विस्तार से इनकी चर्चा संभव नहीं है।

उर्दू शायरी का समग्र अवलोकन करने के उपरांत यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत में हिंदुओं और मुसलमानों के मेल-जोल से उर्दू भाषा अस्तित्व में आई। यह भाषा भारतीय परिवेश में फली-फूली और इसकी उन्नति का श्रेय दोनों समुदाय के लोगों को जाता है। उर्दू ने भारतीय संस्कृति की परंपरा के हर महत्वपूर्ण तत्व को अपना लिया। इसके फलस्वरूप यह भाषा और अधिक व्यापक हो गई। उर्दू एक समन्वित संस्कृति की यादगार है। आज भी इस भाषा की उन्नति में हिंदू और मुसलमान दोनों को उसी प्रकार से सहयोग करना चाहिए जैसा कि 18वीं और 19वीं शताब्दी में उन्होंने किया था। शायरों के वृतांतों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिंदू शायरों की संख्या कोई कम न थी। वे स्वयं शेर कहते, मुशायरे आयोजित करते और इस भाषा को समृद्ध बनाने में उसी तरह प्रयासरत दिखाई देते जैसे कि वह उनकी अपनी ही भाषा थी। उन्होंने इस भाषा के विकास में हर संभव प्रयास किया था और आशा है कि वे भविष्य में भी समन्वित संस्कृति की इस निधि को नष्ट न होने देंगे। इस भाषा ने दिल्ली में जन्म लिया था और यहां की भाषा और मुहावरे प्रमाण के रूप में पेश किये जाते थे। एक शायर ने तो यहां तक कहा है कि–

अहमद-ए-पाक की खातिर थी खुदा को मंजूर
वरना कुर्आन उतरता ब ज़बान-ए-उर्दू।

1 व्यापकता
2 कवि, लेखक
3 वाणी रूपी अश्व
4 प्रसिद्धि
5 फारसी का एक प्रसिद्ध शायर
6 दोष, दोषपूर्ण
7 खुश खत या सुलेख लिखने वाला
8 धैर्य, सब्र
9 बैचेनी
10 भयानक सपने
11 लज्जित, शर्मिन्दा
12 गोरा रंग
13 विलायत, इंग्लैण्ड
14 सिर के बाल
15 वर्तमान में निगमबोध घाट (दिल्ली) पर्वस्नान के काम नहीं आता। इस घाट पर मृतकों का दाहसंस्कार किया जाता है-अनुवादक
16 राखी
17 संसार

18 पारसी, अग्निपूजक
19 हिंदू का बहुवचन
20 वह नज़्म जिसके हर बंद में पांच-पांच मिसरे हों।
21 कृपा के बादल
22 रब या ईश्वर सारे संसार का है
23 दिल्ली के निवासी
24 नेकी या कल्याण करने वाले का धन्यवाद
25 नज़्म या गज़ल का पहला शेर जिसकी दोनों पंक्तियों में रदीफ़ और काफ़िये का निर्वाह किया जाता है।
26 नबी की स्तुति
27 गरीबी का जंगल
28 टुकड़े-टुकड़े होना
29 भिखारी
30 परिधान
31 बेला और चमेली के फूलों की भांति
32 टोपी
33 कलियों जैसे मुख वाली
34 एक नीला फूल जिसकी पंखुडियों पतली होती हैं।
35 अरबी की एक लिपि
36 हीरा
37 विकास या बढ़ना
38 प्रेमी के धैर्यरूपी संपत्ति
39 शुभ सूचना
40 उषाकाल
41 प्रकट
42 एक मूल्यवान पत्थर
43 दांतों की विशेषता
44 प्रचंड सूर्य
45 मुख
46 मुख
47 बाल बांधने की चीज
48 बादल
49 बिजली
50 एक प्रकार की सुगंधित घास
51 उर्दू शायरी की एक विधा जिसमें प्रेमिका से शिकायत की जाती है।
52 हूर की नस्ल से संबंधित
53 मक्के की रोटी
54 प्रेम करने वाला

55 सभा में उपस्थित व्यक्ति
56 मान बढ़ाना
57 सत्कार
58 गायक
59 धन्यवाद, शाबरा
60 गरीब की कब्र
61 विवाह की रात
62 बेटी
63 भाग्यशाली
64 घोषणा करने वाले
65 प्रसन्न
66 शेख का बहुवचन
67 नियाज़ की थाली
68 सगाई
69 सैकड़ों आशाओं के साथ
70 बचाव या शरण
71 घुटना
72 एक बर्तन
73 शादी के गहने व कपड़े
74 बाल बांधने का फीता
75 झूलते रहना
76 आशिक का बहुवचन
77 बिजली गिराते हुए
78 बहुत सूक्ष्म या छोटा
79 बाजू, कलाई
80 गला
81 तारे की बाली
82 चित्रकार के पन्ने
83 सात विलायतें, संपूर्ण संसार
84 आसक्त, पसंद
85 सम्मान, इज्जत

महत्वपूर्ण स्त्रोतों की सूची

फ़ारसी

1. अखबारुल अख़बार – शेख़ अब्दुल हक़ मुहद्दस देहलवी (1551-1642 ई.) उर्दू अनुवाद: मौलाना इक़बाल उद्दीन अहमद-दारुल इशायत कराची, 1963
2. ऐजाज़-ए-खुसरवी – हज़रत अमीर ख़ुसरो-लखनऊ, 1875-76
3. आईन-ए-अकबरी – अबुल फ़ज़ल-उर्दू अनुवाद, हैदराबाद
4. इकबाल नाम-ए-जहांगीरी – मिर्ज़ा मुहम्मद उर्फ़ मोतमद ख़ां, उर्दू अनुवाद-मुहम्मद ज़करिया माइल, नफ़ीस एकडमी, कराची, 1963
5. इंशा-ए-अजब – मुहम्मद जाफ़र बिन शेख मुहम्मद फ़ाज़िल बिजनौरी (हस्तलिखित) सुलेमान कलैक्शन, अलीगढ़।
6. अज़कार-ए-अब्रार – मुहम्मद उवेसी शतारी, उर्दू अनुवाद-गुलज़ार अब्रार (मौलवी फ़ज़ल अहमद) रचना तिथि 1611 ई., मुफीद आम प्रेस आगरा।
7. इक़बाए वक़ाय बदाए – आनंदराम मुखलिस-ओरियंट कालेज मैगज़ीन, लाहौर, नवम्बर, 1950-मुखलिस दिल्ली वासी थे। इनका निधन 1751 ई. में हुआ।
8. इंशा-ए-रोशन कलाम – मुंशी भूपत राय, रचनाकाल 1788 ई., सुलेमान कलैक्शन, अलीगढ़।
9. अहसनुल शुमाइल – ख़्वाजा कामगार-(हस्तलिखित) शेफ़्ता कलैक्शन अलीगढ़।
10. इन्फ़ासुल आरिफ़ीन – शाह वली उल्लाह, मत्बा मुज्तुबाई, दिल्ली, 1917।
11. इंशा-ए-मुखलिस – आनंदराम मुखलिस-पत्र संग्रह, रचनाकाल 1734, (हस्तलिखित) सुलेमान कलैक्शन, अलीगढ़।
12. इंशा-ए-खुर्द अफ़रोज़ – बिंदरावन कायस्थ (औरंगज़ेब युग के लेखक) हस्तलिखित पांडुलिपि, सुलेमान कलैक्शन, अलीगढ़।
13. अख़बार-ए-मुहब्बत – मुहब्बत बिन फ़ैज़ अता खां, रचनाकाल 1186 हिज्री, (फ़ोटो प्रति) अलीगढ़।
14. आदाब-ए-तरीक़त व ख़ुदायाबी – सैयद मुहम्मद रज़ा जलाली नायनी, तेहरान, 1368 हिज्री
15. बस्तान-ए-ख़िज़ां – फ़ज़ल अली खां बिन ख़्वाजा मुहम्मद देहलवी, रचनाकाल 1183 हिज्री (पांडुलिपि) रामपुर।

16. बलागुल मुबीन – शाह वली उल्लाह, उर्दू अनुवाद, शैब हदीस मंज़िल, कराची।
17. बादशाह नामा – अब्दुल हमीद लाहौरी-संपादकः-खैर उद्दीन अहमद व अब्दुल रहीम, कलकत्ता, 1867-68
18. बहरुल हयात – शेख मुहम्मद ग़ौस गवालियारी, मत्बा रिज़्वी दिल्ली, 1311 हिज्री।
19. परीख़ाना – आनंदराम मुखलिस, रचनाकाल 1144 हिज्री (पांडुलिपि) अंजुमन तरक्क़ी उर्दू, अलीगढ़।
20. तारीख़-ए-फ़ीरोज़शाही – जियाउद्दीन बर्नी-संग्रहकर्ता सर सैयद अहमद खां, एशियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ता। जिया उद्दीन बर्नी की मृत्यु 1285 ई. में हुई। अधिकांश जीवन दिल्ली के सुल्तानों के दरबारों में बीता। फ़ीरोज़ शाह तुगलक के युग में अभावग्रस्थ रहे। इस पुस्तक में बलवन की तख़्तनशीनी 1358 ई. तक की घटनाएं दर्ज हैं।
21. तारीख़-ए-मुबारक शाही – याहया बिन अहमद बिन अब्दुल्ला सरहिंदी, कलकत्ता, 1931 ई.। इस इतिहास ग्रंथ में माजुद्दीन बिन साम के शासनकाल से लेकर मुहम्मदशाह बिन मुहम्मद फ़रीद (1433-1443 ई.) तक के भारत की राजनीतिक परिस्थितियों का लेखा-जोखा दिया गया है।
22. तारीख़-ए-दाऊदी – अब्दुल्लाह-संपादनः प्रो. शेख़ अब्दुल रशीद, इतिहास विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, 1954 ई.। इस इतिहास में दाऊदी और सूरी वंश का विवेचन किया गया है।
23. तारीख़-ए-शाही – अहमद यादगार-रचनाकाल 1223 हिज्री, संपादनः मुहम्मद हिदायत हुसैन, कलकत्ता, 1939 ई.।
24. तारीख़-ए-शाकिरख़ानी – शाकिर ख़ां बिन शम्सुदौला लुत्फ़ुल्लाह ख़ां सादिक़ पानीपती, (फ़ोटोप्रति) अलीगढ़। शाकिर ख़ां, नादिरशाह के हमले (1739 ई.) के समय सुल्तानी रिसाले में बख्शी के पद पर नियुक्त था। जब अब्दाली ने 1756 ई. में हमला किया तो वह अपनी जान बचाकर बनारस भाग गया। फिर अंग्रेजों की शरण में चला गया। इस पुस्तक में मुहम्मद शाह और उसके उत्तराधिकारियों के हालात दर्ज हैं।
25. तज़्किरा-ए-हिंदी – गुलाम हम्दानी 'मुसहफ़ी'-संपादकःमौलवी अब्दुल हक़, दिल्ली, 1933 ई.।
26. तारीख़-ए-फ़रिश्ता (गुलशने इब्राहीमी) – मुहम्मद क़ातिम हिंदू शाह 'फ़रिश्ता', जहांगीर युग का लेखक, अंग्रेज़ी अनुवादः मेजर जनरल जे. बर्गस, लंदन, 1829 ई.।

27. तारीख़-ए-मुज़फ़्फ़री - मुहम्मद अली ख़ां- रचनाकाल 1797 ई. (हस्तलिखित), रामपुर।

28. तारीख़-ए-फ़र्रुख़ बख़्श - मुहम्मद फ़ैज़ बख़्श रचनाकाल 1233 हिज्री, अंग्रेज़ी अनुवाद:विलियम होव, इलाहाबाद, 1888 ई.।

29. तज़्किरा-शुअरा-ए-उर्दू - मीर हसन देहलवी, संपादन:मौलाना मुहम्मद हबीबुर्रहमान शेरवानी, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू हिंद, दिल्ली, 1940 ई.।

30. तीन तज़्किरे - संपादक निसार अहमद फ़ारुख़ी, मक्तबा बुरहान दिल्ली, 1968।

31. तज़्किरा-मख़ज़नुल गरायब - शेख़ अहमद अली ख़ां संदेलवी, संपादक:मुहम्मद बाकर, लाहौर, 1968।

32. तज़्किरा नश्र-ए-इश्क़ - आग़ा हुसैन कुली ख़ां व इश्क अजीमाबादी, रचनाकाल 1801 ई. (पांडुलिपि-रामपुर)।

33. तज़्किरा गुलशन-ए-हिंद - मीरज़ा लुत्फ़ अली, रचनाकाल 1801 ई., संपादक:मौलवी अब्दुल हक़ लाहौर, 1906।

34. तज़्किरा हमेशा बहार - मुंशी किशन चंद इख़लास-हस्तलिखित, दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय।

35. तज़्किरा गुलजार-ए-इब्राहीम - नवाब अमीनुद्दौला अली इब्राहीम ख़ां, रचनाकाल 1198 हिज्री (पांडुलिपि रामपुर)।

36. तज़्किरा नतायजुल अफ़कार - क़ुदरतुल्लाह गोपालवी, रचनाकाल, 1258 हिज्री-पांडुलिपि हबीबगंज कलैक्शन, अलीगढ़।

37. तज़्किरा गुलशन-ए-सुख़न - मर्दान अली ख़ां मुब्तिला लखनवी, रचनाकाल 1194 हिज्री, संपादक:सैयद मसूद हसन रिज़्वी, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू अलीगढ़, 1965।

38. तज़्किरा गर्देज़ी - सैयद फ़तहअली हुसैनी गर्देज़ी, रचनाकाल 1165 हिज्री, संपादक, मौलवी अब्दुल हक़, दक्कन, 1933 ई.।

39. तज़्किरा मज्माउलइंतख़ाब - शाह कमाल (निवासी कड़ा मानकपुर, इलाहाबाद) पांडुलिपि, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू अलीगढ़।

40. तज़्किरा मखजन-ए-नकात - शेख़ मुहम्मद क़यामुद्दीन 'क़ायम' रचना 1168 हिज्री, संपादक:मौलवी अब्दुल हक़, दक्कन, 1929।

41. तज़्किरा तुल औलिया - ख़्वाजा फ़रीदुद्दीन अन्नार, लाहौर।

42. तज़्किरा गौसिया - सैयद ग़ौस अली ख़ां कलंदर क़ादरी, (संपादक शाहगुल), आज़ाद किताबघर, दिल्ली, 1965 ई.।

43. तुज़ुक-ए-जहांगीरी - रोज़नामचा जहांगीर बादशाह, अंग्रेज़ी अनुवाद: रोजर्स एंड ब्यूरिज, फ़ारसी संपादन: सर सैयद अहमद ख़ां, नवल किशोर लखनऊ।

44. तारीख़-ए-फीरोज़ शाही - शम्सुद्दीन सिराज 'अफ़ीफ़', अनुवादक: मुहम्मद फ़िदा अली 'तालिब', नफीस एकेडमी कराची, 1962 ई.। इस पुस्तक में फीरोज़शाह तुगलक के शासनकाल की परिस्थितियों का विवरण है।

45. तुहफ़तुल शुअरा - मिर्ज़ा फ़ज़ल बेग ख़ां क़ाक़शाल, संपादकः डॉ. हफीज़ क़तील, हैदराबाद दक्कन, 1961।
46. तारीख़-ए-अहमद शाही - लेखक अज्ञात, रोटोग्राफ़ अलीगढ़ विश्वविद्यालय। इस पुस्तक में अहमद शाह के दौर का इतिहास है।
47. तारीख़-ए-फ़र्रुखसियर बादशाह - शिवदास लखनवी, निजी संपत्ति हसन अस्करी, पटना।
48. तारीख़-ए-अहवाल-ए मुहम्मद शाह - मित्रसेन, रचनाकाल 1237 हिज्री पांडुलिपि।
49. तज़्किरा गुलशन-ए-बेख़ार - नवाब मुस्तफ़ा ख़ां शेफ़्ता, रचना 1250 हिज्री, नवल किशोर प्रेस, 1874 ई.।
50. तारीख़ फ़रह बख्श रामपुर - शिव प्रसाद, अठारहवीं शताब्दी की पांडुलिपि, अब्दुस्सलाम, अलीगढ़।
51. तुहफ़तुल हिंद - लाल राम, रचनाकाल 1736 ई. रोटोग्राफ।
52. तज़्किरा गुलशन-ए-बेख़िजां - क़ुतबुद्दीन बातिन, रचना 1291 हिज्री, नवल किशोर प्रेस, 1895।
53. तज़्किरा मुसर्रत अफ़्ज़ा - अबुल हसन, अमीरुद्दीन अहमद उर्फ़ अलिफ़ उल्लाह इलाहाबादी, रचना 1195 हिज्री अनुवादः डॉ. मुजीब कुरेशी, इल्मे मज्लिस कुतबख़ाना, कलां महल दिल्ली, 1968 ई.
54. तक्मला सैर-ए-औलिया - ख़्वाजा गुल मुहम्मद अहमदपुरी, मत्वा रिज़्वी दिल्ली, 1912 ई.।
55. तज़्किरातुल मुलूक - याह्या ख़ां (मीर मुंशी फ़र्रुख़सियर), रोटोग्राफ़, अलीगढ़।
56. तफ़्ज़ीहुल ग़ाफ़िलीन - मिर्ज़ा अबू तालिब इस्फहानी 1796, संपादकः आबिद रज़ा बेदार, रामपुर 1965।
57. तारीख़-ए-हिंदी - रुस्तम अली बिन ख़लील शाहाबादी, रचना 1154 हिज्री, रोटोग्राफ़ अलीगढ़।
58. तारीख़-ए-दिलकुशा - भीमसेन, औरंगजेब युग की रचना, रोटोग्राफ।
59. तारीख़-ए-बल्दा-ए-नजीबाबाद - नवाब मुहम्मद सादुल्ला ख़ां, पांडुलिपि मुनीर आलम कलैक्शन, अलीगढ़।
60. तुहफा-ए-अकबरशाही - अब्बास ख़ां शेरवानी, रचना 1579 ई. पांडुलिपि प्रो. खलीक़ अहमद निजामी की संपत्ति। यह पुस्तक सूर वंश का इतिहास है।
61. चहार चमन - चंदरभान बिरहमन, रचना 1647 ई. पांडुलिपि अब्दुस्सलाम कलैक्शन, अलीगढ़।
 - धर्मदास के बेटे चंदरभान का जन्म लाहौर में हुआ था। वह अब्दुल हकीम स्यालकोटी का शागिर्द था। वह बाद में दिल्ली आ गया और दाराशिकोह का मुलाज़िम हो गया था। दाराशिकोह की मृत्यु (1659 ई.) के बाद वह बनारस चला गया। इस पुस्तक में बनारस के धार्मिक वातावरण का चित्रण किया है।

62. चहार गुलज़ार-ए-शुजाई – हरचरन दास, रचना 1984 ई. रोटोग्राफ़ अलीगढ़।
– हरचरनदास मेरठ का निवासी था। नादिरशाह के हमले के बाद वह दिल्ली पहुंचा और नवाब क़ासिम अली ख़ां के यहां नौकरी कर ली। फिर वह क़ासिम अली के साथ दिल्ली से फ़ैजाबाद चला गया। वहीं बस गया। कुछ दिनों तक उसे नवाब शुजाउद्दौला के यहां से वृत्ति भी मिलती रही। इस पुस्तक में समूचे भारत का इतिहास है।

63. चहार गुलशन मुहम्मद शाही – राय चतरमन कायस्थ, रचना 1759-60 ई., फ़ेहरिस्त लिटन उर्दू-फारसी, अलीगढ़।
– इस पुस्तक में भारत के इतिहास और भूगोल के साथ पर्व और त्यौहारों का विस्तृत विवरण है।

64. चमनिस्तान – आनंदराम मुख़लिस, रचना 1746 ई. पांडुलिपि, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू अलीगढ़।

65. हदीक़ातुल अकायम – अल्लाह यार उस्मानी बिलगरामी, रचना 1761 ई. नवल किशोर प्रेस, 1850 ई.।

66. ख़ज़ायनुल मफ़्तूह – हजरत अमीर ख़ुसरो, रचना 1311-12 हिज्री, अंग्रेज़ी अनुवाद:प्रो. मुहम्मद मुजीब, मद्रास, 1931 ई.।

67. ख़लासतुलतवारीख़ – सुजान राय मंजरी, रचना 1695-96 ई. संपादक: ज़फ़रहसन, दिल्ली, 1918 ई.।

68. ख़ज़ीन तुल असफ़िया – गुलाम सरवर लाहौरी, रचना 1282 हिज्री, नवल किशोर, 1320 हिज्री।

69. ख़ैरुलमजालिस – शेख़ नसीरुद्दीन चिराग़ देहलवी के उपदेश, संपादक:मौलाना हमीद क़लंदर (भूमिका-प्रो. ख़लीक़ अहमद निज़ामी) अलीगढ़।

70. खज़ाना-ए-आमरा – यात्रावृत्तांत इब्नेबतूता, संपादक:मौलवी अब्दुर्रहान, मक्तबा बुरहान, दिल्ली, 1948 ई.।

71. दोल रानी व ख़िज्र ख़ां – अमीर खुसरो, रचना 1316 ई. संपादन: मौलाना रशीद अहमद सालिम, अलीगढ़।
– इस पुस्तक में अमीर खुसरों ने गुजरात के राजा कर्ण की बेटी देवल देवी और अलाउद्दीन खिलज़ी के बड़े बेटे ख़िज्र खां के प्रेम का वर्णन किया है। हिंदी शब्दों को फ़ारसी लिपि में लिखना कठिन था इसलिए खुसरो ने देवल देवी को दोल रानी लिखा है।

72. दस्तूर उल इंशा – यार मुहम्मद ख़ां, (अठारहवीं शताब्दी की रचना), राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली।

73. दरिया-ए-लताफ़त – इंशा अल्लाह ख़ां इंशा, रचना 1808 ई. संपादक: मौलवी अब्दुल हक़, उर्दू अनुवाद: पंडित ब्रजमोहन दत्तात्रेय कैफ़ी देहलवी, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू दिल्ली 1935।

74. दस्तूर उल फ़साहत - सैयद अहमद अली ख़ां 'यक्ता', रचना 1798 ई. संपादक: इम्तियाज़ अली खां अर्शी, रामपुर 1943 ई.।
75. दो तज़्किरे - संपादक कलीमुद्दीन अहमद, पटना 1959 ई.।
76. दबिस्तान-ए-मज़ाहिब - लेखक का नाम अज्ञात, नवल किशोर कानपुर, 1906 ई.।
77. दलीलुल आरिफ़ीन - ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के उपदेश, अनुवाद: गुलाम अहमद ख़ां बिरयां, मुस्लिम प्रेस, दिल्ली, 1324 हिज्री।
78. दीवान-ए-वाक़िफ़ लाहौरी - नूरुल ऐन वाकिफ़ लाहौरी-पांडुलिपि, पुस्तकालय, जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली।
79. ज़िक्र-ए-मीर - उर्दू अनुवाद 'मीर की आपबीती', निसार अहमद फ़ारुखी, मक्तवा बुरहान, दिल्ली।
80. रियाजुल फरुहा - गुलाम हम्दानी मुसहफ़ी रचनाकाल, 1236 ई. संपादक मौलवी अब्दुल हक़जाय। बर्क़ी प्रेस दिल्ली, 1931 ई.।
81. रिक़आत-ए-मिर्जा क़तील - क़तील का पत्र-संग्रह, नवल किशोर, कानपुर, 1881 ई.।
82. रिसालाए-हक़नुमा - दाराशिकोह, नवल किशोर, 1898 ई.।
83. रोज़नामचा शाह आलम - राय टेकचंद, पांडुलिपि, पटना।
- राय टेकचंद ईस्ट इंडिया की ओर से शाह आलम बादशाह के दरबार में अख़बारनवीस के पद पर नियुक्त थे। इस रोज़नामचे में 1759 से 1806 तक की बातें दर्ज हैं।
84. रिसाला असद बेग - असद बेग (अकबर युग का लेखक), रोटोग्राफ़, अलीगढ़।
85. रिसाला मुहम्मद शाह व ख़ां दौरां खान - लेखक का नाम अज्ञात
- इस पुस्तक में सम्सामुद्दौला ख़ां दौरां ख़ान (ख़्वाजा मुहम्मद आसिम) के तफ़्सीली हालात दर्ज हैं।
86. सैरुल औलिया - सैयद मुबारक करनाली या मीर खुर्द (1319-1369 ई.), चिरंजी लाल एडीशन, महबुल हिंद, दिल्ली, 1302 हिज्री।
87. सैरुल मुताख़रीन - नवाब गुलाम हुसैन ख़ां तबातबाई, फ़ारसी संस्करण-मैडीकल प्रेस कलकत्ता, 1833 ई., उर्दू अनुवाद: मुंशी मोकल प्रसाद, नवल किशोर, लखनऊ, 1898 ई.
- इस पुस्तक की रचना 1783 ई. में हुई। इसमें औरंगजेब की मृत्यु तक की परिस्थितियों का लेखा-जोखा है।
88. सरा बस्तान - मौलवी खैरुद्दीन इलाहाबादी, रचनाकाल 1212 हिज्री, पांडुलिपि अब्दुस्सलाम कलैक्शन, अलीगढ़।
89. सफ़ीना-ए-हिंदी - भगवान दास हिंदी, रचनाकाल 1804 ई. संपादक: शाह मुहम्मद अता उर्रहमान अता काकवी, पटना, 1958।
90. सफ़ीना-ए-ख़ुशगो - बिंदरावन दास 'ख़ुशगो' (निधन 1180 हिज्री) संपादक: 'अता' काकवी, पटना, 1959 ई.।

91. सर्व-ए-आवाज़ - गुलाम अली आनाद बिलगरामी, रचना 1752-53 ई. हैदराबाद दक्कन, 1913।
92. सर चश्म-ए-तसव्वुफ़ - सईद नफ़ीसी, ईरान 1326 हिज्री।
93. सैरुल क़ताब - शेख़ उल्लाह दिया चिश्ती, नवलकिशोर, लखनऊ 1913 ई.।
94. सैरुल आरिफ़ीन - दरवेश जमाली, दिल्ली।
95. सफ़ीनातुल औलिया - दाराशिकोह, उर्दू अनुवाद:मुहम्मद अली लुत्फ़ी, नफ़ीस एकेडमी, कराची, 1961 ईं।
96. सकीनातुल औलिया - दाराशिकोह, पांडुलिपि, रामपुर।
97. सफरनामा आनंदराम मुख़लिस - आनंदराम 'मुख़लिस', संपादक:डा. सैयद अज़हर अली, हिंदुस्तान प्रेस, रामपुर, 1946 ई.।
98. सवान हे आज़म ख़ानी - मिर्ज़ा मुबारक उल्लाह उर्फ़ आज़म ख़ां, रचना 1752 ई. पांडुलिपि सुलेमान कलैक्शन, अलीगढ़।
99. शाह नामा - हकीम अबुल कासिम 'फ़िरदौसी', मुंशी नवल किशोर।
100. शजरातुल अनवार - मौलाना रहीम बख़्श फख्री, पांडुलिपि प्रो. ख़लीक़ अहमद निज़ामी की संपत्ति।
101. सहीफ़ा-ए-इक़बाल - लेखक अज्ञात (मुहम्मद शाह के युग की रचना) रोटोग्राफ़, अलीगढ़।
102. तब्क़ात-ए-अकबरी - निज़ामुद्दीन अहमद बख़्शी, अंग्रेज़ी अनुवाद: बी.डी.आई.सी.एस.
103. अय्यारुल शुअरा - ख़ूबचंद 'ज़का' रचना 1312 हिज्री, पांडुलिपि अंजुमन तरक्की उर्दू अलीगढ़।
104. इबरत नामा - मौलवी ख़ैरुद्दीन इलाहाबादी, रचना 1791 ई. पांडुलिपि, रामपुर।
105. अक़्द-ए-शरिया - गुलाम हम्दानी मुसहफ़ी, रचना 1199 हिज्री, संपादक: मौलवी अब्दुल हक़, 1934 ई.।
106. अतिया कबरा - सिराजुद्दीन अली ख़ां 'आरज़ू', रचना 1160 हिज्री, पांडुलिपि, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू अलीगढ़।
107. अवारिफ़ुल मुआरिफ़ - शेख़ शहाबुद्दीन सहरवर्दी, अनुवाद उर्दू:मौलाना अबुल हसन, नवल किशोर, लखनऊ 1860 ई.।
108. अमादुल सआदत - सैयद गुलाम अली ख़ां, मुंशी नवल किशोर, 1897 ई.।
109. फ़वायदुल फ़वाह - ख़्वाजा मीर हसन संजरी शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया के उपदेश, उर्दू अनुवाद इर्शाद महबूब, दिल्ली।
110. फ़तूहुल सलातीन - असामी, रचना 1349-50 हिज्री, संपादक:आगा मेहदी हुसैन, आगरा, 1938 ई.।
111. फ़तूहात-ए-फ़ीरोज़शाही - फ़ीरोज़शाह तुगलक, संपादक:प्रो. शेख अब्दुल रशीद, अलीगढ़, 1954 ई.।
112. फ़रामीन-ए-सलातीन - संपादक: बशीरउद्दीन अहमद, दिल्ली, 1926।

113. फ़खुल तालिबीन – सैयद नूरुद्दीन हुसैनी फ़खी, पांडुलिपि, प्रो. ख़लीक़ अहमद निज़ामी की संपत्ति।

114. फर्रुख़ नामा – शेख मुहम्मद मुईन ज़ाफ़राबादी, रोटोग्राफ़।

115. क़ौलुल जमील – शाह वली अल्लाह, उर्दू अनुवाद:कुतुबख़ाना रहीमिया, देवबंद, उ.प्र.।

116. कानून-ए-हुमायूंनी – ख़ाविंद मीर (निधन 1535 हिज्री) अंग्रेजी अनुवाद: डॉ बेनी प्रसाद, कलकत्ता, 1940 ई.।

117. कारनामा-ए-इश्क़ – आनंदराम मुख़लिस रचना, 1144 हिज्री, पांडुलिपि, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू अलीगढ़।

118. क़शफुल महबूब – शेख़ अली हजवेरी, उर्दू अनुवाद: मौलवी फ़ीरोजुद्दीन, फीरोज़ एंड संस लिमिटेड, करांची, 1963।

119. किताबुल हिंद – अल ब्रोरुनी, उर्दू अनुवाद:सैयद असगर अली, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू हिंद, 1941 ई.।

120. कलमात-ए-तैयबात – मिर्ज़ा ज़हर जान जानां और शाह वली उल्लाह के पत्र, आगरा, 1941 ईं.।

121. काशिफ़ुल अस्तार – सैयद हम्ज़ा, रचना, 1782 ईं.-पांडुलिपि अब्दुलसलाम कलैक्शन, अलीगढ़।

122.क़ल्मातुल शुअरा – मुहम्मद फ़ज़ल सरख़ुश, सं.-सादत अली दिलावरी।

123. कुल्लिआत-ए-बेदिल – मिर्ज़ा अब्दुल क़ादिर 'बेदिल' (निधन, 1133 हिज्री)

124. गुलदस्ता – मुंशी चंदर भान, पांडुलिपि सुबहानुल्लाह कलैक्शन, अलीगढ़।

125. मफ़्ताहुल तवारीख़ – अमीर ख़ुसरो, टीकाकार:शेख़ अब्दुल रशीद, अलीगढ़ यह पुस्तक जलालुद्दीन ख़िल्जी का इतिहास है।

126. मरातुल नवादिरुल मारुफ़ – बुलाकी दास, रचना 1226 हिज्री, पांडुलिपि मेहर इलाही साहब की संपत्ति, अलीगढ़।

127. मरात-ए-अकबर – अमीनुद्दीन ख़ां आलमगीरी, नवल किशोर प्रेस।

128. मुंतख़बुल तवारीख़ – मुल्ला अब्दुल क़ादिर बदायूंनी, उर्दू अनुवाद: मेहमूद अहमद फ़ारूकी, कराची, 1962 ईं.।

129. मुंतख़बुल लबाब – ख़ाफ़ी ख़ां (निधन 1731 ई.), अनुवाद: मौलवी कबीरुद्दीन अहमद, कलकत्ता, 1874 ई.
– ख़ाफ़ी ख़ां के पिता शाहजहां के बेटे मुराद बख़्श के मुलाज़िम थे। उसने अठारहवीं सदी के हालात का आंखों देखा हाल लिखा है।

130. मीरात-ए-आफ़ताबनुमा – शाह नवाज़ ख़ां, रचना 1176 हिज्री, पांडुलिपि लिटन फेहरिस्त फ़ारसिया।.

131. मासर-ए-आलमगीरी – मुहम्मद साक़ी मुस्तैद ख़ां (औरंगज़ेब युग का लेखक) अनुवाद: मौलवी मुहम्मद फ़िदा अली तालिब, कराची।

132. मुरक़्क़ा-ए-देहली – दरगाह क़ुली ख़ां, रचना 1151 हिज्री, हैदराबाद दक्कन।

133. मज्मा-ए-नग़ज - मीर कुदरुतुल्लाह क़ासिम, रचना 1806-07 ई., संपादक:महमूद ख़ां शीरानी, लाहौर, 1933 ई.।

134. मजालिस-ए-रंगीन - सआदत यार ख़ां 'रंगीन' (निधन 1835 ई.), संपादक: मसूद हसन रिज़्वी अदीब, लखनऊ।

135. मासर-उल-उमरा - नवाब सम्साद उद्दौला ख़ां, कलकत्ता, 1888 ई.।

136. मरातुल ईस्तलाह - आनंदराम मुख़लिस, रचना 1735 ई. पांडुलिपि अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू, अलीगढ़।

137. मासरुल कराम - गुलाम अली आज़ाद बिलगरामी, रचना 1753 ई., मुफ़ीद आम प्रेस, आगरा, 1910।

138. मख़्ज़न-ए-नुकात - शेख़ मुहम्मद क़यामुद्दीन क़ायम, रचना 1778, संपादक:मौलवी अब्दुल हक़, दक्कन 1929 ई.।

139. मिक़ालातुल शुअरा - क़यामुद्दीन हैरत, संपादक:निसार अहमद फ़ारुकी, अली मजलिस, दिल्ली।

140. मज्माउल बहरीन - दाराशिकोह, संपादक एम.महफूजुल हक़, कलकत्ता, 1929।

141. मख़्ज़नुल अशगाल - सैयद सुल्तान मुई उद्दीन बादशाह क़ादरी, पांडुलिपि अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू हिंद, अलीगढ़।

142. मल्फ़ूज़-ए-रज़ाकी - शाह अब्दुल रज़्ज़ाक बांसवी के उपदेश, संपादक: मुहम्मद ख़ां शाहजहांपुरी, मुज्तबाई प्रेस, लखनऊ।

143. मज्मूआ मल्फ़ूज़ात ख़्वाजगाने चिश्त - उर्दू अनुवाद: गुलाम अहमद ख़ां बिरयां, मुस्लिम प्रेस, दिल्ली।

144. मक्तूबात शेख़ शर्फुद्दीन याह्या मुनीरी - बिहार से प्रकाशित।

145. मक्तूबात इमाम रब्बानी - संपादक: मौलाना यार मुहम्मद जदीद बदख़्शी, नवल किशोर प्रेस।

146. मक्तूबात-ए-कलीमी - संपादक: मुहम्मद क़ासिम अली कलीमी, मत्बा यूसुफ़ी, दिल्ली, 1883 ई.।

147. मल्फ़ूज़ात-ए-शाह अब्दुल अज़ीज़ - शाह अब्दुल अज़ीज़ देहलवी के उपदेश, संपादक:काज़ी बशीरुद्दीन मेरठी, मत्बा मुज्तबाई, मेरठ।

148. मीरात-ए-मदारी - अब्दुर्रहमान चिश्ती, पांडुलिपि मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

149. मफ़्ताहुलतवारीख़ - मुंशी दानिश्वर साहब राय सलीम व टामस विलियम बैल, नवल किशोर, कानपुर 1867 ई.

150. मक़ामात-ए-मज़हरी - शाह गुलाम अली, मुज्बताई प्रेस, दिल्ली।

151. मामूलात-ए-मज़हरी - मौलवी नईमुल्लाह बहराइची, निज़ाम प्रेस, कानपुर, 1275 हिज्री।

152. मामूलात-ए-मज़हरी (ज़मीमा) - शाह अब्दुल गनी खलीफ़ा गुलाम अली, मुज्तबाई प्रेस, दिल्ली, 1892 ई.।

153. मकातीब-ए-मिर्ज़ा मज़हर – मज़हर जान जानां के पत्र, संपादक: अब्दुल रज़्ज़ाक कुरेशी, बम्बई, 1966 ई.।

154. मख़्ज़नुल अख़्लाक़ – दुर्गादास

155. मुनाक़िब-ए-रज़्ज़ाकिया ब मल्फूज़ाते – रज़्ज़ाकी, मुज्तबाई प्रेस लखनऊ।

156. मुनाक़िब-ए-फ़ख़िया – शाह फ़ख़ुद्दीन के उपदेश, पोडुलिपि प्रो. खलीक़ अहमद निज़ामी।

157. मंज़र नामा – करम अली, रचना 1772-73 ई., पांडुलिपि, पटना।
– यह बंगाल के नाज़िमों का इतिहास है।

158. मख़्ज़नुल ग़रायब या तज़्किरातुल शुअरा – अहमद अली हाशमी संदेलवी, रचना 1218 हिज्री, पांडुलिपि रामपुर।

159. नुकातुल शुअरा – मीर तकी 'मीर', संपादक:मौलवी अब्दुल हक़, द्वितीय संस्करण, दक्कन, 1937 ई.।

160. व सु पहर – हज़रत अमीर खुसरो, टीकाकार डा. वहीद मिर्ज़ा, कलकत्ता, 1948।

161. माला-ए-अंदलीब – ख़्वाजा मुहम्मद नासिर, शाहजहां प्रेस भोपाल।

162. नग्मातुल उस – मौलाना अब्दुर्रहमान जामी, नवल किशोर लखनऊ, 1918।

163. वज्द-ओ-समा – इमाम तीमिया मूल पुस्तक अरबी में है। इसका उर्दू अनुवाद मौलाना अब्दुल रज़्ज़ाक मलीहाबादी ने किया है।

164. वक़्का-ए-आलमशाही – कुंवर प्रेम किशोर फ़राक़ी, संपादक:इम्तियाज़ अली ख़ां अर्शी, हिंदुस्तान प्रेस रामपुर, 1949 ई।

165. वाक़्यात-ए-अज़फरी – मिर्ज़ा अली बख़्त बहादुर मुहम्मद ज़हीरुद्दीन अज़फ़री, संपादक: अब्दुल सत्तार, मद्रास, 1937
– मिर्ज़ा अली बख़्त, जहांदार शाह का पोता था। 1789 में दिल्ली से फरार, नौ साल मुर्शिदाबाद में ठहरा। वहां उसने अपना यात्रावृत्तांत लिखने का निश्चय किया। इस पुस्तक में 1806 तक का राजनीतिक इतिहास है।

166. वक़्का-ए-अब्दुल कादिर ख़ानी – अब्दुल क़ादिर ख़ां, संपादक:मौलवी मुईनुद्दीन फ़ज़लगढ़ी, कराची, 1960।
– अब्दुल क़ादिर ख़ां का जन्म रामपुर में हुआ। 1795 ई. में शिक्षा पूरी की फिर देशाटन किया। इसमें लेखक के आत्मकथात्मक संस्मरण हैं।

167. वसीयत नामा – शाह वली उल्लाह, हमीदी प्रेस दिल्ली, उर्दू अनुवाद जामिला मिल्लिया प्रेस करोल बाग, दिल्ली से प्रकाशित।

168. वक़्का-ए-आनंदराम मुख़लिस – आनंदराम मुख़लिस, पांडुलिपि अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू, अलीगढ़।

169. हफ्त तमाशा – मिर्ज़ा मुहम्मद हसन 'क़तील', रचना 1820 ई., नवल किशोर प्रेस, 1875 ई.।

170. हफ्त गुलशन मुहम्मद शाही – कामगार ख़ां, रचना 1718, रोटोग्राफ, अलीगढ़
– लेखक धर्मांतरण के बाद मुसलमान हुआ था। वह औरंगजेब के अंतिम दौर में सरकारी नौकर हुआ। बहादुर शाह ज़फ़र के शासन के दूसरे वर्ष शाहज़ादा रफी उल शान की सिफ़ारिश पर उसे कामगार ख़ां का खिताब दिया गया। 'हफ्त गुलशन' में 1720 से 1791 तक का भारतीय इतिहास है। इसमें भारत के सूफ़ियों और साधुओं की भी चर्चा की गई है।

उर्दू

1. आब-ए-हयात – मौलाना हुसैन आज़ाद, इसरार करीमी प्रेस, इलाहाबाद, 1967।
2. आसारूल सनादीद – सर सैयद अहमद ख़ां, सैंट्रल बुक डिपो उर्दू बाज़ार, दिल्ली, 1965।
3. उर्दू मस्नवी शुमाली हिंद में – डा. ज्ञान चंद, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू हिंद, अलीगढ़, 1969।
4. उर्दू-ए-मुअल्ला (सोज़ नंबर) – उर्दू विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
5. आब-ए-कैसर – शेख़ मुहम्मद इक़राम, फीरोज़ एंड संस लिमिटेड, कराची, 1966 ई.।
6. उमरा-ए-हनूद – मुंशी सैयद मुहम्मद सईद मारहवी, नामी प्रेस, कानपुर, 1910 ई।
7. ईरानब अहद सासानियान – प्रो. अर्थर क्रिस्टन सीन, अनुवाद डा. मुहम्मद इक़बाल।
8. अदबियात फ़ारसी में हिंदुओं का हिस्सा – सैयद अब्दुल्लाह, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू हिंद, दिल्ली, 1942।
9. बज़्म-ए-सूफ़िया – सबाहउद्दीन अब्दुर्रहमान, आजमगढ़, 1949 ई।
10. बुजुर्गान-ए-पानीपत – सैयद मुहम्मद मियां, दिल्ली, 1963।
11. बांग-ए-दरा – डा. मुहम्मद इक़बाल, दिल्ली 1969 ई।
12. बज़्म-ए-आख़िर – संपादक:मुंशी फैयाजुदीन, रहमानी प्रेस, दिल्ली, 1920 ई.।
13. पंजाब में उर्दू – मोहम्मद ख़ां शीरानी, मक्तबा कल्यान, वशीरत गंज, लखनऊ, 1960 ई.।
14. तज्किरा तब्कातुल शुअरा – मौलवी करीमुद्दीन पानीपती व फेलन, मत्लाउलउलूम मदरसा दिल्ली, 1848।
15. तारीख़-ए-अवध – मौलवी नज्मुलगनी रामपुरी, नवल किशोर, 1919 ई.।
16. तारीख़-मशायख़-ए-चिश्त – प्रो. खलीक़ अहमद निज़ामी, नदवातुल मुसन्नफीन, दिल्ली, 1953 ई।

17. तज़्किरा सूफ़िया-ए-सिंध - ऐजाजुल हसन क़िदवाई, उर्दू एकेडमी, कराची, 1959 और नवल किशोर प्रैस, लखनऊ।

18. तज़्किरा-उल्मा ए-हिंद - रहमान अली, मुंशी नवल किशोर, लखनऊ, 1914।

19. तज़्किरा लाल शाहबाज़ कलंदर - ख़लीफ़ा फ़तह मुहम्मद, लाहौर।

20. तक्वीयतुल ईमान - शाह इस्माईल शहीद, उर्दू अनुवादः राशिद कंपनी, देवबंद।

21. तारीख़ सालार मसूद गाज़ी - मुज्तुबाई प्रेस, लखनऊ।

22. तारीख़ हिंद कुरुने वस्ता जिल्द दोम - क़ारी मुहम्मद बशीर उद्दीन पंडित, मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ़, 1949ई।

23. तारीख़ मक़ालात - प्रो. ख़लीक़ा अहमद निज़ामी, नदवातुल मुसन्नफ़ीन, दिल्ली, 1966।

24. तज़्किरा ख्वाजा मेसूदराज- संपादकःइकबाल उद्दीन अहमद, इकबाल पब्लिशर्स, कराची, 1966।

25. हयात-ए-खुसरो - सैयद अहमद मारहरवी, आगरा, 1321 हिज्री।

26. हयात-ए-सैयद अहमद बरेलवी - मौलाना गुलाम रसूल महर, किताब मंज़िल, कश्मीरी बाज़ार, लाहौर।

27. हयात-ए-जावेद - ख़्वाजा अल्ताफ़ हुसैन हाली, रोद प्रेस, कानपुर, 1901 ई।

28. हयात-ए-तैयबा - मिर्ज़ा-हैरत देहलवी, लाहौर 1958।

29. दीवान-ए-फ़ायज़ - नवाब सदरुद्दीन मुहम्मद ख़ां फ़ायज़ देहलवी, संपादकः मसूदहसन रिज़्वी अदीब, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू हिंद, दिल्ली।

30. दीवान-ए-शाकिरनाजी - मुहम्मद शाकिरनाजी-संपादकःडॉ. फज्लुलहक़, इदारासुबह अदीब, दिल्ली, 1968।

31. दीवान-ए-मुसहफ़ी - मुसहफ़ी, आठ जिल्दें पांडुलिपि ख़ुर्शीदुबख़्श लायब्रेरी, पटना।

32. दीवान-ए-क़ायम -क़यामुदद्दीन क़ायम चांदपुरी, संपादकःखुर्शीदुल-सलाम, जामिया लिमिटेड, दिल्ली, 1963।

33. दीवान-ए-महजूर - सदरुद्दीन महजूर, हस्तलिखित, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू हिंद, अलीगढ़।

34. दीवान-ए-हसरत - जाफ़र अली हसरत लखनवी, हस्तलिखित, रज़ा लायब्रेरी, रामपुर।

35. दीवान-ए-ज़फ़र - बहादुर शाह ज़फ़र, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, 1870।

36. दिल्ली की चंद अजीब हस्तियां - अशरफ सबूही देहलवी, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू हिंद, दिल्ली 1943 ई।

37. दीवान-ए-ज़ादा - शेख मुहम्मद हातिम, हस्तलिखित पांडुलिपि, अब्दुस्सलाम कलैक्शन, अलीगढ़।

38. दीवान-ए-ताबां - ताबां देहलवी, संपादकः मौलवी अब्दुल हक़, औरंगाबाद दक्कन, 1935 ई.।

39. दीवान-ए-जोशश - मियां मुहम्मद रोशन जोशश अज़ीमाबादी, संपादक:काज़ी अब्दुल वदूद, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू हिंद, दिल्ली, 1941।
40. दीवान-ए-शाह कमाल - शाह कलामुद्दीन हुसैन कमाल, हस्तलिखित, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू हिंद, अलीगढ़।
41. दीवान-ए-जुरअत - क़लंदर बख़्श जुरअत, संपादक:डा. इक्तिादार अहसन।
42. दीद-ओ-दरयाफ़्त - निसार अहमद फ़ारुखी, आज़ाद किताबघर, दिल्ली, 1964।
43. दीवान-ए-यक़ीन - इनामुल्लाह ख़ां यक़ीन (निधन 1169हिज्री)
44. दीवान-ए-दर्द - संपादक डॉ. जहीर अहमद सिद्दीकी दिल्ली, 1963।
45. दीवान-ए-जहांदारशाह - शहज़ादा जहांदारशाह, संपादक:डा. वहीद कुरेशी, लाहौर 1966।
46. दरबार-ए-अकबरी - संपादक:शेख मुहम्मद करीम व डा. वहीद कुरेशी, लाहौर।
47. दिल्ली की शाम - अहमद अली, अनुवाद:बिल्कीस जहां, मक्तबा जामिया लिमि., 1968 ई।
48. रसूम-ए-देहली - सैयद अहमद देहलवी, रामपुर, 1965।
49. रोद-ए-कोसर - शेख मुहम्मद इकराम, फीरोज एंड संस कराची, 1958।
50. रजब अली बेग सुरूर हयात व कारनामे- नैयर मसूद रिज़्वी, लखनऊ, 1967।
51. सीरतुन्नबी - मौलाना शिबली आजमगढ़, 1341 हिज्री।
52. सलक-ए-गौहर - इंशा अल्लाह खां इंशा, संपादक:इम्तियाज़ अली खां अर्शी, रामपुर 1948।
53. सलातीन देहली के ज़हनी रुझानात - प्रो. खलीक़ अहमद निज़ामी, नदवातुल मुसन्नफीज़, दिल्ली, 1958।
54. सुहागन नामा - ख़्वाजा रहमतुल्लाह, हस्तलिखित पांडुलिपि, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू अलीगढ़।
55. सआदत यार ख़ां रंगीन - डा. साबिर अली ख़ां, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू, पाकिस्तान, कराची, 1956।
56. सीरत-ए-फ़रीदिया - सर सैयद अहमद ख़ां, संपादक:महमूद अहमत बरकाती, पाक एकेडमी, 1964।
57. शबाब-ए-लखनऊ - मुहम्मद अहमद अली
58. शहर-ए-आशोब - डॉ. नईम सिद्दीकी, मक्तवा जामिया लिमिटेड, दिल्ली, 1968।
59. सरातुल मुस्तक़ीम - शाह इस्माईल शहीद, उर्दू अनुवाद-देवबंद, उ.प्र.।
60. अरब और इस्लाम - प्रो. फिलिप के उर्दू अनुवाद: प्रो. सैयद मुबारज उद्दीन, नदवातुल मुसन्नफीज़, दिल्ली 1959।
61. ग़दर के चंद उल्मा - मुफ्ती इम्तियाजुल्लाह सहवाई, दिल्ली।
62. फ़ारसी अदब अहदे औरंगजेब - डा. नूरुल हसन अंसारी, इंडो-पर्शियन सोसाइटी, 1969।
63. फ़िसाने-आज़ाद - पंडित रतननाथ सरशार, नवल किशोर, लखनऊ।

64. कुल्लियात-ए-मीर - मीर तक़ी 'मीर', नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, 1941।
65. कुल्लियात-ए-हिदायत - गुलाम हुसैन हिदायत, हस्तलिखित, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू, अलीगढ़।
66. कुल्लियात-ए-सौदा - मुहम्मद रफी सौदा, संपादकः अब्दुल बारी आसी, नवल किशोर प्रेस, 1933।
67. कुल्लियात-ए-इंशा - इंशा अल्लाह ख़ां इंशा, नवल किशोर प्रेस।
68. कुल्लियात-ए-क़ासिम - हकीम मीर कुदरतुल्लाह क़ासिम देहलवी, हस्तलिखित पांडुलिपि, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू, अलीगढ़।
69. कुल्लियात-ए-नज़ीर अकबराबादी - संपादकः अब्दुल बारी आसी, नवल किशोर प्रेस, 1951।
70. क़सामद-ए-जौक़ - शेख, इब्राहीम ज़ौक़, लखनऊ 1934 ई।
71. गौतम बुद्ध - डा. हफ़ीज़ अहमद, दिल्ली, 1942 ई।
72. गुज़िश्ता लखनऊ - अब्दुल हलीम शरर, नसीम बुक डिपो, लखनऊ।
73. मज्मूआ-ए-मस्नवीयात मीर हसन देहलवी - संपादकःअब्दुल बारी आसी, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ 1945।
74. मुसहफ़ी और उनका कलाम - डॉ. सिद्दीकी, दिल्ली, 1969।
75. मेव क़ौम और मेवात - चौधरी मुहम्मद अशरफ़ ख़ां, सूद लिथो प्रेस, दिल्ली।
76. मुख़्तसर तारीख़ अदब उर्दू - सैयद ऐजाज़ हुसैन ऐजाज़, इलाहाबाद, 1935।
77. मसायला - सआदतयार ख़ां रंगीन, हस्तलिखित पांडुलिपि, सुलेमान कलैक्शन, अलीगढ़।
78. मिर्ज़ामिज़हर जान जानां के खुतूत - अनुवादकः डॉ. खलीक़ अंजाम, मक्तबा वुरहान, दिल्ली, 1964।
79. नस्ल और सल्तनत - अज़ीज़ अहमद, दिल्ली, 1141।
80. नादिरात-ए-शाही - शाह आलम सानी, संपादक इम्तियाज़ अली अर्शी, हिंदुस्तान प्रेस, रामपुर।
81. तस्हीतुल मुसलमीन - मौलवी ख़ैर उद्दीन, रचना 1237 हिज्री, हस्तलिखित पांडुलिपि, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू, अलीगढ़।
82. वाक्याते दारुल हुकूमत-ए-देहली - बशीर उद्दीन अहमद, आगरा, 1919।
83. वक़्क़ा-ए-सिरी राम - मुंशी सिरी राम कायस्थ माथुर, जौहर हिंद प्रेस, दिल्ली, 1943।
84. हिंदुस्तानी मौसीक़ी - मुफ़्ती फ़खुल इस्लाम, इदारा अनीस उर्दू, इलाहाबाद।
85. हश्त बहिश्त - संपादकः मौलाना सैयद सुलेमान अशरफ़, इंस्टीट्यूट प्रेस, अलीगढ़ कॉलेज, 1918 ई।
86. हफ़्त कुलजुम - मुंशी गौरी शंकर, सितारा हिंद प्रेस, दिल्ली, 1879 ई।
87. हिंदू त्यौहारों की असलियत - मुंशी राम प्रसाद, मत्बा मुंशी रघुनाथ प्रसाद गोरे, लखनऊ।
88. हिंदुस्तान का कदीम तमद्दुन - डा. बेनी प्रसाद, अनुवादकः मौलवी असग़र हुसैन, हिंदुस्तानी एकेडमी उ.प्र., इलाहाबाद।
89. यादगार-ए-ग़ालिब - ख़्वाजा अल्ताफ़ हुसैन 'हाली', लाहौर 1963 ई।
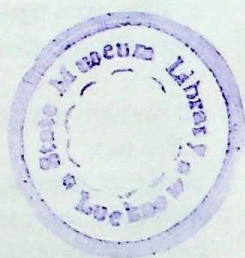
"डा. मुहम्मद उमर, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, जामिया कॉलेज, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली का आपसे परिचय कराते हुए मुझे बड़ी खुशी है। मुस्लिम तहज़ीब, धार्मिक विश्वास और सामाजिक रीति-रिवाजों को प्रभावित करने वाले इतिहास के विभिन्न पहलुओं का उन्होंने गहराई से अध्ययन किया है। उन्होंने उन तथ्यों को भी उजागर कर दिया है जिनसे मुसलमानों के जीवन के लगभग हर पहलू में सांस्कृतिक दृष्टि से परिवर्तन उपस्थित हुआ है।

"मेरी दृष्टि में डा. उमर का यह कार्य मध्यकालीन इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ने की हैसियत रखता है। साथ ही आधुनिक युग के हमारे जीवन के नए रूपों को परखने की दिशा में यह पुस्तक हमारा मार्ग-दर्शन करती है। यदि इस पुस्तक को प्रकाशित कर दिया जाए तो इसके अध्ययन से भारत के अतीत का गौरव और ज्यादा उजागर हो जाएगा और राष्ट्रीय एकता के काम में इसकी बड़ी मदद मिलेगी। ऐसी बहुत सी भ्रांतियां और उलझनें, जो हमारे मन और मस्तिष्क को परेशान करती हैं और जो हमारे पारस्परिक सौहार्द और भाईचारे के विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती हैं, इस पुस्तक के अध्ययन से दूर हो जाएंगी।

"मेरा विचार है कि पारस्परिक सौहार्द, मेल-जोल और राष्ट्रहित के मार्ग को प्रशस्त करने वाली पुस्तक के प्रकाशन का काम हमारे सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग के कार्य क्षेत्र में आता है।

"डा. उमर की यह पुस्तक निस्संदेह एक धैर्यपूर्ण शोध-कार्य का उदाहरण है और इसका मूल्य व महत्व निर्विवाद है। मुझे उम्मीद है कि आप सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग की ओर से इस पुस्तक को प्रकाशित करने की सिफारिश करेंगी।"

– ताराचंद